58 अक्तूबर-दिसंबर 1994: मूल्य 15 रुपए

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की त्रैमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य

साहित्य अकादेमी की त्रैमासिक पत्रिका

वर्ष 15 अंक 58 : अक्तूबर-दिसंबर 1994

संपादक मंडल

यू.आर. अनंतमूर्ति

रमाकांत रथ

इंद्रनाथ चौधुरी

संपादक

गिरधर राठी

त्रैमासिक
समकालीन भारतीय साहित्य
वर्ष 15 अंक 58 : अक्तूबर-दिसंबर 1994

प्रकाशक : साहित्य अकादेमी
रवीन्द्र भवन, 35 फ़ीरोज़शाह मार्ग
नई दिल्ली 110001
फ़ोन : 386626, 386621, 386623
386088, 387064
तार : साहित्यकार
टेलेक्स : 31/65445 सैंड इन
फ़ैक्स : 091-11-382428

© सर्वाधिकार सुरक्षित
प्रकाशित सामग्री के उपयोग के लिए लेखक, अनुवादक एवं साहित्य अकादेमी की स्वीकृति आवश्यक है।
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से साहित्य अकादेमी, संपादक मंडल या संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं है।

आवरण एवं भीतर के रेखाचित्र : **गोपी गजवानी**

मूल्य 15 रुपए

शुल्क-दर : एक वर्ष 50 रुपए : तीन वर्ष 135 रुपए
हवाई डाक : एक वर्ष 28 डॉलर/15 पौंड : तीन वर्ष 75 डॉलर/40 पौंड
समुद्री डाक : एक वर्ष 10 डॉलर/6 पौंड : तीन वर्ष 25 डॉलर/15 पौंड

शुल्क इस पते पर भेजें (केवल मनीऑर्डर, ड्राफ्ट या नकद) :

सचिव, साहित्य अकादेमी,
विक्रय विभाग, 'स्वाति', मंदिर मार्ग, नई दिल्ली 110001
फ़ोन : 3735297

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA:
A quarterly journal of Indian Literature from 22 languages in Hindi, published by Sahitya Akademi, Rabindra Bhavan, 35 Ferozeshah Road, New Delhi-110001, India.

समकालीन भारतीय साहित्य

वर्ष 15 अंक 58 : अक्तूबर-दिसंबर 1994

संपादकीय : अद्यतन / 5

कहानी

तकषी शिवशंकर पिल्लै : तलाक़ (मलयाळम) / 7
श्यामल गंगोपाध्याय : दख़ल (बाङ्ला) / 10
ताराशंकर बंद्योपाध्याय : अग्रदानी (बाङ्ला) / 22
प्रेम प्रकाश : बापू (पंजाबी) / 34
चंद्रशेखर रथ : साल का एक मौसम : मौसम के तीन दिन (ओड़िया) / 41
आनंदराव लिंगायत : कोंपल फूटी (गुजराती) / 48
अवतार कृष्ण राज़दान : दिल उछला देखने (कश्मीरी) / 54
आर.पी. लामा : साल का चाढ़ (नेपाली) / 57
बंधु शर्मा : मीनार, दरिया और राजनाथ (डोगरी) / 60
धूमकेतु : भैया दूज (मैथिली) / 65
गुरदयाल सिंह : निद्राई आँखें (पंजाबी) / 70
चासो : एलूरू जाना है (तेलुगु) / 75
रा.वि. शास्त्री : बारिश (तेलुगु) / 80

कविता

सुनील गंगोपाध्याय : अलविदा; आसान (बाङ्ला) / 87
के. अय्यप्प पणिक्कर : वीडियो मौत; वृद्धजन-प्रयोजनम्? (मलयाळम) / 90
के.जी. शंकर पिल्लै : तिरस्कार; तरह-तरह के पोज़ के फ़ोटो (मलयाळम) / 93
नीलमणि फूकन : यहीं से पानी (असमिया) / 98
हरप्रसाद दास : अक्षय; देह; नया साल (ओड़िया) / 99
मनोरमा महापात्र विश्वाल : किसकी प्रतीक्षा करेगी कादंबिनी (ओड़िया) / 101
अमरेश पटनायक : ठेकेदार (ओड़िया) / 102
जयशंकर त्रिपाठी : नदी करुणावती (संस्कृत) / 104
निरुपमा दत्त : सीख लिया है; कुछ नहीं बदलता (पंजाबी) / 107
अमरजीत चंदन : किसी भी साज़ का नाम लो; याद (पंजाबी) / 108

सुखचैन मिस्त्री : गाँव : जंग की एक शाम (पंजाबी) / 109
नारायणजी : पृथ्वी ऊँची होती जा रही है (मैथिली) / 110
नासिर अहमद सिकंदर : इस वक़्त मेरा कहा मानो (हिन्दी) / 111
अजय प्रकाश : कविता (हिन्दी) / 112
विवेक निराला : शब्द (हिन्दी) / 113
हरिओम राजोरिया : सुरसुरी (हिन्दी) / 114
अंशु मालवीय : यह बच्चा किस पर गया है (हिन्दी) / 115
गोविन्द द्विवेदी : आलेख (हिन्दी) / 117
रमेश थानवी : बर्फ़ (हिन्दी) / 118
रवीन्द्र भारती : दरवाज़ा (हिन्दी) / 118
विजय कुमार : ओह, ये कमबख़्त लड़कियाँ (हिन्दी) / 119
हेमंत शेष : रात (हिन्दी) / 120
लाल्टू : भाषा : एक; भाषा : दो (हिन्दी) / 121
श्रीगोपाल जैन : सृजना छंद (हिन्दी) / 123
मरुधर मृदुल : जन्मदिन (हिन्दी) / 124
अजीत चौधरी : जागरण हो अर्थवान; आँखें जगह लेती हैं; जहाँ रुकती नहीं रेलगाड़ियाँ (हिन्दी) / 126

संवाद

कृष्णा सोबती से रणवीर रांग्रा की बातचीत : सर्वोपरि है लेखक की ईमानदारी / 129

किताबें

ललित कार्तिकेय : 'एतद् वै तत्' के 'नेति नेति' होने पर. . . / 141
जयदेव तनेजा : नेमिचंद्र जैन की रंग-दृष्टि / 146
मोहन थपलियाल : नई भूमियों की खोज : तीन हिन्दी उपन्यास / 152
धर्मपाल अकेला : विदेशी अनुवाद : हमारी अपेक्षाएँ / 155
डॉ. माहेश्वर : रचना का सच और सच को रचना / 162
गोविन्द सिंह : विस्मृत विधाएँ : कुछ उल्लेख्य किताबें / 167
विष्णुचंद्र शर्मा : निधन-सूचना या विरासत की खोज / 175
गिरिराज किशोर : स्त्री मन की सार्थक पहचान / 179
प्रियदर्शन : वह आदमी की भाषा में ज़िन्दा रहे, बस! / 182
मिथिलेश श्रीवास्तव : नैतिकता का आग्रह करती कविताएँ / 188
संजीव आनंद : सात कवि हिन्दी के / 193

इस अंक के रचनाकार / 196

अद्यतन

यों तो बड़े आकार के 200 पृष्ठ किसी पत्रिका के लिए कम नहीं होते, लेकिन *समकालीन भारतीय साहित्य* जिस तरह की पत्रिका है उस के लिए वर्ष में केवल चार ऐसे अंक 22 भारतीय भाषाओं और पचासों विधाओं, प्रवृत्तियों, बहसों और नई खोज-ख़बरों के लिए क्या हैं! अपनी इन दुर्निवार सीमाओं के भीतर ही पिछले पंद्रह वर्षों से यह पत्रिका जो कुछ कर पा रही है, उसे मिलने वाली सराहना संतोष का निमित्त भले ही हो, संतुष्टि का कदाचित् नहीं।

प्रस्तुत अंक को तेलुगु साहित्य पर केन्द्रित करने की हमारी इच्छा स्थगित हो गई, क्योंकि ऐसी सामग्री अभी नहीं जुटाई जा सकी जो इस महत्त्वपूर्ण भारतीय भाषा के साथ न्याय कर सके। अब 1995 का दूसरा या तीसरा अंक तेलुगु पर केन्द्रित होगा। अगले पूरे वर्ष में हमारी यह चेष्टा भी रहेगी कि बाक़ी तीनों अंकों में एक-एक खंड में किसी एक भाषा की एक या दो विधाओं की चुनी हुई रचनाएँ दें। ऐसा हम पहले भी करते ही रहे हैं।

इस अंक में पाठक कुछ बहुत अच्छी कहानियाँ पाएँगे, जिन में तेलुगु के दो विख्यात कथाकारों—चासो तथा रा.वि. शास्त्री की कहानियाँ भी हैं और जिन का हाल ही निधन हुआ है। कविता खंड में अनेक विख्यात कवियों के साथ-साथ कुछ बिल्कुल नए हस्ताक्षर हैं। हिन्दी की बल्कि भारत की मूर्धन्य रचनाकार कृष्णा सोबती के साथ वयोवृद्ध आलोचक रणवीर रांग्रा की बातचीत लेखन के अनेक रहस्यों का खुलासा करती है, और इस अंक में किताबों की चर्चा विशेष रूप से है—अनेक उल्लेख्य नई कृतियों पर कुछेक समीक्षकों की नई चिन्तन-दृष्टि निश्चय ही हमारे पाठकों को सुखद लगेगी।

अपने पाठकों का ध्यान हम पुनः चिन्तन-भूमि स्तंभ तथा उन आलेखों की ओर खींचना चाहेंगे, जिन में निरंतर बुनियादी सवालों पर नए ढंग से सोच-विचार हुआ है। आज की दुनिया में जारी वैचारिक उथल-पुथल, चुनौतियाँ और हमारे लिए संभव कुछेक उत्तर इन आलेखों में हमें मिले हैं। कभी-कभी कुछ अपरिचित शब्दों का प्रयोग हमारे कुछ पाठकों को भारी लगता है। लेकिन सोच-विचार से अगर भय न हो तो इन नए प्रत्ययों/शब्दों से भी भय नहीं होना चाहिए। दरअसल भाषा को बिल्कुल मामूली रोज़मर्रापन के सौ-पचास शब्दों में क़ैद कर देने की जो बेहूदा माँग गाहे-ब-गाहे सुन पड़ती है, उस पर अगर पाठक ग़ौर करें तो पाएँगे कि तथाकथित सरल भाषा एक निहायत दरिद्र भाषा है। अपनी भाषा से जिन्हें प्रेम है, वे लोकसमाज, शहर-देहात, शास्त्र-साहित्य, देश-विदेश के ऊर्जा-जल से अपनी भाषा की जड़ें पुष्ट करने में तत्पर ही होंगे, विरत नहीं। कोरी मानसिक क़वायद के लिए नहीं, लेकिन बाह्य और अंतरंग संसार के पेच-ओ-ख़म समझने के लिए, उन्हें सटीक अभिव्यक्ति देने के लिए और इस तरह भाषा-साहित्य-जीवन को समृद्ध करने के लिए ज़रूरी है कि भाषा अपनी मूल प्रकृति को बरक़रार रखते हुए अपनी आँखें और कान खुले रखे। जिस तरह अल्पज्ञता कोई गुण नहीं, उसी तरह एकल विशेषज्ञता भी अब हमारे निकट अतीत की सनक मात्र दीखती है। भाषा-विज्ञान, जैविकी, नृतत्व, संगीत, सूचना-तंत्र इत्यादि विभिन्न और सैकड़ों विद्याओं का आपसी लेन-देन हमारे आज के समय की एक ख़ास विशेषता है। इसे नज़रंदाज़ कर केवल कुछ दायरों में सिमट जाना अब सुरक्षा और सुकून दे सकेगा, इस में शक है। भावात्मक-रागात्मक संवेगों के साथ-साथ बौद्धिक इत्यादि हलचलों को भी पहचानना साहित्य का काम है। इसी विश्वास से साहित्य की सीमाओं में ही हम ज्ञान-विज्ञान और अनुसंधान के नए क्षितिजों की ओर अपने पाठकों के साथ खड़े हो कर देखना चाहते हैं।

—गिरधर राठी

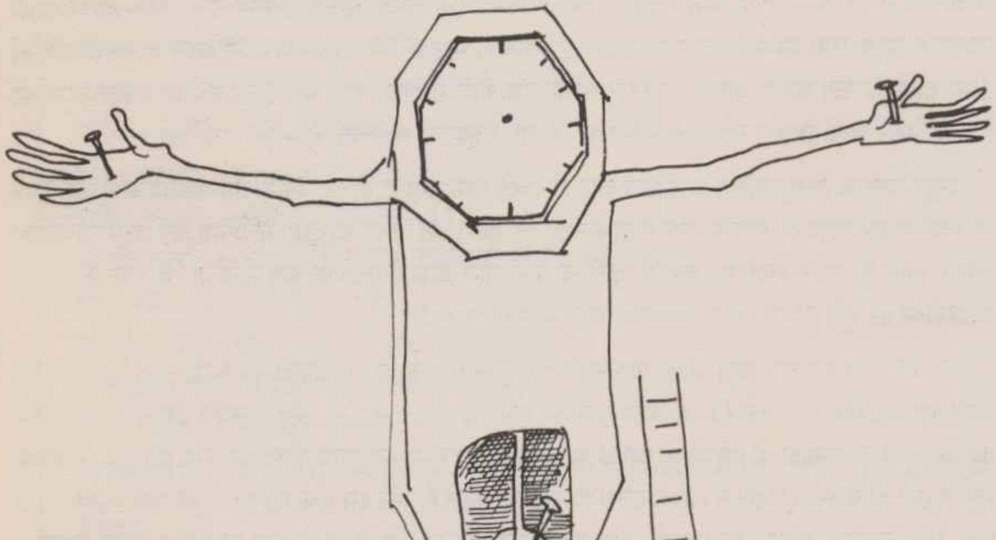
GOPI
GAJWANI

तकषी शिवशंकर पिल्लै

तलाक़

जब मैं घर वापस आया, मुझे बड़ी भूख लग रही थी। मेरी घरवाली तो दूसरी तरफ़ पास-पड़ोस से आ कर जमा हुई औरतों से मिल कर किसी महत्त्वपूर्ण मामले की पैरवी करने में लगी हुई थी। वे बड़े जोश-ख़रोश के साथ बहस कर रही थीं। मैं ने अपनी घरवाली को आवाज़ दी। उस ने जवाब भी दिया। मगर आई नहीं। बड़े महत्त्व की बहस चल रही थी। शायद पैरवी के हर पहलू पर अभी पूरी बहस हो नहीं पाई थी। तीन-चार बार आवाज़ दी तभी वह हिली। उस का जोश-ख़रोश अब भी चेहरे पर झलक रहा था। वह किसी विद्वेष का जैसे प्रतीकार कर रही थी।

मेरी घरवाली के लिए, इस घटना के सामने, मेरी भूख किसी महत्त्व की चीज़ नहीं रही। चलते-चलते वह बोलती जा रही थी, 'वह हमारी नाणी है न', यहाँ मजूरी करके जिस ने नमक-मिर्च और नारियल चावल सब चुरा-चुरा कर बेच डाला था, वह अपने मर्द के साथ आई है। वही झगड़ा कर रही है। उस ने यहाँ से बना-बनाया चावल भी निकाल कर बेच डाला था न, मैं गिना-गिना कर उस से पूछ रही थी।'

उस का कुछ महत्त्व मुझे नहीं सूझ रहा था, मैं ने कहा, 'मुझे भोजन दे दो, भूखा हूँ।'

उस ने कहा, 'उस की ज़रा तै करके तब खाते। बहुत औरतें जमा हैं। कोई उस की तरफ़दारी करने वाली नहीं है। सब उस के ख़िलाफ़ हैं। वह इतनी ख़राब है।'

बीच में वह पैसा सूद पर दिया करती थी। पास-पड़ोस की औरतों को, दो-दो तीन-तीन रुपए, रुपए पीछे दस पैसे सूद पर वह देती थी। इस बात पर रोज़ झगड़ा होता था। वह सब औरतें वहाँ जमा हुई थीं। सारा का सारा क़िस्सा घरवाली के मुँह से मैं ने सुन लिया। पिछले मेले के दिनों में मैं ने सुना था, वह एक सोने की ज़ंजीर ख़रीदने गई थी। जो हो, भोजन हो जाने पर पैरवी सुन लेने का मेरा इरादा था। घरवाली ने आज मेरे पास रह कर मुझे भोजन नहीं कराया। बीच-बीच में दौड़ कर वह मेरे पास आ जाती। उस तरफ़ औरतें उसे चारों ओर से घेर कर ठोंक रही थीं, जैसे रानी-कौए को कौए घेर कर ठोंकने लगते हैं। इतने में घरवाली ने आ कर कहा :

'उस कुलच्छनी की बात सुन ली, कहती है कि यहाँ की पंचायत नहीं चाहिए। मैं तो उस से नफ़रत रखती हूँ। इसलिए यहाँ से जो फ़ैसला होगा, उस के ख़िलाफ़ होगा।'

उस ने आगे कहा :

'उस का मर्द तो भलामानुस है। वह अपनी बात पर डटा हुआ है। यहाँ से इस का फ़ैसला हो, तभी वह मानेगा। फ़ैसला कुछ भी हो, वह मान जाएगा, यही उस का कहना है।'

भोजन हो चुका, तो मैं ने उन को बुला भेजा। किसी घमासान झगड़े का चित्र मेरे मन में खिंचा हुआ था। घरवाली का जोश देख लेने पर ऐसा सूझा था। लेकिन उन को प्रत्यक्ष देखने पर ऐसा लगा कि इस में कोई बड़ी बात नहीं है। वह गर्भवती है। कोई आठ महीने का है। मैं ने उस से पूछा :

'क्यों जी, क्या बात है।'

'ओह कुछ नहीं।' वह बोला।

'तब?'

'तलाक़ करने की बात है।'

तलाक़ करना बिल्कुल हल्क़ी बात है। मैं ने पूछा :

'किस को तलाक़ करना है।'

'हमें, एक दूसरे से।'

'यह गर्भवती है न?'

वह बोला :

'इस में कोई हर्ज़ नहीं।'

'फिर किस में हर्ज़ है?'

'झगड़ा तो इस बात को ले कर हो रहा है कि तलाक़ का ख़र्चा कौन करे।'

मैं ने पूछा :

'किस की इच्छा पर यह तलाक़ होने जा रहा है?'

'दोनों की।'

मैं ने राय दी :

'तब दोनों मिल कर ख़र्चा करें।'

वह बोला :

'मेरे पास एक पैसा तक नहीं। यही नहीं, यह शादी मेरी इच्छा से हुई भी नहीं थी।'

अब उस औरत की बारी आई। वह बोली :

'मेरे पास दस-पचास रुपया था। इस शख़्स ने घर ही पर बैठे-बैठे सब कुछ खा डाला। अब मेरे पास पैसा भी नहीं बचा है। कहीं अनाथालय में जा कर प्रसव कराना होगा।'

उस ने भी यही कहा कि हाथ में पैसा नहीं है। यह भी सच जँचा। वह बड़ा कामचोर था। किसी काम पर नहीं जाता था। कोई उसे काम करने के लिए बुलाता भी नहीं था। न जाने क्यों मेरा मन उस गर्भिणी की तरफ़ ज़रा-सा झुक पड़ा। मैं ने कहा :

'अरे, बीस रुपए लगेंगे। तुम ही ख़र्च करो। मर्द हो न; इतना ख़र्च करने पर भी तुम्हें नफ़ा ही होगा।'

मेरी घरवाली को मेरा फ़ैसला अच्छा न लगा। उस का चेहरा बता रहा था कि मेरा फ़ैसला अच्छा नहीं हुआ। किवाड़ के परदे में औरतें छुप कर खड़ी थीं, उन्हें भी मेरा फ़ैसला अच्छा नहीं लगा। भुनभुनाहट सुनाई पड़ रही थी।

यह साफ़ था कि मेरा फ़ैसला उस मर्द को कुछ बुरा नहीं लगा। वह बोला :

'मुझ से पैसा नहीं बनेगा। यही बात है। बीस रुपया उधार दें। मजूरी करके चुका दूँगा। यहीं मजूरी करूँगा।'

मेरी घरवाली को उस का उधार माँगना अच्छा लगा। मेरे अन्यायपूर्ण फ़ैसले की सज़ा मुझे ठीक ही मिल रही है। उस का विचार था कि ऐसा ही होना चाहिए। मैं परेशानी में पड़ गया, यह देख कर अन्य औरतों को भी मज़ा आ रहा था। मेरी घरवाली ने कहा :

'अच्छा ही हुआ।'

उस गर्भिणी ने आश्वासन पाया। मैं ने उस मर्द से कहा :

'किसी भी तरह तुम पैसा जमा करो। आगे तुम्हीं को खाना-कमाना पड़ेगा न।'

वह बोला कि उस से नहीं बनेगा।

जो हो, उसी को ज़िम्मेदार बना कर मैं ने फ़ैसला कर दिया।

दो सप्ताह के बाद मैं ने सुना कि तलाक़ हो गया। उस औरत ने पैसा जमा किया था। दो महीने के बाद घरवाली ने एक दिन मुझे बताया :

'उस नाणी का बच्चा है न, किसी दूसरे मर्द के जैसा है। इसी वजह से वह मर्द कह रहा था कि वह शादी उस की इच्छा से नहीं हुई थी।'

मलयाळम से अनुवाद : **पी.जी. वासुदेव**

श्यामल गंगोपाध्याय

दख़ल

कलकत्ते से सत्तर किलोमीटर दूर जहाँ जा कर रेलवे-लाइन ख़त्म हो जाती है वहाँ कुछ स्टीमर लाँच हैं जो न होने के बराबर ही हैं। इतनी नदियों और नहरों के बीचोंबीच इतनी घनी बस्ती है जहाँ पर हर जगह लाँच जा भी नहीं सकती। इन सब जगहों के अजीबोग़रीब नाम हैं, जैसे लाट अंचल, कोई बादा तो कोई आबादा कह कर पुकारता है। वर्षा में किनारे के साथ सारा संपर्क जैसे कट जाता है। जाड़े में आने-जाने का रास्ता सहज हो जाता है। ख़रीदने वालों की कमी के चलते दूध सस्ता मिलता है। इसी वजह से नए धान के समय भी दर काफ़ी कम ही रहती है। यहाँ यह बता देना ज़रूरी है कि नदी किनारे की बस्ती का मतलब है जहाँ से रेलवे-लाइन शुरू होती है। चाहे बादा हो, या आबादा इन सब जगहों में पैसे कमाने की सहूलियत के चलते डॉक्टरों ने भी डेरा जमा लिया है। बीच-बीच में सरकारी कैंप परिवार नियोजन के लिए डाले जाते हैं। यहाँ तक कि फ़िल्में भी दिखाई जाने लगी हैं।

कुछ गुंडे क़िस्म के लोग जो किनारों पर कुछ घपला करते रहते हैं वे यहाँ छुप कर बैठे रहते हैं। गाँव वापस लौटते वक़्त किसी की बीवी या किसी की बहन को भगा कर ले जाते हैं। रास्ते में एक-एक कर नदी पार करनी पड़ती है। भाटे के दौरान लाँच कंपनी के बाबुओं के दिल में हलचल पैदा हो जाती है। औरतें अपनी यादों को मिटाती हुई रेल पर सवार हो कलकत्ते में भिखारी, महरी या सुविधानुसार रखैल बन कर बस जाती हैं। कुछ छोकरे जो डबल रोटी बेचने का धंधा करते हैं, कुछ दिनों बाद यहीं छीना-झपटी की ताक़ में लगे रहते हैं। दो एक वैगन-ब्रेकर या भोर में पंजाबी ढाबों के बड़े चूल्हों से कोयले बटोरते देखे जा सकते हैं। यही लोग कुछ साल बाद जब थोड़ी उमर हो जाती है तो कोई पुराने अख़बार-रद्दी काग़ज़, पुराने ग्रामाफ़ोन या टाइपराइटर तो कोई टायर ख़रीदते दिखाई देते हैं।

बैंकों के राष्ट्रीयकरण के बाद हमारे इधर भी एक बैंक खुला है। उस के बाबू दस बजे की ट्रेन से यहाँ उतरते हैं। जब से बीस लाख से ज़्यादा रुपया डिपॉज़िट में पड़ा है तब से एक लेखपाल आने वाले हैं, ऐसा सुना जाने लगा है। यहाँ इतना रुपया जमा होने का कारण है—आबाद के सस्ते दूध से जो पनीर बनाया जाता है वह हमारे गाँव से हो कर ट्रेन से कलकत्ता जाता है। दरअसल हमारी यह जगह ख़रीदने-बेचने की जगह है। यहाँ आठ एम.बी.बी.एस., सत्रह वकील, इक्कीस प्राइमरी टीचर, एक पोस्टमास्टर, हैडमास्टर, स्टेशन मास्टर हैं।

इसीलिए इस जगह से बहुतों को जलन होने लगी है। इस के अलावा एक हैल्थ सेंटर, पंचानन ऑपेरा पार्टी भी है। इस के साथ हर शनिवार को गोहाट भी लगता है जिस में दाढ़ी वाले बकरों की ख़रीद-बिक्री होती है।

वैसे कहने को तो बहुत-सी बातें हैं। लगता है मुरमुरे, ताड़ी, महरी, भिखारी, थिन्डी फ़र्स्ट लोकल ट्रेन से कलकत्ता को मुहय्या कराए जाते हैं। कलकत्ते से लॉरी भर कर गेहूँ लाया जाता है जिसे पाँच-दस हॉर्स पॉवर वाली आटा-चक्की द्वारा पीस कर आटा तैयार किया जाता है। फिर जब लोगों पर भूत आता है तो माथे पर गगरी ले कर पंचानन तला की ओर मुड़ जाते हैं। शादी के मौसम में एक ही पार्टी सारे-के-सारे साइकिल रिक्शों को किराए पर ले लेती है। तब सिवाय पैदल चलने के और कोई चारा नहीं रहता। रविवार को बड़े हिसाब से मीट की बिक्री होती है, क्योंकि यहाँ तीन कसाई हैं। थाना यहाँ से आठ किलोमीटर की दूरी पर है। फाड़ी में एक जमादार है, जिस का नाम तारापद मालाकार है। उम्र भी कम है। वह दिन-दहाड़े रिश्वत लेता है; कोई आँखमिचौनी नहीं है।

हमारे यहाँ एक नहर है जो टेढ़ी-मेढ़ी बहती हुई मगरमपुर तक चली गई है। पानी खारा है इसी से खेती नहीं हो सकती। हाँ, मछली ज़रूर मिलती है। लोग सारे दिन मेहनत कर चिंगड़ी, टैंगड़ा—जो भी मिलती है, पकड़ ही लेते हैं। इसी नहर ने यहाँ के पुराने रूप को बहाल रखा है। जगह तो वैसे भी नई होती जा रही है। जैसे इस इलाक़े के ज़्यादातर जवान विषधर इसी नहर के ऊपर अपनी बाँबी तैयार करते हैं। इस बाँध का नाम कंपनी बाँध है। इस का कारण क्या है, कोई भी नहीं जानता।

दूर से देखने पर ऐसा लगता है कि जैसे यह बाँध आसमान के साथ एकाकार हो गया है जिस ने पूरी जगह को घेर रखा है। नहर के किनारे जो कंपनी के शुरू के दिनों के ईंट बनाने वाले गड्ढे थे अब पानी से भर गए हैं। यहाँ इतनी झाड़ियाँ और पौधे हैं कि सियार से ले कर बत्तख़ों तक का पेट भर जाता है। इसी रास्ते रेलवे स्लीपर की चोरी कर पानी में बहा कर रातोंरात आरे से चीर कर शानदार तख़्ता बना डालते हैं जिसे देख कर यह बताना मुश्किल हो जाता है कि यह हराम का माल है या हलाल का।

यहाँ दिन में छह-सात सौ बीघा ज़मीन पर धूप अपनी तेज़ चमक बिखेरती है और रात गहराने पर चंद्रमा यहाँ एक अलग क़िस्म की चाँदनी बिखेरता है। शांत, हैरान, गंभीर, सघन चाँदनी; उसी के बीचोंबीच रात की हवा अजीब तरह की उसाँस छोड़ती है जिस से जंगली लताओं के सिरे थर-थर करके काँपने लगते हैं। तभी मालगाड़ी की शंटिंग की आवाज़ ईंटखोला के पानी में भी कंपन पैदा कर जाती है। उस वक़्त पेड़-पौधों के अलावा यह सब देखने वाला दूसरा कोई साक्षी नहीं रहता। दिन में गाय चराने वाले चरवाहे ही यह सब देख पाते हैं।

फिर भी यहाँ पर भवेन आया। लोग उसे भवेन कह कर ही बुलाते थे। उस के सिर पर चारों ओर काले-सफ़ेद बालों की रेलिंग-सी थी जिस के बीच में उस की गंज चमकती रहती थी। उस का मुँह देख कर ऐसा लगता था जैसे नमक-पानी में झुलसा हुआ चेहरा हो। बदन पर एक बंद गले की बदरंग बनियान, उस पर एक ढीली-सी हाफ़पैंट, जो घुटनों के नीचे तक झूल रही थी, नंगे पैर जिन में दोनों उँगलियों में नाखून नहीं थे, चौड़े हाथ पर मोटी नसें, एक ख़ाली-सी तिरछी दृष्टि। यह लोफ़र टाइप का आदमी किसी सनीचर की दोपहर हमारे इलाक़े में डाउन ट्रेन से प्लेटफ़ॉर्म पर उतरा।

उस के साथ एक औरत थी—कपड़े की पोटली में कुछ सामान लिए, साथ में एक मिट्टी की हाँडी भी थी। सभी ने यही कहा—यह भवेन द्वारा भगाई गई औरत थी। वह लाट अंचल में ज़रूर किसी की बीवी होगी। वहाँ अभी नीति, सभ्यता आदि चीज़ों ने पूरी तरह से अपनी जगह नहीं बनाई थी। ये सारी सुनी-सुनाई बातें ही थीं। यहाँ के ज़्यादातर भद्र श्रेणी के लोग मुँह अँधेरे पैरों में जूते डाल कर कलकत्ते में नौकरी बजाने निकल जाते हैं; शाम को वापस आ कर सुबह का अख़बार बड़े मन से पढ़ते हैं। ख़ाली पैर वाले मजूरी करते हैं, पाँच मील चल कर

मेले में जाते हैं।

कलकत्ते के डेली पैसेंजरों ने डाउन प्लेटफ़ॉर्म पर हाफ़पैंट पहने एक आदमी को ईंट के चूल्हे में लकड़ी डाल कर चावल पकाते देखा। वह मिट्टी की हँडिया में भात बना रहा था। उस के पास ही एक औरत घूँघट काढ़े और बिना हिले-डुले एक जगह बैठी थी।

कुछ दिनों बाद प्लेटफ़ॉर्म से दोनों ओझल हो गए। वह जगह ख़ाली पड़ी रही। हमारे यहाँ लोकल ट्रेन पहले की ही तरह लेट होने लगी। सूरज अपने समय से ही निकलता रहा, फागुन-चैत में पेट कम बिगड़ता है—इस कारण डॉक्टरों के मुँह सूखने लगे क्योंकि रोगी भी कम आने शुरू हो गए।

उन दोनों को दुबारा जिस ने पहली बार देखा वह था, यहाँ का आधा-चोर आधा-डकैत—जो तीन साल के बाद वापिस लौटा था। देखने में वह था हमारा भीरू, हमारा दुलारा संतोष टाकि। यह आदमी ही अँधेरी-बारिश की रात में धान के गोले से धान चोरी करता। मुँह पर ही नहीं सिर तक पर—कहीं एक रत्ती बाल नहीं; फिर भौंहों को जाने दें, यही जान पड़ता कि पूजा में चढ़ाने लायक़ नारियल है जिस की जटा निकाल ली गई है। सब उसे संतोष गंजा कहते हैं।

संतोष को भोर में अलीपुर जेल से रिहाई मिली थी। वह जब दस बजे की ट्रेन से उतरा तो उस ने देखा कि बहुत कुछ बदल गया है। जेल जाने यानी तीन साल पहले वाले स्टेशन मास्टर, पोस्टमास्टर, और हैडमास्टर—तीनों की बदली हो गई थी और उन की जगह नए लोग आ गए थे। एक बैंक भी खुल गया है, लोग यहाँ रुपए जमा करते हैं, एक कॉलेज भी है, जहाँ लड़के घड़ी पहन कर पढ़ने जाते हैं।

यह दोपहर का समय था—जूते पहनने वाले लोग कलकत्ता में और दिहाड़ी वाले मेहनती मज़दूर अपने-अपने घरों में खाना खाने गए हुए थे। बीड़ी-तंबाकू के दुकानदारों ने डरते हुए दो-एक बीड़ी संतोष को थमा दीं। कोई बोला, अभी यहाँ सो जाओ, तो दूसरा बोला, अब वह सब धंधा छोड़ कर मेहनत करके गुज़ारा करो। चने टूँगते-टूँगते संतोष गंजे ने और जो बातें सुनीं वे ये थीं—अब घर-गिरस्ती बसाओ, उमर तो गुज़री जा रही है! एक पेट के लिए अपने को झमेले में क्यों डालते हो? तुम तो बिना किसी झमेले के हो—यहीं दुकान के पास एक कमरा डाल कर रह सकते हो।

'मैं तो और कोई दूसरा काम नहीं जानता। ज़्यादा लेक्चर ना पिला कर एक गिलास पानी दे दो, चना गले में अटका हुआ है, जेल के साथी याद कर रहे हैं।'

संतोष गंजा दिन रहते-रहते अपने काम की ओर चल पड़ा। जाड़े की धूप अब थोड़ी-थोड़ी तपने लगी थी। इसी समय मिट्टी में से नमक छान कर निकाला जा सकता है। इस मिट्टी के ढेले को निकाल कर अगर किसी मिट्टी के बर्तन में डाल कर उबाला जाए तो नीचे तली में नमक जम जाता है जिसे भात के साथ खाया जा सकता है और ज़रूरतमंद लोग राशन की दुकान पर बेच कर, रुपए दो रुपए जो मिल जाय, कमा लेते हैं।

नहर काटते समय जो मिट्टी जमा थी वह अब काफ़ी पुरानी हो गई है। अब लोगों के मुँह पर कंपनी बाँध की ज़्यादा चर्चा है। गाय चराने वाले चरवाहे नहर का किनारा या 'नहर पाड़' कहते हैं। यह मिट्टी काफ़ी ऊँचाई तक आड़ी-तिरछी हो कर सीधे द्वारिकापोत के आकाश से जा कर मिल गई है। वहाँ नहर के दो हिस्से हो जाते हैं।

यह जगह सुनसान है इसी से लोग इसे तिकोनिया कहते हैं। यहाँ पर किसी जाने-पहचाने सूराख में संतोष अपने औज़ार रखता है। लूट का सामान मिलने पर यहीं किसी घने जंगल में रख कर रातोंरात ग़ायब भी कर देना पड़ा है। इस बाँध के आधे रास्ते तक लोग नमकीन मिट्टी बटोरने आते हैं, चाँदनी में यह पगडंडी नमक की वजह से सफ़ेद हो जाती है। बारिश का पानी ठहरता नहीं है लेकिन मिट्टी काफ़ी चिकनी है इसलिए पैर फिसल जाता है।

कंपनी बाँध के ऊपर जा कर तो संतोष गंजा आश्चर्यचकित हो उठा। तिकोनिया के पास जा कर देखने पर लगा कोई यह खारी मिट्टी बटोर रहा है। किस के कलेजे में इतनी हिम्मत है? इतनी देर में, इस सन्नाटे में—सूरज तो कब का डूब चुका है। बाँध के पास जाने के बाद मालूम पड़ा एक औरत बड़े इतमीनान से मिट्टी बटोर रही है। थोड़ा पास आ कर संतोष गंजे ने देखा; असल में वह मिट्टी नहीं बटोर रही थी। टोकरी में भरके मिट्टी ले कर चालीस मिनट का रास्ता तय करने के बाद मिट्टी का बोझा जहाँ ख़ाली कर रही थी, वहाँ एक हाफ़पैंट पहने आदमी उस मिट्टी को पानी और पैर से पाट रहा था। एक कमरे की दीवार काफ़ी ऊँची हो गई थी। पास ही ताल के पत्ते की झोंपड़ी थी। उस के बग़ल से लौकी की एक लता निकल रही थी।

वहीं मिट्टी से सनी एक चावल की हाँडी उल्टी रखी थी। अच्छी तरह देखता तो संतोष को पानी में भीगी कुछ और चीज़ें दिखाई पड़ जातीं। पानी टखनों तक आ रहा था लेकिन इस वक़्त वह एक ही समय में कई चीज़ें एक साथ देख रहा था, जैसे मिट्टी को पाट कर दीवार बनाना, लौकी की लतर चढ़ाना, औरत का मिट्टी लाना, शाम का कंपनी बाँध...

'जगह तो काफ़ी अच्छी चुनी है।'

भवेन ने कोई जवाब नहीं दिया। एक बार सिर्फ़ औरत की ओर चिल्ला कर बोला, 'एई दाक्खी, बोल दिया ना, ढेला तोड़ कर मिट्टी का चूरा ही लाना।'

संतोष ने पहली बार यह नई बात जानी कि औरत का नाम दाक्खी है। मर्द का नाम तो अभी भी नहीं जान पाया। ढेले से तो पैर छिलेगा ही। मर्द को देख कर संतोष को लगा यह आधा भिखारी और आधा गुंडा है। उस के ऊपर चढ़ भी सकता है, रह-रह कर कड़ी नज़र से देखता भी जा रहा है। यहाँ ताड़ के पत्ते से जब कमरा तैयार कर सकता है तो मन में ज़रूर ऐसी ताक़त है। संतोष वैसे तो यहाँ देर रात कई-कई बार आया है लेकिन कभी रात नहीं काटी।

वह आदमी दीवार पर मिट्टी लगा रहा था। इसी तरह थोड़ी चिनाई करके उसे छोड़ कर धूप में सुखा कर फिर से चिनाई की जाती है। संतोष दौड़ कर आया और बोला, 'बाढ़ आ रही है। मिट्टी के अंदर कुछ डाला या नहीं? बारिश में तो दीवार गल कर गिर जाएगी।'

'एक ही तो बारिश आएगी।'

'वाह! साल में क्या दो बार बारिश आती है! कैसे आदमी हो तुम भी?'

टोकरी को फेंक कर दाक्खी आगे आ गई और बोली, 'मैं भी तो यही कह रही थी। कान में ही बात नहीं घुस रही। सिर्फ़ यही कहता है, एक ही बारिश की ही तो बात है!'

उस आदमी की देह—नमकीन हवा से ताँबे जैसी हो गई थी, दाँत बेकार हो गए थे, जिन में से मुस्कान काँप-काँप उठती थी। 'एक बारिश से ज़्यादा तो कहीं भी नहीं रहा।' संतोष ने देखा उस आदमी का चेहरा हँसी से भरा था और उस के पीछे शिरीष का एक पेड़ शाम की धूप को अपने में समेट कर नहर के किनारे पर खड़ा था। वे तीनों अब कंपनी बाँध के ऊपर खड़े थे जो कि आकाश को छू लेना चाहता था।

'एक हँसिया तो देना। मैं तनिक घास काट कर ले आता हूँ। इसे काट कर मिट्टी में मिला कर ईंट की गँथाई करो तो देखना दीवार का छह-सात बारिश भी कुछ बिगाड़ नहीं सकेंगी।'

संतोष को यह सब खेल लग रहा था। कंपनी बाँध पर यह आधा-भिखारी-आधा-गुंडा हाफ़पैंट पहने दीवार की गँथाई कर रहा है। दाक्खी टोकरी में मिट्टी ला रही है। शाम की धूप मायामयी जैसी लग रही है। संतोष बाँध की ढलान से हँसिए से घास काटने उतर गया। उसे बड़ा मज़ा आ रहा था, इतना आनंद उसे पहले कभी नहीं मिला था।

इस के कुछ दिनों बाद, अच्छे घर की महिलाओं का जूता पहन कर कंपनी बाँध पर घूमने के बहाने आना-जाना चालू हो गया। स्टेशन मास्टर की बीवी पोस्ट मास्टर की बीवी से बोली, 'चलिए ना दीदी, देख कर आएँ। दो-दो आदमी एक औरत को कैसे काबू किए हुए हैं—यह देखने वाली चीज़ है।'

इस तरह वहाँ लोगों का आना-जाना धीरे-धीरे चालू हो गया, जिस में औरतों की तादाद ही अधिक होती थी। इधर-उधर नज़र दौड़ाने पर उन्हें ख़ास कुछ दिखाई नहीं पड़ता था। मिट्टी की दीवार, बाँस का दरवाज़ा, ऊपर से खपरैल-छत। एक दूसरे को कंधे से धक्का दे कर औरतें मुँह में आँचल दबा कर फिक्क से हँस देतीं और कहतीं, 'हे भगवान! एक ही कमरा और दो-दो मरद। छिः छिः।'

शायद उस समय दाक्खी कपड़े के ऊपर सौंफ सूखने डालती थी या जिस जगह पर कंपनी बाँध आकाश से मिलता दिखाई पड़ता, वहाँ वह अपने नरम रेशमी बालों को खोले उन्हें सुखाने के लिए खड़ी रहती। उसी वक़्त द्वारिकापोत के आसपास बादल का एक टुकड़ा झूलने लगता। भवेन की नज़र इन सब चीज़ों पर नहीं होती। संतोष गंजा यह सब देखने की कुव्वत न जाने कहाँ से जुटा रहा था। बाबू लोगों के घर की औरतें यह सब देख सुन कर उँगली चटका कर कहतीं, 'अरे यही तो तरीक़ा है। हम जैसे कुछ भी नहीं समझते! छूत की मारी हैडमास्टर की बीवी मन-ही-मन तीन बार दोहराती... जवानी... जवानी... जवानी! जब यह नहीं रहेगी तब क्या होगा?'

मर्दों के पास वक़्त बहुत कम होता है। वे लोग आने-जाने के समय जो देखते, वह था—भवेन हाफ़पैंट पहने धान कूट रहा है। वह कैसा बोया गया है, यह नहीं पता चला। यह आदमी कुछ पागल-सा है, लोग यही कहते हैं। भद्रेश्वर नाई एक दिन बाबू लोगों की हज़ामत बनाते-बनाते हँस कर बोला, 'संतोष गंजा अब कंपनी बाँध पर कमरे की मरम्मत करता है। सारा दिन ठुक...ठाक। कहीं खपरैल डाल रहा है, कहीं मिट्टी पोत रहा है। दिन में एक बार बाज़ार में हाज़िरी देता है—बीड़ी, माचिस, मूली, आलू... इन सब चीज़ों के लिए।'

बाबू लोग भद्रेश्वर से ज़्यादा बात नहीं करते। पता नहीं कुछ पूछने पर क्या जवाब दे दे! मुँह पर तो लगाम नहीं। सभी को पता है, यही डकैती का सुराग़ संतोष को देता था और उस में हिस्सेदारी भी बँटाता।

वह बोले, 'तेरा तो गुरू है?'

'हाँ, वह किसी समय था। अब क्या मरदमी बची है उस में?' फिर वह रेज़र को हाथ से पोंछ कर, धार तेज़ कर दाढ़ी पर उस्तरा चलाने लगा और बोला, 'कंपनी बाँध से अब बाहर ही कहाँ जाता है?'

भवेन आदमी है या पत्थर, यह जान पाने का कोई उपाय भी नहीं है। मेहनत-मजूरी के बीच बारह बजे जल्दी-जल्दी ब्रेड और आलू की सब्ज़ी खा लेता है। छोकरे ताना कसते हैं—आज बीवी ने खाना नहीं बनाया क्या? बड़े दामाद को ले कर पड़ी है।

भवेन सीधे आसमान की ओर देख कर ब्रेड चबाता रहता है। वह काम के वक़्त बात नहीं करता। कमर पर नारियल की रस्सी से अपनी हाफ़पैंट को बाँधे है। काली सफ़ेद दाढ़ी, माथे पर बालों की लहरी, लंबा क़द, तिरछी नाक। जब वह रास्ते पर चलता है तो नाक की सीध में देखता है, चोट लगने से चिल्लाता नहीं। जब रिलीफ़ का आटा मिलता है, लाइन में चुपचाप खड़ा रहता है। धक्का खा कर भी कोई विरोध नहीं करता। गाली-गलौज़ नहीं करता। काले चेहरे पर सफ़ेद दाढ़ी चमकती दिखाई देती है। हरदम चिन्ता में डूबा रहता है। सीटी दे कर ट्रेन निकले तो भी उस का असर भवेन पर नहीं होता।

शाम को बीड़ी और दियासलाई का जुगाड़ करते वक़्त गंजे संतोष ने तुलसी की दुकान से एक साबुन ग़ायब कर दिया। फिर थोड़ा तेल लेने सरकार ऑयल मिल में गया। निकलते समय दाक्खी ने कह दिया था, 'नहर की मछली तो पकड़ सकते हो लेकिन तेल कहाँ से मिलेगा?' केरोसिन, आटा और मसाला भवेन कष्ट से जुगाड़ कर

लाता है; मछली और सब्ज़ी—यह सब जैसे भी हो गंजा संतोष। दाक्खी लकड़ी बटोर ही लाती है, लेकिन सरसों का तेल कहाँ से मिलेगा? दुकान के सामने खड़े होते ही बड़ी सरकार ने उस से कहा, 'तू क्यों थोड़ा-सा तेल लेगा, बर्तन लाया है?'

शीशी दिखाने पर संतोष को वह टंकी के सामने ले जा कर बोला, 'इस में 70 हिस्सा लाल सरसों है, बाक़ी तो सफ़ेद सरसों ही है। ऐसा तेल सारे बाज़ार में भी नहीं मिलेगा।'

'बड़े बाबू, मेरे पास पैसा नहीं है।'

'तो क्या हुआ।' फिर जो तेल हाथ में लग गया था—उसे हथेलियों में मल कर बड़े प्यार से पूछा, 'सुन, उस औरत का नाम क्या है रे?'

'दाक्खी। वैसे नाम से आप को क्या?'

'नाम ना होने पर भी ठीक ही है, सुना है तू-तड़ाक करती है। मंत्र भी जानती है। ठीक है ना?'

'वह तो करती है, बस में लाने के लिए।'

'कैसे? गाना-वाना गा कर।'

'सिर्फ़ गाना, पूनम की रात को कंपनी बाँध पर अकेली नाचती है। बालों से रोशनी झलकती है।'

संतोष को पता था, इस आदमी की दो बीवियाँ वैध रूप से शादी करके हैं और सियालदह के बाज़ार में एक और औरत कमरा किराए पर ले कर रख छोड़ी है, जिस के लिए हर रात बाज़ार से बड़े-बड़े टमाटर और मछली ले जा कर देता है। यह सब बहुतों का देखा-जाना है।

'ज़रा उस औरत को दिखा सकता है?' तेल तो ले ही लिया था, संतोष ने दुकान से उतर कर रास्ते में खड़े हो कर कहा, 'बाँध पर जाएगा तो पैर तोड़ दूँगा।'

'अरे इस पैर के रहने से फ़ायदा ही क्या है, तोड़ देना! सिर्फ़ एक बार पास से दिखा भर देना। बात भी नहीं करूँगा। सिर्फ़ देखूँगा, गाना सुनूँगा, नाच दिखाए तो देखूँगा। क्या कहता है? है ना ठीक बात।'

'ओह! यह तो एकदम गुड़ में मक्खी की तरह भिनभिना रहा है।' यह कह कर संतोष खिसक गया।

भवेन को कोई ज़्यादा तंग नहीं करता। कोई फ़ायदा भी नहीं। चुपचाप वह आकाश में ताकता रहेगा, बात भी नहीं करेगा।

दाक्खी ने खाना बनाया जिसे तीनों ने ही साँझ ढलते-ढलते खा लिया। बहुत दिनों के बाद रिलीफ़ के चावल का गरम भात, साथ में नहर से पकड़ी मछली। खाना ख़त्म होते ही दाक्खी ने फूँक मार कर कुप्पी को बुझा दिया।

अभी तक जिस के मुँह में भी कंकड़ पड़ रहा था, उसे दूसरा कुप्पी दिखा देता था। बात किए बिना संतोष भवेन को, भवेन संतोष को कुप्पी दिखा देता था। दाक्खी एक कलई वाली कटोरी में भात ले कर खा रही थी, बाक़ी सब मिट्टी के बर्तन थे, या पत्तलें थीं। यह सब देख-देख कर दाक्खी मुँह में भात का कौर ले कर कटोरी से मुँह सटा कर ठक की आवाज़ के साथ मंद-मंद मुस्करा देती थी, क्योंकि उसी के लिए दो-दो मर्दों में बातचीत बंद थी। यह क्या कम मज़े की बात थी!

उस दिन आसमान में रह-रह कर काले बादलों के बीच बिजली कौंधती रही। लगता था कि जैसे आकाश में फफोले पड़ गए हैं। भवेन नहर की तिकोनिया ढाल पर बैठ कर बीड़ी सुलगा रहा था। लेकिन वह बार-बार बुझ जाती थी। संतोष कमरे के सामने जो ऊँचा-सा ढूह था—उस पर बैठा था। अँधेरे से निकल कर दाक्खी जिस जगह पर बैठी थी, गंजा संतोष वह जगह जानता था। वहीं वो सब रहते हैं... यह बात औरों को भी मालूम थी। बीच में उन की वंश-वृद्धि होती है, फिर भी बूढ़ा-बूढ़ी जगह नहीं बदलते। कभी बूढ़ा तो कभी बूढ़ी बाहर निकलते

हैं। उमर हो गई है। उन के सिर हथेली से भी बड़े हैं, सीधा खड़ा होने पर चमक उठते हैं।

'चल, हट कर बैठ, यह जगह ठीक नहीं है।'

'काटे तो काटने दे।' यह कह कर दाक्खी ने बात बदल दी, 'तुम्हारे यहाँ नदी क्यों नहीं है?'

'क्या सब जगह होती है?'

'हमारे देश में हर जगह..., यह कह कर दाक्खी ने एक जंगली सुर में गुनगुनाना शुरू कर दिया। इसी बीच आसमान में चाँद दिखाई देने लगा। भवेन दो बार खाँसा। दोनों ही बीड़ी की सूखी खाँसी खाँसते रहे। दाक्खी बोली, 'हमारे इलाक़े में जब भाटा आता है तो पानी कम होने से नदी मैदान में तबदील हो जाती है। वहाँ पानी में डूबी घास को खाने गाय आ जाती थी। फिर ज्वार आने पर गायें किनारे पर वापस लौट आतीं। यह वहाँ का रोज़नामा था।'

भवेन जल्दी-जल्दी कमरे में घुस गया।

'कहाँ जा रहे हो?'

'सोऊँगा नहीं?'

'जाओ सोओ, जगह छोड़ देना।'

भवेन अंदर जाते-जाते बोला, 'तुम तो दिन में सोती हो, मैं सारा दिन खटता रहता हूँ, अभी सोऊँगा भी नहीं?'

दाक्खी को यह सब खेल अच्छा ही लग रहा था। कौन उस के साथ सोएगा, इसे ले कर रोज़ यही कांड होता था। पास ही सुधन्य रहता था जो जी.पी.ओ. में डाकिया था। वह मुँह अँधेरे घर से निकल कर रात को घर वापस लौटता था। उस ने तंबाकू फाँकते-फाँकते संतोष की आवाज़ सुनी, जो कह रहा था, 'अभी सो जाओ, बाद में उठ जाना।'

'दिन में मेहनत करके दो ठो दाना जुटाऊँ और रात में बाहर पहरा दूँ?'

'गर्मी में रात में बाहर अच्छा ही लगेगा।'

'सारी रात ओस गिरती है, अच्छी नींद आ सकती है भला?' अब भवेन दाक्खी की ओर देखने लगा, अँधेरे में डूबी साँस। कोई किसी की आँखों को नहीं देख पा रहा था। किसी का मन भी देखना या जानना असंभव था। गले की आवाज़ सुन कर जितना सुनना या समझना हो, जान लो।

'तू कुछ नहीं बोलेगी दाक्खी? हर रोज़ चुप्पी ही साधे रहेगी?'

दाक्खी अब बिल्कुल किसी डाइन की तरह हँसने लगी। काफ़ी देर से बिजली चमक रही थी। उस की कौंध में वह एक मोटी-ताज़ी सुअरनी जैसी लग रही थी। हँसी रोक कर बोली, 'मैं किसी की तरफ़ नहीं। जो जीत जाए—मुझे जीत लो, तुम दोनों कोई दूध पीते बच्चे नहीं! लेकिन मुझे अभी तक किसी के दाँत से वास्ता नहीं पड़ा।'

बात तो काफ़ी हद तक सही थी। भवेन के साथ-साथ संतोष भी चुप हो रहा। धीरे से बोला, 'भवेन, तुम अभी खाना खा कर उठे हो, सो जाओ। अभी तो हमारी आँखों में नींद नहीं है।' 'वह रहेगी कैसे पूरे-पूरे दिन सोओगे तो?'—कहते-कहते भवेन कमरे में घुस गया। अंदर फ़र्श मिट्टी से लीपा गया था। एक दीवार की तरफ़ बाँस वाली चारपाई लंबी करके बिछाई गई थी। यह चारपाई उसी बाँस से बनाई गई थी जिसे रातों-रात गंजा संतोष काट कर लाया था। भवेन के सोने के साथ-साथ उस में 'कैंच-कैंच' की आवाज़ आनी चालू हो गई। थोड़ी देर तक करवटें बदलने के बाद, भवेन 'दाक्खी....दाक्खी' कह कर चिल्लाने लगा।

संतोष गंजे ने जवाब दिया, 'दाक्खी अभी नहीं सोएगी, तुम्हें नींद आ रही है, तुम सो जाओ।'

भवेन बाँस की चौकी पर बैठ कर बोला, 'सोऊँगा ही। सारा दिन आँचल पकड़ कर तो बैठा नहीं रह सकता।

मेहनत-मजूरी करता हूँ।'

इधर कुछ दिनों से सारे मैदान धान के पौधों से खिले दिखाई पड़ रहे थे, जो अभी-अभी बोए गए थे। अभी कहीं नई जगह नहीं थी, जितनी थी, वह भी अब नहीं रहेगी। अब भवेन को दिन के उजाले में यह सब तसवीर अच्छी नहीं लगती। एक चिन्ता उसे खाए जा रही है, उस से छुटकारा नहीं है कि बुवाई ख़त्म हो जाने के बाद गाँव में काम ख़त्म हो जाएगा। तब वह कहाँ मजूरी करेगा? खाएगा क्या? संतोष आजकल डकैती तो दूर, चोरी तक नहीं करता। तीनों प्राणियों का ख़र्च कहाँ से जुटेगा अगर सारे-सारे दिन घर में ही पड़े रहे? 'ओ दाक्खी!' दाक्खी दौड़ते-दौड़ते कमरे में आ कर बोली 'क्या है?' 'दरवाज़े की कुंडी चढ़ा दे!'

'अभी अँधेरा है, कोई ज़रूरत नहीं है।'

'बंद कर, मैं कहता हूँ, तुझे ज़रा भी लाज-शर्म नहीं, कैसी औरत है तू?'

मुँह के ऊपर दरवाज़ा बंद हो जाने पर संतोष गुरनि लगा। उसे उसी क्षण द्वारिकापोत के आसमान से एक जोड़ा तारा गिरता दीख पड़ा।

भवेन दाक्खी से यह जानने की कोशिश कर रहा था, 'ओ री, संतोष कैसा है, मेरी तरह?'

दाक्खी कहने ही वाली थी, 'ख़राब नहीं,' लेकिन मुँह से निकल गया, 'तुम से बहुत अच्छा है।' भवेन थूक गटक कर बोला, 'वह तो होगा ही। उस के मुक़ाबले में मेरी उमर कुछ ज़्यादा है, मैं क्या उस की तरह...'

'बात मत बढ़ाओ, जो करना है...करो।'

थोड़ी देर के बाद दरवाज़ा खोल कर भवेन तेज़ी से कंपनी बाँध पर टहलने लगा। किसी तरह उस का ख़याल नहीं। तहसीलदार के खाते में इस बाँध की ज़मीन 181 बीघे में फैली थी। इतनी जगह में तीनों का बैठकख़ाना बना हुआ है।

दाक्खी बाहर आ कर संतोष को ढूँढ़ने लगी। गले से वन्य स्वर निकालने लगी। नहर के पानी में संतोष ने जाल फेंका था—शायद मछली फँस जाय। दाक्खी के आ कर खड़े होते ही संतोष ने पानी में खड़े-खड़े जानना चाहा, 'तू कौन है दाक्खी? दरअसल तू कौन है?'

दाक्खी न तो हँसी न रोई। बोली, 'हम लोग नदी के उस पार रहते हैं। चल आ, सोएँ?' अपने गले के वन्य स्वर की फाँस से दाक्खी ने संतोष को आकर्षित किया, 'मैं क्या ज़रा भी नहीं सोऊँगी? सारा दिन लोग-बाग देखने आते हैं। मैं जड़ जैसी बैठी रहती हूँ।'

'तू असल में कौन है दाक्खी?'

'कल बताऊँगी।'

दरवाज़े पर कुंडी नहीं चढ़ाई गई थी—दोनों बहुत देर तक सोए रहे। आधी रात को बाहर आ कर संतोष ने भवेन को देखा। शाम को दाक्खी जिस जगह पर बैठी थी—भवेन उसे दो टुकड़े करने की कोशिश में था। संतोष को देख कर बोला, 'यहाँ से साफ़ नज़र आता है।' मिट्टी का दीया ले कर उन्होंने देखा कौन चल-फिर रहे हैं? 'वे लोग रहते है। हट कर बैठ!'

भवेन ने जगह नहीं बदली, काटे तो काटने दे। इस के बाद बरामदे में खाँसते-खाँसते सुधन्य ने सुना, सुनसान कंपनी बाँध पर दो मर्द एक दूसरे से गालीगलौज़ करते हुए एक दूसरे को काटने दौड़ रहे थे। एक था भवेन तो दूसरा था संतोष। लेकिन अँधेरे में केवल छाया ही नज़र आ रही थी। किसी को अलग से पहचाना नहीं जा रहा था। लगता था, दो ऊदबिलाव जिन की देह पर रोंये-रेशे नहीं थे, वे आपस में जूझ रहे थे।

इस बीच दाक्खी एक बार उठ खड़ी हुई। आधी रात की फीकी चाँदनी में दो दानवों का तांडव कंपनी बाँध को

जगा रहा था। दाक्खी की आँखों में गहरी नींद थी। वह दरवाज़े पर कुंडी चढ़ा कर चारपाई पर चित लेटी थी।

भोर में जिस ने तीनों को नींद से जगाया वह था आशु वैद्य। उसे संतोष जानता था। उस का घर था केशवपुर में। हर साल इस वक़्त वह यहाँ आता है। उस का काम है विषधर साँप का शिकार। वह उन्हें पाल-पोस कर विष बेचता है। मर जाने पर चमड़ा निकाल कर बेच देता है। एक ही झटके से कहीं भी चालान कर देता है। शाल जंगल में साँपों को पकड़ता है। इसी समय वह यहाँ आता है, गीली मिट्टी में रहने वाले साँपों के स्वभाव की काफ़ी पहचान है उसे।

द्वारिकापोत के आसमान में लाल रंग की झलक देख कर लगता था किसी ने ज्योत्स्ना बिखेर दी हो। वहीं से सूरज उदय होगा। वह देख कर बोल उठा, 'घर कब बनाया?'

उसी वक़्त दाक्खी दरवाज़ा खोल कर आ खड़ी हुई। उस ने काफ़ी देर तक अँगड़ाई ले कर अपने आलस को तोड़ा। आशु जल्दी से बोला, 'शादी कब की, बताया नहीं!' दाक्खी तेज़ नज़रों से उस की ओर देखने लगी। वहाँ से उस की नज़र भवेन पर पड़ी जो हाफ़पैंट पहने कंपनी बाँध पर औंधा पड़ा था। उसी के पास आड़ा-तिरछा हो संतोष पड़ा हुआ था।

'संतोष दा, यह तुम्हारा ससुर है?'

'आह? यह सुबह-सुबह क्या मुसीबत है। ससुर काहे को होगा, वह तो हमारा भवेन दादा है। पहले नहीं देखा, यहाँ नए आए हैं। अभी तो उस की बीवी को देखा।' संतोष के मुँह से निकल गया, 'भगाई गई बीवी।' भवेन ने एक चाँटा रसीद कर देना चाहा लेकिन बीच में वैद्य का सिर आ जाने से हाथ को नीचे झुका देना पड़ा। आशु यह देख कर बोला, ' अभी तो चाँटा मारने जा रहे थे लेकिन सारी रात कहाँ सो रहे थे, पता भी है? कहाँ पर? उन लोगों की पूरी फ़ैमिली के ऊपर। क्या कोई हलचल नहीं समझ पाए, कैसी नींद है बाबा?'

'पता तो एक बार लगा था। कहाँ है खनती, कहाँ है चाकू?'

'न खोद कर अच्छा ही किया, खोदते तो समझते, बूढ़े और बुढ़िया तुम्हें एक साथ डस लेते।' इस तरह आशु वैद्य भोर की हवा में अपनी तरह-तरह की रूप-कथाओं के जाल बुनने लगा, जैसे—अब उन लोगों का डेरा बच्चों और नाती-पोतों से भर गया है, बूढ़े और बुढ़िया उन्हें बड़ा करके ही मरेंगे। थोड़ा बड़े होने पर उन्हीं से नाश्ता करेंगे। दाक्खी ने कहा, 'अपने बच्चे, नाती-पोती? उन्हें बचाया नहीं जा सकता?'

'अब बड़ा करेंगे। फिर खाने लायक़ होने से खाना शुरू कर देगें। उन्हें बचाया नहीं जा सकता? भला साँप को भी कोई बचाता है? क्या कह रही हो?'

'बूढ़ों को अगर पकड़ा जाए...'

'इसीलिए तो मैं यहाँ आया।'

'तुम बच्चों को ले जा कर पाल सकते हो।'

'इतनों को मैं अकेले कैसे सँभालूँगा। तुम तो दोनों का मुक़ाबला कर रही हो। कैसा लगता है?'

इस के बाद से चारों का एक काम शुरू हो गया। वह था कंपनी बाँध के चारों तरफ़ बूढ़े-बूढ़ी की खोज़। एक-एक सूराख़ ऐसा लगता है जैसे वहाँ कोई नहीं, लेकिन उसी में एक दिन बूढ़ी अपनी पूँछ समेट कर अंदर सड़ाक-से घुस गई। एक दिन दोपहरी में आशु घास के सिरों को, जो टूट गए थे, उन्हें देख कर बोला, 'बूढ़े की तो उमर हो गई है, वज़न भी ज़्यादा है, इसीलिए लगता है इसी रास्ते से खाना तलाशने गया है और जाते वक़्त घास के सिरों को रौंदता हुआ चला गया है। आने दो, मैं उसे अवश्य ही पकड़ डालूँगा।'

लेकिन उस दिन बूढ़ा उस रास्ते से वापस नहीं लौटा, बुढ़िया लौटी। परंतु उस ने भी वैद्य की सारी कारसाज़ियों

को नेस्तनाबूद कर दिया। अपनी बाँबी में बड़े ही सुंदर तरीक़े से समा गई। पहले सिर को सीधा कर अंदर किया फिर खुद घुस गई। आशु कभी गोधूरा साँप तो कभी गौरैया तो कभी नहर के पानी से दो किलो वाली शोल मछलियाँ पकड़ता। बूढ़े और बुढ़िया दिखते तो नहीं लेकिन साफ़ जान पड़ता था कि वे इन चारों पर कड़ी नज़र रख रहे हैं।

इसी बीच दाक्खी के साथ कौन कब सोएगा, इसे ले कर किसी-किसी रात महाभारत छिड़ जाता। उस वक़्त सुधन्य की खाँसी की रफ़्तार भी तेज़ हो जाती है।

इन सब झंझटों के बावजूद आशु की आमदनी ख़राब नहीं हो रही है। नमक बेच कर जो ढाई रुपया मिला उस से दाक्खी ने आशु से एक छह कोने वाला फल लिया है। फल का नाम है शिवलिंग। इसे हाथ में रखने से साँप अपना सिर नहीं उठा पाता।

भवेन ने ख़रीदा है एक शंखवस्त्र, ग्यारह रुपए दे कर, जो उसे मजूरी से मिले थे। बेचते वक़्त आशु फिसफिसा कर बोल उठा था, 'एक बार दाक्खी ठकुरानी को इस कपड़े पर बिठा कर देखना, तुम्हारे बस में ऐसे आ जाएगी कि...'

भवेन इसी फ़िराक़ में है कि कैसे दाक्खी को उस वस्त्र पर बिठाया जाए। गंजा संतोष दूसरे ही आनंद में मस्त है। एक कंपनी बाँध, चार आदमी, पूरे परिवार के साथ बूढ़ा और बूढ़ी—द्वारिकापोत का आसमान, यह सब मिला कर एक बड़ी लंबी-चौड़ी तस्वीर है, जिस के किसी भी छोर पर भाग कर चले जाओ। जेल में इतने लोगों के बीच में भी उसे यह आनंद नहीं मिल पाया था।

आशु को भी यह जगह बुरी नहीं लग रही। पहले यहाँ दिन में आता था। अब यहाँ रात का भी ठिकाना है। पहले के ताड़ के पत्तों की जगह अब कमरे को लौकी की लताओं ने चारों ओर से ढक लिया है। भरी दोपहरी में जब आशु चित्त हो कर सोया रहता है तब दाक्खी खुरपी ले कर उन सूराखों को हल्के-हल्के से खोदती है।

एक दिन सुबह-सुबह घर से निकलते वक़्त आशु की नज़र में बूढ़े-बूढ़ी पड़ गए। लेकिन उन्हें पकड़ना आसान नहीं। इतने पुराने होते हुए भी खेल नए-नए जानते हैं, बड़ी जुगत से आँखों में धूल झोंक कर निकल जाते हैं। कभी तीनों को लगता है कि मिल गए, लेकिन ठीक उसी समय भाग जाते हैं।

एक दिन सुबह बाँध पर चढ़ कर दाक्खी ने भवेन, संतोष, आशु को देखा। तीनों ज़मीन में कुछ कर रहे थे। तीनों बड़े ही छोटे-छोटे दिख रहे थे।

दाक्खी ने आशु का फावड़ा ले कर उस जगह को खोदना शुरू कर दिया। ज़्यादा देर नहीं लगी। ढेर सारे साँप बिलबिला रहे थे। एक-एक का तेज़ तो देखो। अभी थोड़ा फन उठाना ही शुरू किया है। टोकरी में सब को बटोर कर उन्हें सूप से ढक कर कमरे के कोने में रख दिया। फिर मिट्टी डाल कर बिल को बंद भी कर दिया।

आज उस बाँबी की असल शक्ल दाक्खी ने देखी तो उस का दिल दहल गया। मिट्टी के अंदर कैसी अंधी सुरंग, चिपचिपा पतला-सा रास्ता। ऐसी ही एक पगडंडी दाक्खी के घर की ओर भी चली गई है।

बूढ़ा-बूढ़ी ने उन तीनों को उल्टा-सीधा भगा कर साँझ को घर वापस भेज दिया। आशु उस वक़्त अँधेरे में कल्पना भी नहीं कर सका कि जहाँ बूढ़ा-बूढ़ी बाल बच्चे समेत रहते थे, वह जगह पूरी तरह से मिट्टी से लीपी गई है। आशु कंपनी बाँध पर लकड़ी से चूल्हा जला कर बोला, 'हमारी दादी बड़ी मज़ाकिया है, अभी पकड़ में आई और अभी हाथ से गई। सारे दिन कितना दौड़ाया! क्या दाक्खी ठकुराइन एक बार बाहर आओगी?'

अंदर से ही दाक्खी ने जवाब दिया, 'नहीं आती। तबीयत ठीक नहीं है।' यह सुन कर भवेन अँधेरे कमरे में दाख़िल होने ही वाला था। शंखवस्त्र तो उसी के कमरे में ही है, एक बार उस पर दाक्खी को बिठा दिया जाए तो

काम बन जाए।

बाँस की चौकी पर दाक्खी चीख़ उठी। भवेन पीछे हट गया। तब आशु की कथा चालू हो गई—बेहाटी के श्मशान में अमावस की रात एक मुर्दे का सिर काट कर तांत्रिक साधना करनी होगी। तब देखना, चारों तरफ़ से कितनी लीलाएँ आ कर घेर लेंगी। अगर उन्हीं में मस्त हो गए तो मौत निश्चित है। अजगर पंख लगा कर उड़ रहे हैं। जिस तालाब पर से उड़ेंगे उस का पानी सूख जाएगा, आँखों के सामने पेड़-पौधे और आसमान क़ालीन की तरह सिमटते नज़र आएँगे। पहाड़ रौंद देंगे।'

दाक्खी सोए-सोए यह सब सुन रही थी। बड़ा मज़ा आ रहा था। इसी बीच संतोष के गले की आवाज़ सुन पड़ी, 'खाना बना कर क्या होगा? इस से तो अच्छा है मछली को भून कर खा लेते हैं।' भवेन बोला, 'वही ठीक रहेगा।'

संतोष गंजा दरवाज़े पर आ कर बोला, 'ज़रा मसाला वग़ैरह पीस दोगी?'

दाक्खी को तब साफ़-साफ़ पता लग चुका था। तभी बाँस की चौकी के ऊपर ऊँची आवाज़ में बक-झक कर उस ने संतोष को भगा दिया।

संतोष पीछे लौटते वक़्त दरवाज़ा बंद करते हुए बोला, 'तू कौन है दाक्खी? दरअसल तू है कौन?' दाक्खी ने कोई भी जवाब नहीं दिया। कमरे के अंदर घुप्प अँधेरा था। उस में बूढ़ा-बूढ़ी अपने परिवार को खोजने निकल पड़े थे। खोजने? कौन जाने? जिन लोगों ने सारा दिन उन दोनों को दौड़ाया है, वे अब एक बड़ी-सी मछली आग में भून कर नमक-मिर्च से उसे चीर कर खाएँगे।

कमरे के अंदर दाक्खी को एक मीठी खुशबू का अहसास हो रहा था। ढकी हुई टोकरी हिलने लगी। दाक्खी ने बड़ी सावधानी से शिवलिंग फल को मुट्ठी में थाम लिया। बूढ़ा-बूढ़ी बड़ी सहजता से अपने उसी रास्ते से उस के कमरे में घुस पड़े थे। अब दाक्खी साफ़ देख रही थी, वे दोनों उस टोकरी के चारों ओर चक्कर काट रहे थे। दाक्खी की समझ में आया, उन को भी तो भूख लगती होगी। उस के पैर नीचे थे, उन्हें उठा कर वह बाँस की चारपाई पर बैठ गई।

साथ ही, आशु के गले की आवाज़ भी सुनाई पड़ रही थी। 'एक-एक मंत्र का अलग-अलग नतीजा होता है। तुम जिसे चाहते हो, उस मंत्र में उस को पा सकोगे।' लकड़ी की आग में अब उन लोगों के मुँह बाघ के तीन अलग-अलग चेहरे जैसे लगते थे।

अब बारिश ख़त्म हो चुकी थी। बहुत दिन पहले से ही। जाने से पहले बड़ी जंगली मछली को माटी के ढूह के कीचड़ में डाल गई थी—जो अगली बारिश तक किसी तरह ज़िन्दा रह सकती थी, अब संतोष के हाथ में पड़ कर उन की एक रात की खुराक में तब्दील हो पेट में जा चुकी थी।

खाने के बाद आशु में कोई ताक़त नहीं बची। वह सो गया। तब शुरू हो गया रोज़नामा। इसी समय सुधन्य की खाँसी भी बढ़ जाती है। चाँदनी का एक टुकड़ा उस जगह को खूबसूरत बनाने की कोशिश में लगा था लेकिन क्या वैसा हो सकता था। संतोष चिल्ला उठा, 'आज मैं पहले सोऊँगा। नींद से मेरी आँखें जली जा रही हैं।'

भीतर से दाक्खी ने कहा, 'जो जैसे सोए हो—आकाश के नीचे ही पड़े रहो। कम-से-कम आज की रात।' दाक्खी यह बोलते-बोलते साफ़ देख पा रही थी कि जहाँ वह पिटारी दबी थी उसे साँपों का जोड़ा किस तरह से दबोचना चाह रहा था। और ऐसा नहीं कर पाने पर ज़मीन पर फिसल-फिसल कर गिरे जा रहे थे; आख़िर उन्हें भी तो भूख लगती है!

संतोष दरवाज़े पर खड़ा हो कर बोला, 'तू कौन है दाक्खी? तू कौन है?'

भवेन ने बीच में ही टोका, 'डकैती तो दूर, एक दिन चोरी करने भी नहीं जाता! अब हट जा। थोड़ा सो कर

जल्दी ही उठ जाऊँगा। दरवाज़े पर दबाव पड़ते ही दाक्खी चिल्ला उठी, उस की गरज भरी आवाज़ गूँज उठी, 'आज की रात आकाश के नीचे ही सोओ।'

अगर आशु जगा होता तो देख पाता, दोनों, भवेन और संतोष, एक दूसरे को कैसे कच्चा चबा जाने की कोशिश में हैं। मानो धागे में पिरोए गए दो कठपुतले इस चाँदनी रात में बंद दरवाज़े तक जाते हैं और छिटक कर वापस आ जाते हैं।

वे दोनों यह भी नहीं जान पाए कि दाक्खी उस वक़्त अँधेरे में पैर समेटे, उस टोकरी को अपनी आँखों से टोह रही है और उस से फिसल कर बूढ़े-बूढ़ी के गिरने की आवाज़ लगातार आती जा रही है और साथ ही नन्हें साँपों के जोड़ों की फुफकार।

बाङ्ला से अनुवाद : **डॉ. इंदिरा चटर्जी**

ताराशंकर बंद्योपाध्याय

अग्रदानी

एक छह-साढ़े-छह फुट की फट्‌ठी को बीचोंबीच नवाने पर जो हालत होती है, लंबे क़द के दुबले पूर्ण चक्रवर्ती की भी अब वही हालत है। पर तीस साल पहले वह ऐसा नहीं था। तब बत्तीस साल का जवान था, बिलकुल खड़ा, सीधा। देख कर लोग कहा करते—'नसेनी आ रही है, नसेनी आ रही है।' लेकिन छोटे बच्चे उसे बेहद चाहते थे।

वयस्क व्यक्तियों को हँसते देख कर वह गंभीरता से पूछता था, 'हूँ! हँस रहे हो, बात क्या है?'

'दादा, यही एक रसीली बात हो रही थी।'

'हूँ। अच्छा! तब तो तुम्हारी रसीली बात, रस के मीठे स्वाद के समान ही है।'

उन में से कोई तब सच्ची बात बता देता था, 'नहीं दादा, तुम्हें देख कर ही हँस रहे थे सब। कह रहे थे, नसेनी आ रही है।'

चक्रवर्ती बत्तीसी निकाल कर हँस देता, 'हाँ, सो तो है ही। कंधे पर चढ़ने से स्वर्ग पहुँचा जा सकता है।'

'और गिरने पर, रसातल में, क्यों दादा?'

मन ही मन इस का जवाब ढूँढ़ता चक्रवर्ती। पर उस के पहले ही चक्रवर्ती की नज़र पड़ती थोड़ी दूर गली के मोड़ पर खड़े लड़कों के झुंड पर, जो इशारे से उसे बुला रहे हैं। तब और जवाब नहीं देता चक्रवर्ती, किसी काम का बहाना करके वहाँ से टरक जाता।

किसी दिन राय बाबुओं के बग़ीचे में, किसी दिन मियाँओं के बग़ीचे में लड़कों के झुंड के साथ जा कर आम, जामुन या अमरूद इकट्ठा करता। रसीले मीठे फलों की सुगंध से एकत्रित मधुमक्खियों और बर्रों के आक्रमण की भी वह परवाह नहीं करता, मज़े से बैठे-बैठे उन फलों का रसास्वादन करता रहता।

लड़के चिल्लाते, 'अरे, तुम्हीं खाए डाल रहे हो सब, ऐं!'

वह तब जल्दी से डाल को हिला कर कुछ फल नीचे गिरा देता और फिर दो-एक मुँह में डाल कर कहता, 'आह्!'

उन में से कोई कहता, 'वाह पूरन चाचा, अभी खा लिया तुम ने? पूजा नहीं करोगे?'

पूर्ण जवाब देता, 'फल, फल। चावल-लाई नहीं, फल हैं फल।'

तीस साल पहले जिस दिन इस कहानी का आरंभ हुआ, उस दिन स्थानीय धनिक ज़मीन्दार श्यामादास बाबू के यहाँ एक विराट् शांति पाठ के उपलक्ष्य में ब्राह्मण-भोजन हो रहा था। श्यामादास बाबू निःसंतान हैं, एक-एक करके पाँच-पाँच बच्चे हो कर भी जाते रहे। इस से पहले भी अनेक धार्मिक कृत्य हो चुके हैं, कोई फल नहीं हुआ। इस बार श्यामादास बाबू फिर शादी करने के लिए तैयार हो रहे थे, किन्तु पत्नी शिवरानी ने सजल नयन से अनुरोध किया, 'कुछ दिन और ठहर कर देखो। फिर मैं मना नहीं करुँगी, खुद मैं तुम्हारी शादी कराऊँगी।'

शिवरानी तब संतान-संभवा हो गई थी पुनः। श्यामादास बाबू ने उस के अनुरोध को मान लिया। केवल यही नहीं, इस बार उन्होंने ऐसी व्यवस्था की कि यदि वह व्यवस्था विफल हुई तो शिवरानी का फिर अनुरोध करने का कोई रास्ता ही न रहे। काशी, वैद्यनाथ, तारकेश्वर और अपने घर पर एक साथ स्वस्त्ययन आरंभ किया। स्वस्त्ययन नहीं कहना चाहिए इसे। संभवतः पुत्रेष्ठि यज्ञ कहना ही अधिक समीचीन होगा।

विपुल आयोजन है ब्राह्मण-भोजन का। श्यामादास बाबू विनम्रतापूर्वक प्रत्येक पंगत के प्रत्येक ब्राह्मण के पास जा कर देख रहे हैं—क्या नहीं है, क्या चाहिए। एक ओर पूर्ण चक्रवर्ती भी बैठ गया है, साथ में हैं उस के तीन बच्चे, पर अधिकार जमाये हुए हैं पाँच पत्तलों पर। पाँचवीं ख़ाली पत्तल पर अन्न, व्यंजन, मछली आदि का ढेर लगा है। यह पत्तल उस का परोसा है, जिस पर न्यायोचित अधिकार है उस का। वही श्यामादास बाबू के प्रतिनिधि के रूप में ब्राह्मणों को निमंत्रण देने गया था, फिर भोजन के समय बुला भी आया है—इसी का पारिश्रमिक है यह। ख़ास तौर से सिर्फ़ श्यामादास बाबू के यहाँ ही नहीं इस तरह करता है वह, सब जगह वह यही करता है। यहाँ के पाँच गाँवों में, चाहे जिस घर में और चाहे जितने मामूली ब्राह्मण-भोजन का आयोजन क्यों न हो, पूर्ण चक्रवर्ती स्वतःप्रवृत्त हो कर वहाँ पहुँच जाता है। कछनी काछे और पुश्तैनी रेशम की एक काली नामावली ओढ़े कारज वाले घर में हाज़िर हो कर कहता, 'हूँ, कहाँ गए मालिक, थोड़ा निमंत्रण के बारे में बता दीजिए—कहाँ-कहाँ जाना है? ओह् मछलियाँ तो बड़ी बढ़िया मालूम हो रही हैं। हुश् हुश्! अभी ले जाती चील!'

बहुत ऊँचाई पर आकाश में उड़ रही थी चील, पूर्ण चक्रवर्ती ने उसी को भगाकर गृहस्थ की हितैषिता का परिचय दिया। कड़ाके के जाड़े में आधी रात तक गाँव-गाँव में जा कर न्योतता फिरता है, आग बरसाती हुई गरमी की दुपहरी में भी फटी चड्ढी पहने भीगा अँगोछा सिर पर डाले भोजन के लिए ब्राह्मणों को बुलाने का कर्त्तव्य पालन करता है चक्रवर्ती। इसी कार्य के विनिमय में यह उस का पारिश्रमिक है। अस्तु।

श्यामादास बाबू ने पूर्ण के पास आ कर कहा, 'तुम्हें कुछ मछली और दी जाय चक्रवर्ती?'

चक्रवर्ती तब बीस मछलियाँ ख़त्म कर चुका था। काँटा चूस रहा था एक मछली का। बोला, 'जी नहीं, अभी मिठाई-विठाई जो बाक़ी है, ये बड़े-बड़े छैना बड़ा बने हैं, देख आया हूँ मैं।'

श्यामादास बाबू बोले, 'वे तो आएँगे ही। एक मछली और?'

पूर्ण पत्तल साफ़ करते हुए बोला, 'छोटी-सी ही हो!'

मछली ख़त्म होते-होते ही उधर तब मिठाई आ पहुँची।

चक्रवर्ती ने लड़कों से कहा, 'सब अच्छी तरह पत्तलें साफ़ कर डालो। नहीं तो नमकीन रसा लग कर मिठाई का स्वाद बिगड़ जाएगा। ऐः, तू तो कुछ भी नहीं खा पाया, मछली तक पड़ी है।' कह कर छोटे लड़के की पत्तल पर पड़ी आधी मछली को चट से उसी ने अपनी पत्तल पर उठा लिया। उसे ख़त्म करके अपनी गर्दन को थोड़ी ऊँची करके मिठाई परोसने वाले की ओर देखता रहा। बीच-बीच में आवाज़ दे रहा था, 'इधर।'

उधर की पाँत के लोग उस की यह हरकत देख कर हँस रहे थे आपस में, एक आदमी ने कहा, 'तनिक उस की आँखों को देख!'

'ओफ़्, जैसे आँखों से ही निगल रहा हो!'

'मैं तो भई, कभी उस के पास खाने नहीं बैठता। ओह्, कैसी नज़र है!'

तब तक मिठाई चक्रवर्ती की पत्तल के सामने पहुँच गई।

चक्रवर्ती ने मिष्ठान-परिवेशक के साथ झगड़ा करना शुरू कर दिया परोसे वाली पत्तल की मिठाइयों की अदद को ले कर। परिवेशक उस पत्तल पर चार मिठाइयाँ दे रहा था, चक्रवर्ती आठ माँग रहा था।

श्यामादास बाबू ने आ कर कहा, 'सोलह दो उस की परोसे वाली पत्तल पर। बेचारा निमंत्रण देने में कितना परिश्रम करता है, दो दो, सोलह मिठाइयाँ दो।'

पूर्ण चक्रवर्ती ने धोती का छोर फैला कर कहा, 'यहाँ दो।'

श्यामादास बाबू ने कहा, 'चक्रवर्ती, कल सुबह आओगे न? यहीं नाश्ता करना।'

'जो हुकुम, आ जाऊँगा।'

उधर से किसी ने मज़ाक किया, 'चक्रवर्ती, बाबू के विदूषक क्यों नहीं बन जाते—पहले ज़माने में जैसे राजाओं के हुआ करते थे?'

चक्रवर्ती परोसे वाली पत्तल को गमछे में बाँधता हुआ बोला, 'अगर बन जाऊँ तो अच्छा ही हो। ब्राह्मण हूँ ही, शर्म की क्या बात है इस में? फिर राजा-ज़मीन्दार के विदूषक बनने पर तर माल तो मिलेंगे खाने को' कहते-कहते हँस पड़ा।

घर आ कर परोसा बँधा गमछा बड़े लड़के के हाथ में दे कर चक्रवर्ती बोला, 'जा, घर में दे दे।'

लड़के के गमछे की पोटली हाथ में लेते ही मँझली लड़की बोली, 'मिठाइयाँ?'

'उन्हें मैं ले जाऊँगा, जा।'

'नहीं, तुम रख लोगे। गिन कर सोलह मिठाइयाँ लूँगी, हाँ।'

'अरे-अरे, कहती क्या है। सोलह कहाँ, आठ ही तो मिली हैं—सो भी झगड़ा करने पर।'

'हाँ, माँ! देखो, बाबा (पिताजी) ने मिठाइयाँ लुका रक्खी हैं, ऐ-ऐ-'

चक्रवर्ती की पत्नी वाकई एक रूपवती रमणी है। दारिद्रय का सर्वग्रासी आक्रमण भी उस रूप को जीर्ण नहीं कर पाया है। कृश शरीर, रूखे बाल, परिधान में हैं फटे मलिन वस्त्र। तो भी हैमवती सचमुच ही हैमवती है। उस के शरीर के कांचन वर्ण को देख कर सोने की प्रतिमा ही कहने की इच्छा होती है। सुंदर आयत नेत्र हैं, किन्तु उस की दृष्टि निष्ठुर ममताहीन है। ममताहीन अंतर और रूपमयी काया के साथ हैम एक उज्ज्वल बालुस्तरमयी मरुभूमि जैसी लगती है। प्रभात के बाद से ही दिन के बढ़ने के साथ-साथ मरू की तरह ही प्रखर से प्रखरतर बनती जाती है।

हैमवती के आ कर खड़े होते ही चक्रवर्ती ने डरते हुए लड़की को कहा, 'कह रहा हूँ, तू नहीं ले जा पाएगी, और लड़की लगी चिल्लाने. . .'

हैमवती ने कड़ी आवाज़ में कहा, 'दे दो।'

हैम के सामने धोती की खूँट खोल कर चक्रवर्ती ने अपना पीछा छुड़ाया।

लड़के ने कहा, 'बाबा को और मत देना, माँ। कितना खाया है बाबा ने आज, ओः! फिर कल सुबह भी बुलाया है बाबू ने बाबा को मिठाई खिलाने के लिए।'

हैम ने कड़ी आवाज़ में कहा, 'भाग मेरे सामने से, नालायक़! क्या पितृभक्ति है! तुम लोग मर क्यों नहीं जाते, तब मुझे भी राहत मिल जाती।'

पूर्ण ने अब हिम्मत करके कहा, 'देखो न, कितना बेहूदा है यह लड़का!'

हैम बोली, 'जिस का बाप लोभी पिशाच हो, वह और क्या होगा! स्कूल में पढ़ाने के लिए पैसे नहीं, बीमारी में दवा नहीं, तन पर वस्त्र नहीं, तो भी उन्हें मौत नहीं आती। राक्षस हैं, अखंड आयु ले कर जनमे हैं!'

चक्रवर्ती चुप रहा। हैम जैसे आग बिखेरते हुए चली गई। चक्रवर्ती ने लड़के से कहा, 'देख तो रे, एक टुकड़ा हर्र या सुपाड़ी अगर हो अंदर। अपनी माँ से मत माँगना, समझा?'

संध्या के बाद चक्रवर्ती हैम के पास बैठ कर उस की खुशामद में लग गया। हैम अपनी गोदी के बच्चे को सुला रही थी। चक्रवर्ती और बच्चे तो न्योता खा आए हैं, रात को खाना पकाने का झंझट नहीं है आज। जो परोसा आया है उस से हैम और गोदी वाले बच्चे का काम चल गया है।

बहुत खुशामद करने पर भी हैम विशेष प्रसन्न नहीं हुई, कम से कम चक्रवर्ती को यही लगा। लिहाज़ा अपने मन की बात कहने की हिम्मत नहीं पड़ी उसे। उस की यह तीव्र इच्छा थी कि रात को कई छैने-बड़े वह खाय। उस की तृप्ति नहीं हुई थी मिठाई खा कर। हृदय में लालसा क्रम—वर्द्धमान बह्निशिखा की तरह प्रज्ज्वलित हो रही थी।

धीरे-धीरे कुछ देर बाद हैमवती सो गई। दुर्बल शरीर है, तिस पर फिर गर्भवती है। शाम के बाद से ही उस का शरीर टूटने लगता है। बच्चे भी सब सो गए हैं। चक्रवर्ती ने हैम की ओर अच्छी तरह देखा। हाँ, हैम सो गई है। थोड़ा और इंतज़ार करके चक्रवर्ती ने हैम के आँचल से चाबियों का गुच्छा खोल लिया और चुपचाप बाहर चला गया।

अगले दिन सुबह उठ कर ही बच्चों ने नाचते-नाचते चिल्लाना शुरू किया कि वे छैना बड़ा खाएँगे। बड़ा लड़का बार-बार माँ के पास जा कर कह रहा था, 'माँ, मुझे पूरा एक देना पड़ेगा।'

हैम ने नाराज़ हो कर कहा, 'सब-सब-सब मिठाइयाँ निकाले देती हूँ, एक क्यों?'

चाबी खोल कर घर में घुसते ही वह हैरत में आ गई और स्तब्ध खड़ी रही। जिस छींके पर मिठाइयाँ टँगी थीं उसे किसी ने काट डाला है, अधिकांश मिठाइयाँ नहीं हैं, तीन-चार सिर्फ़ फ़र्श पर पड़ी हैं—सो भी रसहीन, शुष्क—पूरी तरह रस चूस कर छोड़ दी गई हैं। टूटे छींके को उठा कर उस ने देखा कि उसे काटा नहीं गया है, खींच कर तोड़ा गया है। एक निष्ठुर कठिन हँसी उस के चेहरे पर उभर आई।

बाबू ने कहा, 'चक्रवर्ती, गिन्नी (गृहिणी) की बड़ी इच्छा है कि इस बार तुम उन की सौरी के दरवाज़े पर रहो।' यहाँ की प्रचलित प्रथानुसार सूतिकागृह के दुआर के सामने रात को एक ब्राह्मण रखना पड़ता है। चक्रवर्ती की सब की सब संतान जीवित हैं, चक्रवर्ती-गृहिणी आदर्श प्रसूति है। उस की सौरी के दुआर पर चक्रवर्ती ही लेटा रहता है। तभी इस बार शिवरानी की यह इच्छा हुई है। यों ही लोक-कल्याण की छोटी-मोटी बातों में वह निरंतर व्यस्त रहता है। श्यामादास बाबू भी उस की कोई इच्छा अपूर्ण नहीं रक्खेंगे।

चक्रवर्ती बोला, 'हूँ, जी तब...'

एक मुसाहिब तब बोल उठा, 'जी तब-यब की कोई बात नहीं है, चक्रवर्ती। रात को ठाठ से यहाँ आ कर दिव्य भोजन करना, भरपेट भोजन के बाद राज शय्या पर आराम से सोना, समझे?' कह कर उस ने खों-खों करके खर्राटा भरना शुरू कर दिया।

आहार और आराम के वर्णन से पुलकित हो कर चक्रवर्ती ने मुसकरा कर कहा, 'हूँ, जब हुज़ूर कह रहे हैं, तब

यही होगा।'

श्यामादास बाबू ने कहा, 'तुम बैठो, मैं नाश्ता करके आ रहा हूँ। तुम्हारा भी नाश्ता आ रहा है।' कह कर वे पास वाले कमरे में चले गए।

एक नौकर आसन बिछा कर मिष्ठान से भरी एक थाली और पानी का गिलास रख गया।

एक व्यक्ति बोला, 'खाओ, चक्रवर्ती।'

'हूँ। थोड़ा पानी चाहिए, हाथ धोने को।'

एक और मुसाहिब ने कहा, 'गंगा-गंगा कह कर बैठ जाओ चक्रवर्ती। ''अपवित्र पवित्रोवा, उं विष्णु'' स्मरण करने पर सब शुद्ध हो जाता है, बैठ जाओ।'

गिलास के पानी से ही हाथ धो कर लोलुपतापूर्वक थाली के सामने बैठ गया चक्रवर्ती।

पास के कमरे से जलयोग (नाश्ता) ख़त्म करके आ कर श्यामादास बाबू ने कहा, 'पेट भरा चक्रवर्ती?'

चक्रवर्ती के मुँह में तब एक सालिम छैना बड़ा था। एक पार्षद बोल उठा, 'जी, इस वक़्त बोलने की फ़ुरसत नहीं है चक्रवर्ती को।'

उसे समाप्त करके चक्रवर्ती बोला, 'जी, भर गया। तिल धरने की जगह नहीं है पेट में अब और।'

वह उठ पड़ा।

श्यामादास बाबू बोले, 'तुम्हारे कल्याण से अगर मेरी मनोकामना सिद्ध हो जाए चक्रवर्ती, तब मैं तुम्हें दस बीघे ज़मीन दूँगा और आजीवन तुम्हें सिंहवाहिनी (दुर्गा) के प्रसाद की एक थाली मिलेगी। तब बात पक्की रही, क्यों?'

सिंहवाहिनी के प्रसाद की कल्पना से पुलकित हो उठा चक्रवर्ती। सिंहवाहिनी के भोग का प्रसाद—वह तो राजभोग है!

'जी हाँ, बिल्कुल पक्की। हुज़ूर की. . .'

बात बिना ख़त्म किए ही वह सहसा बोल उठा, 'देखूँ, देखूँ, अरे, देखूँ. . .' उस की आँखें जैसे जल उठीं।

खानसामा श्यामादास बाबू के जलयोग की झूठी थाली ले कर सामने से जा रहा था। थाली में बची थी एक बरफ़ी और एक मालपुआ। चक्रवर्ती की लोलुपता अकस्मात् बाँबी में से फ़न उठाए साँप की तरह प्रकट हो गई। चक्रवर्ती स्थान-काल सब भूल कर बोल उठा, 'देखूँ, देखूँ, अरे, देखूँ. . .'

श्यामादास बाबू अरे-अरे कर उठे, 'यह क्या करते हो, जूठा है-जूठा है। अभी और मँगवाए देता हूँ।'

चक्रवर्ती ने तब तक थाली पर क़ब्ज़ा कर लिया था। बरफ़ी को मुँह में डाल कर बोला, 'जी, राजा का प्रसाद है यह।'

और अधिक न कह पाया, क्योंकि तत्काल उसे अपनी ग़लती का भान हो गया। लेकिन कोई चारा भी नहीं था तब, बरफ़ी निगलनी ही पड़ी उसे। शर्म से सिर नीचा किए काम का बहाना करके फौरन वहाँ से खिसक गया।

घर में तब तूफ़ान उठ खड़ा हुआ था। हैम अचेत पड़ी है, छोटे बच्चे रो रहे हैं। बड़ा कहीं भाग गया है।

मँझली लड़की ने रोते-रोते कहा, 'सब मिठाइयाँ न जाने कौन खा गया है, तभी दादा ने माँ से झगड़ा किया और फिर धक्का मार कर भाग गया। माँ गिर कर. . .'

रुलाई फूट पड़ने से वह अपनी बात पूरी नहीं कर सकी। चक्रवर्ती की आँखों में भी पानी आ गया। पानी का लोटा और पंखा ले कर हैम के पास बैठ गया सुश्रूषा करने और व्यग्र हो कर उस के चेहरे की ओर देखने लगा।

चेतना लौटते ही हैम पति को देख कर बोल उठी, छी-छी! क्या कहूँ मैं तुम से, छीः!'

चक्रवर्ती ने हैम के पैर पकड़ कर कुछ कहने की कोशिश की, पर हैम चिल्ला उठी, 'मैं अपना सिर फोड़ लूँगी,

छोड़ो, पैर छोड़ो!'

सारे दिन हैम निर्जीव की भाँति पड़ी रही। संध्या के क़रीब उस के स्वस्थ हो उठने पर चक्रवर्ती ने उसे सब बातें बता कर कहा, 'तुम्हारा भी कहती हो वही वक़्त है, तब मैं कह दूँगा कल कि नहीं आ सकूँगा।

हैम ने चिल्ला कर कहा, 'नहीं नहीं नहीं। मर जाने दो मेरे को हो कर। मुझे छुट्टी मिल जाएगी। ज़मीन मिलने पर बाक़ी बच्चे तो जी सकेंगे।'

सावन के पहले हफ़्ते में ही। उस दिन संध्या के समय श्यामादास बाबू के आदमी ने आ कर चक्रवर्ती को बुलाया, 'चलिए आप, गिन्नी माँ को प्रसव वेदना हो रही है।'

चक्रवर्ती चिन्तित हो उठा। हैम की तबीअत भी न जाने आज कैसी हो रही है।

हैम बोली, 'जाओ तुम।'

'लेकिन. . . .'

'मुझे और तंग न करो, भई, जाओ तुम, घर में बड़ा लड़का है ही।'

चक्रवर्ती ने गहरी उसाँस भरी और घर से बाहर चला गया। ज़मीन्दार-भवन में तब तक आदमियों का ठट्ठ लग गया था। श्यामादास बाबू ने कहा, 'आओ चक्रवर्ती, आओ। मैं बड़ा व्यस्त हूँ अब। तुम पाकशाला में जा कर खा-पी आना।'

चक्रवर्ती तभी सीधे पाकशाला में जा पहुँचा।

'हूँ, महाराज (रसोइया), क्या बन रहा है आज? वाह!, खुशबू तो बढ़िया निकल रही है! क्या है जी यह, मछली काकलिया या गोश्त?'

'गोश्त। माँ के यहाँ मन्नत किए हुए बकरे की बलि हुई है न।'

'हूँ, तुम तो रसोई भी बहुत उम्दा करते हो। तिस पर आज बलि का दिन है। कितनी देर लगेगी और, कितना वक़्त लगेगा और पकने में? थोड़ा दो न, चख कर देखूँ।'

पास पड़े एक शाल के पत्ते के टुकड़े से एक दोना बना कर एकदम गोश्त की कड़ाही से सट कर बैठ गया। रसोइए महाराज ने नाराज़ हो कर कहा, 'बड़े लालची हो तुम, चक्रवर्ती!'

'हूँ, बात तो ठीक कहते हो। यक़ीनन थोड़ा हूँ तो ज़रूर ज़्यादा।'

थोड़ा चुप रह कर बोला, 'पकने में अभी देर है शायद?'

एक कलछी अधपका मांस और रसा उस के दोने में डाल कर रसोइए ने कहा, 'लो देखो, मेरे कहने पर तो तुम्हें यक़ीन नहीं होगा। चख कर खुद ही देख लो।'

उस गरम रसे में से थोड़ा सड़ाक से अंदर खींच कर चक्रवर्ती बोला, 'हूँ। वाह! बहुत बढ़िया बना है रसा! तुम्हारी रसोई होती ही अच्छी है।'

रसोइया अपने काम में लगा था, उस ने कोई जवाब नहीं दिया। चक्रवर्ती फिर बोला, 'हूँ। इस इलाक़े में तुम जैसा रसोइया और कोई नहीं। मांस अभी पका नहीं है ठीक से, पर खाने में अच्छा लग रहा है।'

रसोइया बोला, 'चक्रवर्ती, तुम अब यहाँ से चले जाओ। खाना तैयार होने पर नौकर ख़बर दे देगा। मुझे काम करने दो। जाओ, उठो।'

चक्रवर्ती वहाँ से उठता कि नहीं, इस में संदेह है। लेकिन उसी वक़्त उस के बड़े लड़के ने वहाँ आ कर पुकारा, 'बाबा!'

चक्रवर्ती ने उस के पास आ कर पूछा, 'क्या है, रे?'

'घर चलो एक बार अभी। लड़का हुआ है।'

'तेरी माँ, तेरी माँ कैसी है?'

'ठीक है। पर दाई-वाई कोई नहीं है, दाई चली आई है यहाँ बाबू के घर। नाल काटने के लिए बुलाना है किसी को।'

चक्रवर्ती फ़ौरन लड़के के साथ चला गया।

'हैम।'

'फ़िक्र मत करो, ठीक हूँ मैं। तुम शूद्रों की दाई को बुला लाओ, नाल काट जाएगी। हमारी दाई तो मिलेगी नहीं।'

यही हुआ। दाई ने नाल काट कर कहा, 'बड़ा सुंदर खोका (लड़का) हुआ है बाबू। माँ-बाप के सुंदर न होने पर कहीं बच्चा सुंदर होता है। माँ कितनी रूपवती है यह भी तो देखना पड़ेगा।'

हैम बोली, 'जा जा, बके मत तू। तेरा काम हो गया, जा अब।'

चक्रवर्ती ने कहा, 'हूँ, तब क्या किया जाए? खोका जा कर कह आए कि बाबू कोई दूसरा आदमी देख लें।'

हैम बोली, 'मेरा जी न जलाओ। जाओ कहती हूँ, जाओ।'

चक्रवर्ती फिर अँधेरे में बाबू के घर की ओर चल दिया।

अर्द्धरात्रि को ज़मीन्दार-भवन शंखध्वनि से मुखरित हो उठा। शिवरानी ने एक पुत्र को जन्म दिया। पहले से ही डॉक्टर मौजूद था, उसी ने अत्यधिक सतर्कतापूर्वक नाल काटी। गरम जल से शिशु के शरीर को धो-पौंछ कर जब वह दाई की गोदी में बच्चे को दे कर विदा हुआ, तब रात प्रायः समाप्त होने वाली थी।

सवेरे चक्रवर्ती के घर जाते ही हैम बोली, 'देखो जी, बच्चे को बुखार सा लग रहा है।'

चक्रवर्ती चौंक पड़ा, 'हूँ, तब. . .'

फिर शिकायत के लहज़े में बोला, 'तभी कहा था मैं ने कि नहीं जाऊँगा मैं। लेकिन तुम नाराज़ हो गईं। कैसे क्या हो गया—कौन जाने!'

हैम ने कहा, 'ऐसी कोई बात नहीं, ठीक हो जाएगा अपने आप। अब थोड़ा साबू या दूध-वूध लाने की कोशिश करो। मुझे तो काट डालने पर भी एक बूँद दूध नहीं निकलेगा।'

पैसे नहीं थे दूध ख़रीदने के लिए। प्रातः कृत्य से निवृत्त हो कर चक्रवर्ती ज़मीन्दार-भवन की ओर ही चल दिया दूध के लिए। कचहरी-घर में हाथ में लोटा लिए वह बाबू को ढूँढ़ रहा था। बाबू नहीं थे। सब लोग व्यस्तता से आ-जा रहे थे। किसी ने चक्रवर्ती की ओर ध्यान तक नहीं दिया।

बाबू का ख़ानसामा भीतर से निकल कर कहीं जा रहा था, उस ने चक्रवर्ती को देख कर कहा, 'आज प्रसाद-व्रसाद नहीं मिलेगा, महाराज। जाओ, घर जाओ।'

म्लानमना चक्रवर्ती धीरे-धीरे बरामदे से नीचे उतर आया। एक नौकर निराले में बैठ कर तमाखू पी रहा था, चक्रवर्ती ने उसी से पूछा, 'क्योंजी, बच्चे के लिए आज गाय नहीं दुही गई है?'

उस ने जवाब दिया, 'क्यों महाराज धारोष्ण दूध पीयोगे? बड़े पेटू हो तुम महाराज! नहीं, गाय नहीं दुही गई है। बच्चा बीमार हो गया है आज। वह सब नहीं होगा अब, जाओ।'

नवजात शिशु की अस्वस्थता संभवतः भोर से ही शुरू हो गई थी, पर इस का पता नहीं चला। सारे दिन के यंत्रणाभोग के बाद शिवरानी सो गई थी। रात जगने के कारण दाई को भी नींद आ गई थी।

सुबह काफ़ी देर गए उठी शिवरानी। बच्चे को गोद में लेते ही भय से आशंकित हो उठी। यह क्या, न जाने कैसा हो गया है बच्चा। उस के पहले बच्चे भी इसी तरह. . .। रोने लगी शिवरानी। बच्चे का चमकता गोरा रंग फीका पड़ गया है।

शिवरानी ने आर्त स्वर में कहा, 'यमुना, एक बार बाबू को तो बुला।'

श्यामादास बाबू के आते ही वह बोली, 'डॉक्टर को बुलाओ, बच्चा न जाने कैसा हो गया है। वही बीमारी है!'

श्यामादास बाबू ने गहरी उसाँस खींच कर कहा, 'दुर्गा दुर्गा!'

फ़ौरन उन्होंने डॉक्टर बुलाने के लिए आदमी भेजा। स्थानीय डॉक्टर तुरंत आ गया और उस की सलाह के मुताबिक़ शहर भी आदमी भेजा बड़े डॉक्टर के लिए। जैसे-जैसे दिन चढ़ता गया, देखा गया शिवरानी की आशंका सच्ची है, वाक़ई बच्चा बीमार है। धीरे-धीरे उस के शरीर के वर्ण से आकृति तक में एक अस्वाभाविक परिवर्तन आ रहा है। इसी भयंकर व्याधि से शिवरानी के सब बच्चे इसी तरह एक-एक करके सौरी में ही जाते रहे हैं।

अपराह्न में सदर से बड़े डॉक्टर ने आ कर कुछ क्षण शिशु को देखा, फिर एक लंबी उसाँस खींच कर कहा, 'चलिए, देख लिया मैं ने।'

दाई बोल उठी, 'डाक्दर साहब, बच्चा. . .'

उस का सवाल पूरा होने से पहले ही डॉक्टर ने कहा, 'दवा दे रहा हूँ।'

श्यामादास बाबू के साथ डॉक्टर बाहर चला गया।

श्यामादास बाबू की मौसी ने सौरी के दरवाज़े पर खड़े हो कर दाई से कहा, 'कहाँ है, ला तो देखूँ लड़के को।'

बच्चे की हालत देख कर उन्होंने दीर्घ निश्वास ले कर कहा, 'हाय रे किस्मत!' यह कह कर माथा पीट लिया अपना। घर के भीतर तब शिवरानी फूट-फूट कर रो रही थी।

मौसी ने अपने आप ही कहा, 'उसे तो बाहर निकालना ही पड़ेगा। पर कहूँ कैसे यह। और जच्चा की गोदी में भी तो. . .'

डॉक्टर ने श्यामादास बाबू से कहा, 'बुरा न मानें, श्यामादास बाबू तो दो-एक बात पूछूँ?'

'पूछिए!'

प्रश्नों के ज़रिए डॉक्टर ने श्यामादास बाबू के यौवन के इतिहास से अवगत हो कर कहा, 'मेरा भी यही ख़याल था। यही आप के बच्चों की अकाल मृत्यु का कारण है।'

'तब यह बच्चा भी. . .'

'नहीं, कोई उम्मीद नहीं बचने की', कह कर चला गया डॉक्टर।

श्यामादास बाबू के घर में आते ही मौसी अपने मन की बात व्यक्त करके बोलीं, 'नहीं तो जच्चा की गोद में मरेगा क्या बच्चा? यह तो बड़े दोष की बात होगी बेटा, आचार-आचरणों को तो मानना ही पड़ेगा।'

आचार की रक्षा करने में विचार करने की आवश्यकता नहीं होती और हिन्दू परिवार में आचार को ही धर्म की भित्ति माना जाता है। लिहाज़ा शिवरानी की गोदी को ख़ाली करके बच्चे को सौरी के बाहर बरामदे में मृत्यु की प्रतीक्षा में सुला दिया गया। उस के पास दाई रही, पहरे में ब्राह्मण रहा और उस के सिरहाने रही देवता के निर्माल्य की राशि। सौरी में पुत्र-शोकातुरा शिवरानी की सेवा तथा सांत्वना के लिए रही यमुना दासी।

श्रावण की मेघाच्छन्न अँधियारी रात्रि। चक्रवर्ती बैठा चिलम पर चिलम पिए जा रहा था। उस के घर का बच्चा भी अस्वस्थ है। पर ठीक हो जाएगा वह। बीच-बीच में चक्रवर्ती मन ही मन विद्रूप हँसी हँस रहा था। वह सोच रहा था : कैसी विधिलिपि है! उस का बच्चा मर के अगर यह बच्चा जी जाता, तो चक्रवर्ती भी बच जाता। दस बीघे ज़मीन और सिंहवाहिनी के प्रसाद की एक थाली प्रतिदिन! भाग्य की चिकित्सा क्या डॉक्टर कर सकता है!

कभी-कभी बच्चा धीमी आवाज़ में बेहद तकलीफ़ से कराह उठता था।

चक्रवर्ती ने दाई से कहा, 'थोड़ा पानी-वानी दे न रे उस के मुँह में।'

नींद से बेहाल दाई बोली, 'पानी क्या उस के गले से उतरेगा, महाराज? कहते हो, दे रही हूँ।'

उस ने उठ कर कुछ पानी की बूँदों से उस के ओंठ भिंगो दिए। इस के बाद लेटते हुए बोली, 'सो क्यों नहीं जाते महाराज? तुम्हारी नींद क्या हवा हो गई है आज?'

चक्रवर्ती की आँखों में सचमुच नींद नहीं थी। वह बैठा अँधेरे आकाश की ओर देखता हुआ अपने भाग्य की बात सोच रहा था। उस का भाग्याकाश भी इसी प्रकार अंधकारमय है। ओह्, अगर यह बच्चा किसी जादू-मंत्र से बच जाए! चक्रवर्ती ने अपने यज्ञोपवीत से बच्चे के माथे को छुआ। सहसा वह सिहर उठा। भय से उस का सारा शरीर काँपने लगा थर-थर।

नहीं, नहीं, यह नहीं हो सकता। पता चल गया तो मुसीबत हो जाएगी। देखते-देखते पसीने से लथपथ हो गया उस का सारा शरीर। वह फिर 'तमाकू' पीने बैठ गया।

दाई नींद में बेख़बर खर्राटे ले रही है। कमरे से शिवरानी के रोने की आवाज़ भी नहीं सुनाई दे रही है। चिलम की आग में फूँक मारते हुए फिर चंचल हो उठा चक्रवर्ती। जलते अंगारों की रोशनी में उस की आँखें भी चमकने लगीं।

ओह, हमेशा के लिए उस की तकलीफ़ दूर हो जाएगी। इस बच्चे की शक्ल तो सुबह से ही बिगड़ने लगी है, उस का बच्चा भी कुरूप नहीं है। दरिद्र की संतान होने पर भी अपनी जननी की ओर से वह रूप ले कर पैदा हुआ है। सारी संपत्ति उस के बच्चे की हो जाएगी! ओह!

पाप जैसे अदृश्य रूप से सामने खड़े हो कर उसे पुकार रहा था। घने अँधेरे में भी चक्रवर्ती की आँखों के सामने एक प्रकाशोज्ज्वल भविष्य झलमला रहा था। चक्रवर्ती उठ कर खड़ा हो गया। पर बच्चे के पास जा कर फिर उसे डर लगा। किन्तु क्षण भर के लिए ही। अगले ही क्षण मृतप्राय शिशु को कपड़े में लपेट कर उठा लिया उस ने और पिछवाड़े के छोटे दरवाज़े से सतर्कतापूर्वक बाहर निकल गया।

आश्चर्य! जैसे पंख लग गए हों, उस के पैरों में। तेज़ क़दमों से बढ़ता चला जा रहा है चुपचाप। रास्ता अँधेरा होने पर भी आज उसे साँप या किसी जंगली जानवर का डर नहीं लग रहा है, ध्यान ही नहीं है उस का इधर।

टूटा-फूटा घर। चारों ओर की चहारदीवारी भी पूरी नहीं है। हैम की सौरी तक में दरवाज़ा नहीं है। किसी तरह एक टट्टी से रोक लगा दी गई है। हैम भी गहरी नींद में बेसुध सोई है।

चक्रवर्ती हवा जैसी क्षिप्र गति से फिर वापस आ गया।

उस समय भी दाई खर्राटे ले रही थी।

बच्चा बीमार तो है, पर उस की ज़िन्दगी का ख़तरा नहीं। रह-रह कर वह अपेक्षाकृत सबल क्रंदन से अपना अभियोग व्यक्त करने लगा। पर दाई की नींद नहीं खुली। चक्रवर्ती गहरी नींद का बहाना करके काठ बना पड़ा रहा।

बच्चा फिर रो उठा। कमरे के भीतर से तभी शिवरानी के रोने की अस्फुट आवाज़ आती हुई मालूम पड़ी।

बच्चा फिर रोया।

इस बार यमुना ने सौरी का दरवाज़ा खोल कर कहा, 'दाई, अरी ओ दाई! तू तो खर्राटे ले रही है। महाराज भी गहरी नींद में सोए हैं। ओ दाई!'

दाई धड़फड़ उठ बैठी। यमुना बोली, 'बच्चे की देखभाल कर रही है तू इस तरह! बच्चा रो रहा है कब से, थोड़ा-थोड़ा पानी दे उस के मुँह में।'

फ़ौरन दाई ने बच्चे के मुँह में पानी की बूँद टपकाई। अपने ओंठों को चाट कर बच्चे ने जैसे फिर पानी माँगा। दाई ने फिर पानी दिया।

यह देख कर वह अचरज से बोली, 'अरे, पानी पी रहा है यह ओंठ चाट-चाट कर।'

कमज़ोरी की हालत में भी उठ कर बैठ गई शिवरानी और बोली, 'ले आ, भीतर ले आ मेरे बच्चे को। किसी की नहीं सुनूँगी अब मैं।'

सुबह आदमी फिर दौड़ा शहर में। इस बार दूसरा डॉक्टर आएगा। मृत्यु के द्वार से लौट आया है नवजात शिशु। देवता का दान है, ब्राह्मण का प्रसाद है। चक्रवर्ती ने अपने बच्चे की उम्र राजा के बच्चे को बख़्श दी है। बेचारे का बच्चा मर गया है। प्रायांधकार सूतिकाकक्ष में शिवरानी ज्वर पीड़ित शिशु को गोद में लिए बैठी है। उस का भाग्य-देवता, उस का अपहृत रत्न!

दस बीघा ज़मीन चक्रवर्ती को मिल गई। प्रतिदिन सिंहवाहिनी के प्रसाद की एक थाली भी मिलने लगी। हैम की प्रकृति अब अपेक्षाकृत शांत हो गई है। लेकिन चक्रवर्ती के चाल-चलन में कोई फ़र्क़ नहीं आया।

लोग कहते—'स्वभाव मरने पर भी नहीं बदलता।'

चक्रवर्ती कहता, 'हूँ, सो तो है ही।'

हैम ने लड़कों को भरती कर दिया है स्कूल में। बड़ा लड़का बेहूदी बातें नहीं करता। पर बड़ी-बड़ी बातें कहता है, 'बाबा की हरकतों के लिए स्कूल में मुँह दिखाना मुश्किल हो गया है, हाँ। तरह-तरह की बातें कहते हैं लड़के। बड़ी शर्म आती है। तुम मना कर देना बाबा को कि अपनी पुरानी आदतों को छोड़ दें।'

हैम के इस बात को कहते ही चक्रवर्ती सहसा आग की तरह जल उठा। उस के इस अस्वाभाविक स्वरूप को देख कर हैम भी हैरत में आ गई।

चक्रवर्ती बोला, 'चला जाऊँगा मैं घर छोड़ कर, संन्यासी बन जाऊँगा?'

बात और भी आगे बढ़ती। पर तभी बाहर से किसी ने पुकारा, 'चक्रवर्ती!'

'कौन?'

'बनर्जी बाबू ने भेजा है। सौगात भेज रहे हैं लड़की के यहाँ, तुम्हें जाना पड़ेगा साथ, उन के यहाँ से कोई नहीं जा सकेगा। काफ़ी फ़ायदा होगा तुम्हें—दिव्य भोजन करोगे, अच्छी दक्षिणा भी मिलेगी।'

'अच्छा, चलो।'

चल दिया चक्रवर्ती। बनर्जी बाबू के यहाँ जहाँ मिठाई बन रही थी, वहाँ जा कर बैठ गया और बोला, 'ब्राह्मणस्य ब्राह्मणम् गति। हूँ, जाऊँगा क्यों नहीं। भट्ठी में एक और लकड़ी डाल दूँ, क्यों भाई मोदक?'

सतृष्ण दृष्टि से वह मिठाई की कड़ाही की ओर देखने लगा।

दस साल बाद। अकस्मात् शिवरानी की मृत्यु हो गई। लोगों ने कहा, 'कितनी भाग्यवान है! पति-पुत्र को छोड़ कर ठाट से चली गई।'

श्राद्ध के उपलक्ष्य में श्यामादास बाबू ने विराट आयोजन प्रारंभ किया। चक्रवर्ती का अब यहीं डेरा बन गया दिन भर के लिए। सुबह होते ही आ धमकता है, बैठे-बैठे ही सारे बंदोबस्त का जायज़ा लेता है, बीच-बीच में ब्राह्मण-भोजन के आयोजन के विषय में दो-एक बात कहता है।

उस दिन बोला, 'हूँ, परोसा तो दिया ही जाएगा एक-एक। उस में कितनी-कितनी पूरी-मिठाई रहेगी?'

एक आदमी ने मज़ाक किया, 'दिया जाएगा, दिया जाएगा। उस में एक पूरी रहेगी इस बड़ी चलनी की तरह और एक पँतुआ रहेगा इस गाव तकिए की तरह, समझे?'

सब मुस्कराने लगे। श्यामादास बाबू ने थोड़ा नाराज़ हो कर कहा, 'थोड़ा रुको तो तुम सब। हाँ, क्या हुआ, नहीं मिला कोई?'

एक कर्मचारी से बात कर रहे थे वे। कर्मचारी बोला, 'जी नहीं, उन का वंश ही निर्वंश हो गया है।'

'तब दूसरी जगह आदमी भेजो। अग्रदानी[१] के बिना तो श्राद्ध कर्म नहीं हो सकता।'

'अच्छा, देखता हूँ आदमी भेज कर। अग्रदानी ज़्यादा हैं भी तो नहीं, दस-बीस कोस में एकाध घर होता है उन का।'

तभी कोई बोल उठा, 'हमारे चक्रवर्ती जो मौजूद हैं। चक्रवर्ती, तुम्हीं लो न दान, क्या हर्ज़ है? तुम्हारा बिगड़ेगा ही क्या समांज से पतित होने पर?'

श्यामादास बाबू भी उत्सुक हो कर बोले, 'क्या नुकसान है चक्रवर्ती। केवल दान-सामग्री ही नहीं, कुछ भू-संपत्ति भी मिलेगी। पच्चीस बीघे ज़मीन दूँगा मैं, अगर तुम राज़ी हो जाओ, पाँच सौ रुपए साल और दूँगा, देख लो।' यह कह कर उन्होंने इधर-उधर देख कर नौकर को पुकारा, 'अरे कहाँ गया, चक्रवर्ती के लिए नाश्ता तो ला। कलकत्ता से जो मिठाई आई है, वही ला।'

श्राद्ध के दिन सब ने देखा कि श्यामादास बाबू का वंशज शिवरानी का श्राद्ध कर रहा है, और उस के सामने अग्रदान ग्रहण करने के लिए बैठा है पूर्ण चक्रवर्ती।

इस के बाद गोशाला में बैठ कर उसी के हाथ से अग्रदान ग्रहण करके चक्रवर्ती ने साग्रह पिण्ड भोजन भी किया।

कहानी तो यहीं ख़त्म हो जाती है पर चक्रवर्ती की कहानी यहाँ नहीं ख़त्म होती। आगे बयान न करने पर अधूरी ही रह जाएगी वह।

हीनवृत्ति, आहार-लोलुप चक्रवर्ती अपनी संतान के हाथ से पिण्ड-भोजन करके भी तृप्त नहीं हुआ। लुब्ध दृष्टि

१. प्रेतोद्दिष्ट दान ग्रहण करने वाला पतित ब्राह्मण।

और लोलुप रसना लिए उसी तरह चलाता रहा वह अपना जीवनक्रम। इस श्राद्ध के चौदह साल बाद एक दिन वह आ कर श्यामादास बाबू के पैरों पर लोट गया। श्यामादास बाबू अपने दो साल के पौत्र को गोदी में लिए एक सूखे पीपल के पेड़ की तरह खड़े थे।

चक्रवर्ती ने उन के पैरों को जकड़ कर कहा, 'मुझ से नहीं होगा यह बाबू, नहीं होगा।'

श्यामादास बाबू गहरी उसाँस खींच कर बोले, 'बिना किए चारा नहीं है कोई चक्रवर्ती। मैं बाप हो कर उस के श्राद्ध की व्यवस्था कर रहा हूँ, नई उमर की लड़की—उस की विधवा स्त्री—श्राद्ध कर सकेगी, और तुम अपना काम नहीं कर सकोगे, यह कहने से कैसे छुटकारा मिल सकता है? इस के लिए भी तुम्हें दस बीघे ज़मीन मिलेगी।'

श्यामादास बाबू का वंशज शिशु-पुत्र और तरुणी पत्नी छोड़ कर मर गया है, उसी का श्राद्ध होगा।

लाचार हो कर चला आया चक्रवर्ती।

श्राद्ध के दिन, गोशाला में बैठा कर विधवा वधू ने चक्रवर्ती को पिण्ड पात्र अर्पण किया।

पुरोहित बोला, 'चक्रवर्ती, खाओ।'

बाङ्ला से अनुवाद : **रसिक बिहारी**

प्रेम प्रकाश

बापू

गाँव में सब से सुंदर सजा हुआ हमारा घर कामरेड देवी पंगे का घर कहा जाता है। वह मेरा बापू था। आज उसे मरे हुए 26 साल बीत गए हैं।

मैं अपने पक्के आँगन में अमलतास के फूलों की छाँह में लेटा हुआ हूँ। झूमरों जैसे फूलों ने पत्ते भी ढक लिए हैं। ...बैसाख में इन पर फूल आते हैं? खेतों में गेहूँ की.फ़सल पकती है। मुझे बापू याद आता है। इन्हीं दिनों वह हम से रूठ कर चाचा दीनानाथ के चौबारे में चला गया था और वहीं उस ने प्राण छोड़ दिए थे। उस की मौत मेरे कारण हुई थी या मेरी पत्नी सीतो के कारण?... शायद इस में दोष दोनों का ही था। कुछ बापू का भी। ...बस क़ुदरत ने ऐसी होनी निश्चित कर दी थी जो हम तीनों ही नहीं चाहते थे।

पहले मेरे अंदर यह दुख घर कर गया था कि जाट का पूत ग़रीबी भोगता रहा जब सुख के दिन आए तो उम्र पूरी हो गई। ...फिर जब मेरी पत्नी ने मुझे बीता हुआ सच बता दिया था तो वह दुख मेरे अंदर ऐसा केंचुआ बन कर बैठ गया था जिसे मेरी पत्नी, बेटे-बेटियों-बहुओं पोते-पोतियों का प्यार और बैंकों की कापियाँ भी निकाल नहीं पाई थीं।

बहू दो बार चाय के लिए पूछ गई थी पोता भी 'झात' कर गया था। ...मुझे कोई कष्ट नहीं है फिर भी इन दिनों दिल जैसे डूबता-सा जाता है। कुछ गल रहा है मेरे अंदर।

जब बापू मरा था मुझे ग्लानि ने दबोच लिया था। उस ने पराए घर की चारपाई पर आख़िरी साँस छोड़ी थी। वह गाँव में क्या सारे इलाक़े में बदनाम हो गया था। बदनामी सारे परिवार की हुई थी। ससुर ने बहू पर हाथ डाला था। ...फिर भी हम ने पाठ रखा था। उस की आत्मा की शांति के लिए नहीं; वह तो परमात्मा को मानता ही नहीं था... बस यूँ ही लोक लाज बचाने का जुगाड़ किया था।

यह अमलतास का दरख़्त बापू ने लगाया था। तब लोगों ने मज़ाक उड़ाया था। बापू ने खेतों में बने कुएँ के आसपास भी जब सफ़ेदे, पॉपलर और ढाक के पेड़ लगवाए थे तब भी लोगों ने 'बोलियाँ' मारी थीं। जब उस ने ट्यूबवैल की कोठरी को भी फूलों वाले पौधों से ढक दिया था तब मुझे भी बापू की खोपड़ी उल्टी हो गई लगी थी। वह पगडंडी में खड़ा हो कर फ़सलों के साथ लगी फूलों की क़तारों को देख कर मुझे कहा करता था कि आदमी का पेट भर जाए तो उसे सिर्फ़ रोटी के लिए ही नहीं जीना चाहिए। ...उस की बात मेरी समझ में नहीं आई

थी। चाँदनी रातों में ट्यूबवैल की कोठरी की छत पर बैठ कर वह शराब पिया करता था। उसे मेरी आवाज़ सुनाई नहीं पड़ती थी। खाना भी पड़ा-पड़ा ठंडा हो जाता था।

मैं अभी इतना बूढ़ा नहीं हुआ पर काम नहीं करता। काम 'भइए' करते हैं। मेरा लड़का जैपाल निगरानी करता है। मैं तो बस चक्कर लगाता हूँ—कुएँ के, दफ़्तरों के, बैंकों और बाज़ारों के।

यह घर था जब दादी ज़िन्दा थी। माँ थी—बापू कामरेड बलदेव सिंह देवी ज़िन्दा था। ताऊ हजूरा एक हल की खेती किया करता था। कच्चे घर के इस आँगन में गड्ढे पड़ जाते थे। बरसात में कीचड़ ही कीचड़ हो जाता था। तीन जानवरों के बैठने की जगह नहीं होती थी। अक्सर रोटी के साथ दाल नहीं बनती थी। सुबह के समय लस्सी नंबरदार के घर से लाई जाती थी।

तब मैं पाँचवीं या छठी क्लास में पढ़ता था। दादी आटा घर की चक्की से पीसा करती थी। माँ खेतों से हरा चारा लाती थी। सारा दिन खटता ताऊ लोहे का आदमी लगता था।

बापू तगड़ा जवान था पर काम नहीं करता था। वह गाँव का पहला पूत था जिस ने दसवीं जमात पास की थी। वह किताबें, पत्रिकाएँ पढ़ कर कामरेड बन गया था। जल्दी ही ऐनक लग गई थी। वह लोगों को अख़बार पढ़ कर सुनाता, 'इंक़लाब ज़िन्दाबाद' के नारे लगाता और पंचों, सरपंचों, तहसीलदारों और पुलिस वालों से लड़ता रहता था। वह कभी पुलिस से पिट कर घर आ जाता, कभी जेल चला जाता और कभी गले में झोला डाल कर मीटिंग में चला जाता था।

घर में वह जब माँ से बातें करता तो सुन कर मुझे लगता कि अब ग़रीबों के दुख जल्दी ही दूर हो जाएँगे। सब को पेट भर खाना मिलेगा, रहने को घर और खेती करने को ज़मीन मिलेगी, फिर औरतें-आदमी मिल कर वैसे नाचा गाया करेंगे जैसे ड्रामा स्क्वैड वाले लोग हमारे घर आ कर नाचते-गाते हैं, जिन्हें देख कर मेरा ताऊ और दादी झुँझला जाते थे और कहा करते थे.... 'आ गए बुगचियों वाले कंजर... अगर और लोग भी उन की तरह हो जाएँ तो हो जाए कल्याण... सारा देश भूखा मर जाए।'

पर बापू कहा करता था पहले हम ने धनवानों की लूट-खसोट के ख़िलाफ़ लड़ कर व्यवस्था को बदलना है फिर करेंगे जी तोड़ मेहनत। अपनी मेहनत का फल आप खाएँगे।

जब वे झोलों वाले व्यक्ति घर में आते थे तो घर के सारे प्राणी दुखी हो जाते थे.., बुड़बुड़ाने लगते थे पर वे लोग इतने प्यार से बोलते थे कि किसी को कड़वा बोलने का मौक़ा ही नहीं देते थे। बापू भी उन के साथ मिल कर गाने लगता था। वह एक ग़ज़ल बड़े लगाव से आँखें बंद करके गाया करता था, 'रूह को खा जाएगा... हुस्न का वीरानापन...।'

जब मैं ने दसवीं जमात पास कर ली तो बापू को घर की चिन्ता लग गई। उन दिनों कुछ ऐसा हुआ कि घर के हालात बदलने लगे। उस साल दादी मर गई और ताया कुछ रोगी-सा रहने लगा था। बापू को सारा काम सँभालना पड़ गया था।

मुरब्बेबंदी (खेतों को इकट्ठा करके बड़े खेत बनाना) का काम शुरू हो गया था। पटवारी, क़ानूनगो और तहसीलदार का दफ़्तर हमारे घर के पास फ़जलू तेली के पक्के कोठरे में बन गया था। बापू चाहता था कि हमारी ग्यारह बीघे नियाईं वाली ज़मीन उन्नीस बीघे टिब्बी वाली ज़मीन के साथ मिला दी जाए। ताकि बारह आने मोल के बदले पाँच रुपए वाली ज़मीन मिल जाए और इतनी हो जाए कि अच्छी रोटी का जुगाड़ बन जाए। उस ने पटवारी को एक तरफ़ ले जा कर कहा था। और जाटों की तरह अपने काम करने वाले स्वभाव की भी डींग मार दी थी परंतु उस से काम होगा ऐसा लगता नहीं था।

वह काम एक चमत्कार ने करा दिया था जिस के लिए नारे लगाने की ज़रूरत नहीं पड़ी थी। गाँव में नकौड़े वालों की बहू रहती थी उस का नाम 'छल्लो' पड़ गया था। छोटा क़द, तगड़ी काया, गोरा रंग और आदमियों को पागल करने वाली आँखों ने कभी किसी को बख़्शा नहीं था। उस ने गाँव की तीन पीढ़ियों पर सवारी की थी। कोई मेरे जैसा अभागा ही बचा होगा।

मुझे नहीं मालूम कि यह काम बापू ने किया था या संयोगवश ही हो गया था। ...दुपहर में जब गाँव के लोग स्कूल के बरामदे में पटवारी को घेर कर बैठे थे तो पटवारी के दफ़्तर में तहसीलदार आराम फ़रमा रहा था। बापू ने दफ़्तर की खिड़की पर अपनी छड़ी से ज़रा-सी ठोकर मार दी। वह चौपट खुल गई और छल्लो तो अपने कपड़े सँभालती हुई सिर पर पाँव रख कर भाग गई परंतु तहसीलदार उसी हालत में खिड़की में बापू के सामने हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया। गिड़गिड़ा कर बोला, 'बता, तेरा क्या काम है... बस समझ ले हो गया... ।'

उस का काम सचमुच उस की मर्ज़ी के मुताबिक़ हो गया था। टिब्बी में साढ़े दस एकड़ ज़मीन मिल गई थी और साथ ही एक आबाद टुकड़ा भी मिल गया था जिसे बेच कर हम ने हरा चारा बीजने वाली ज़मीन ले ली थी। जब रजिस्ट्री हो गई तो बापू ने तहसीलदार को गालियाँ दी थीं और उस के खिलाफ़ अर्ज़ी देने के बहाने उस के घर जा कर उसे 'डाली' दे आया था।

लोगों को उस की मक्कारी का पता तब चला जब उस ने सब से पहले टिब्बी वाली ज़मीन में ट्यूबवैल लगा दिया। हरेक मशीनरी के लिए उस ने सरकार से छूट ली थी, फिर तो सरकार से जो भी रियायत मिलती थी बापू लेने में सफल हो जाता। बी.डी.ओ. भी उस से डरता था। उस से उसे नए बीज और खादें मिलती रहती थीं।

जब मैं ने बी.ए. में फेल हो कर कॉलेज छोड़ दिया तो बापू के पास इतना पैसा हो गया था कि उस ने चाचा दीनानाथ की आढ़त में भी चवन्नी का हिस्सा डाल दिया था। वह गाँवों से जाते हुए माल को अपनी दुकान पर उतार लेता था। चाचा दीनानाथ का काम भी ईमानदारी का था। किसान जिन्स के पैसे पा कर निहाल हो जाते। साथ ही उधार भी मिलता रहता था पर बापू उन को ठगने के तरीक़े भी बताता रहता था और उन के साथ सरकारी दफ़्तरों के चक्कर भी लगा आता था।

कॉलेज छोड़ कर मैं खेती में जुट गया था। उसी साल बापू ने ट्रैक्टर भी ख़रीद लिया और मुझे उस पर बैठा कर कहा था, 'ले, हम ने साल भर में ही इस के पैसे पूरे कर लेने हैं, लोगों की ज़मीन जोत कर। रात को मैं ट्रैक्टर से काम करता था दिन में बापू। उसे 'वे' कामरेड भूल गए थे। किसी का काम करवाता तो बीच में से डंडी मार लेता था। फिर भी लोग उस की तारीफ़ें करते थे। उस का पैर कहीं टिकता नहीं था। वह जो कुछ भी करता था उस से पैसा बनाता था।

दूसरे साल जब मेरे लिए बहुत से रिश्ते आने लगे थे तो बापू ने पुराना मकान तोड़ कर नया मकान बनवा लिया था। हमारे घर दूर-दूर के रिश्तेदार भी आने लगे थे। फिर मेरा विवाह हो गया।

ताऊ हजूरा खेतों में ही रहने लगा था। वह काम नहीं करता था। उसे अस्थमा हो गया था। वह पतली छड़ी पर लगी गँडासी सिरहाने रख कर खाँसता रहता था। ...एक सुबह मैं उस के लिए चाय ले कर गया तो वह सो रहा था। उस के सारे दुख क्लेश कट गए थे। ...इतने बड़े तख़्तपोश पर वह हड्डियों की गठरी बना पड़ा था। ...क्या थी उस किसान के पूत की ज़िन्दगी! न ढंग का खाया... न पहना... न ज़िन्दगी भर औरत का सुख देखा। ...पता नहीं गाँव वालों ने उस का नाम 'बैली' (व्यसनी) क्यों रख लिया था? शायद उस की ग़रीबी का मज़ाक़ किया था। अब जब इस घर के भाग जागे थे तो वह सब कुछ छोड़ कर चला गया था।

मेरा हाल यह था कि भूखे के हाथ में कटोरा आ गया था। घर से बाहर जाने को मन नहीं करता था।

महीने भर के बाद बापू को पता नहीं क्या हो गया था। वह सीतो—मेरी पत्नी पर खिसियाने लगा था। उसे उस में, उस के हर काम में दोष दिखाई देने लगे थे। नाराज़ इस बात पर होता था कि वह माँ की सेवा नहीं करती, कभी-कभी वह इतनी बुरी तरह बोलता जैसे किसी कमीने को डाँटता हो। मुझे अच्छा नहीं लगता था। पर मैं चाहते हुए भी बापू के सामने कुछ बोल नहीं सकता था। जब कभी मैं सीतो को रोते देखता, मैं बापू के कमरे की तरफ़ जाता था। गुस्से से आग बबूला भी होता था पर जब उस की आँखें ऐनक के बीच से मेरी तरफ़ देखतीं तो मेरी बोलती बंद हो जाती और मैं उल्टे पाँव लौट आता।

साल भर बाद सीतो ने बेटी को जन्म दिया तो बापू की नज़रें और भी ज़हरीली हो गईं। वह उस के उठने, बैठने, पहनने, ओढ़ने में भी दोष निकालने लगा। माँ कहती, 'वह यही सब निरखता-परखता रहता है...?' वह तब तो चुप हो जाता दूसरे दिन वही बक-झक करने लगता। ...रात को सीतो अँधेरे में मेरे सीने पर सिर रख कर रोती। उस के आँसू मेरी गर्दन पर गिरते और मेरे अंदर गुस्से की लपटें उठने लगतीं। मन करता बापू को घूँसे मारूँ, उस की पगड़ी और ऐनक लुढ़क जाए, वह फ़र्श पर लुढ़कता फिरे। पर मैं कुछ न कर सका। मुझे इस बात पर रहम आ जाता कि बापू माँ की बीमारी के कारण दुखी रहता है। खिसियाना उस के बस में नहीं है। वह अक्सर माँ की सेवा में लगा रहता था। माँ के पेट में नासूर था। उसे बापू कभी कहीं ले कर जाता और कभी कहीं। सेवा हम भी करते थे पर बापू तो जैसे उस के साथ सूखने लगा था। उस के माथे पर झुर्रियाँ उभर आई थीं, ठोढ़ी से दाढ़ी सफ़ेद हो गई थी।

सीतो सुबह जल्दी ही चूल्हा जला लेती थी। मैं चाय ले कर माँ और बापू को देने जाता था। झूठ बोलता था कि चाय मैं ने बनाई है जिस से कि बापू खुश हो कर पी ले—सुबह-सुबह क्लेश न करे। उसे सीतो की बनाई चाय से नफ़रत हो गई थी। जब वह किसी काम से शहर चला जाता था तो मैं और सीतो माँ की देखभाल करते थे। सीतो माँ के सामने भी रोने लगती तो माँ उसे दिलासा देती 'कोई न बहू... उस की बात पर ध्यान न दिया कर... कड़वा बोलने की उस की आदत-सी हो गई है... पता नहीं उसे क्या हो गया है...?'—पर जब बापू सीतो को बुरा-भला कहता था तो माँ रोकती नहीं थी। वह आप भी दूसरी बूढ़ियों को यही कहती थी, 'पता नहीं। लड़के को क्या घोल कर पिला दिया है...? पता नहीं उसे क्या हो गया है! उसे कोई बात ही नहीं समझ में आती।'

माँ की यह बात कुछ हद तक ठीक भी थी। ब्याह को डेढ़ साल हो गया था फिर भी सीतो जब आँखें उठा कर देखती तो जान ही कील लेती थी। बापू हमें साथ बैठे देखता तो जल-भुन कर कबाब हो जाता।

माँ ने ज़्यादा दिन सेवा नहीं करवाई थी। अस्पताल में ऑपरेशन के बाद वह तीसरे दिन ही चल बसी थी। बापू को गहरा सदमा लगा था। जिस के बारे में लोग कहा करते थे कि पैसे ने दिमाग़ ख़राब कर दिया है वह आज कंगाल-सा हो गया था। न ढंग से खाता था न बोलता था। सारा दिन चौबारे में पड़ा रहता था। कभी-कभी चाचा दीनानाथ के पास शहर चला जाता उस के चौबारे में पड़ा रहता। मैं बुलाने जाता तो कहता, 'मैं यहीं खुश हूँ।' वह कोई दवाई खाता था और सोता रहता था। अपने घर से जैसे उस का मन ही उखड़ गया था।

जब जैपाल पैदा हुआ तो बापू घर आने लगा। सीतो का बनाया-पकाया भी वह खाने लगा। उस ने पोते की खुशी भी मनाई थी। जचकी में आई अपनी साली को बहुत महँगी चीज़ें ख़रीद कर दी थीं। गाँव के पंडितों को भी अच्छी दक्षिणा दी थी और मंदिर तथा गुरुद्वारे में दान भी दिया था।

पर वह गाँव में ज़्यादा दिन नहीं ठहरता था। दिन ढलते ही शहर चला जाता था। मुझे उड़ती-उड़ती ख़बर मिली थी कि किसी के घर बैठ कर शराब पीता है और किसी विधवा औरत के साथ रहता है। ...कुछ भी हो हम घर में सुखी थे। सीतो का राज हो गया था।

एक दिन चाचा दीनानाथ अपने स्कूटर पर बापू को गाँव छोड़ने आया। बापू का मुँह-माथा सूजा हुआ था। चाचा ने बताया कि, 'उस के साथ दुर्घटना हो गई है। उस की सेवा करो... ।' फिर मुझे एक कोने में ले जा कर उस ने कहा, 'देख पुत्तर! माँ-बाप की सेवा करने से बड़ा पुण्य होता है। इस से स्वर्ग मिलता है।'

हम ने इतनी अच्छी सेवा की कि बापू पन्द्रह दिन बाद घोड़े जैसा भला-चंगा हो गया। मुझे पता लग गया था कि बापू का कोई एक्सीडैंट नहीं हुआ। जिस औरत के पास वह जाया करता था उसी के घर में उस की पिटाई हुई थी। पर मैं ने इस पर कोई प्रतिक्रिया प्रकट न होने दी। मैं फलों के रस के साथ उसे बढ़िया शराब भी पिलाता रहा था। उस के गालों पर लाली आ गई थी। अब वह बहुत अकड़ कर चलने लगा था। खेतों में घूम-फिर आता था पर शहर नहीं जाता था, हाँ अड़ोस-पड़ोस में उठता बैठता था। घर में जानवरों को पानी-सानी दे दिया करता था। रसोई में सीतो के पास बैठ कर अपने हाथ से चाय बना कर पीता था। उस के पास बैठ कर ही गर्म-गर्म खाना खाता था।

एक दिन मुझे सीतो ने कहा, 'बापू मुझे कुछ और ही तरह से देखता है... ।' मैं ने कहा, 'कोई बात नहीं, नज़र कमज़ोर है... इसलिए ऐसा होता होगा।' फिर एक दिन सीतो ने बताया कि बापू उसे दरवाज़े की दरारों में नहाती हुई देखता है। मैं ने कोई उत्तर नहीं दिया। चुपचाप उठा और ट्रैक्टर ले कर चला गया। ...फिर मैं ने एक दिन देखा कि बापू बाहर वाले कमरे में बैठा था। उस के पास पड़ी कुर्सी पर धुले हुए कपड़े पड़े थे जो अभी तहाए नहीं गए थे। वह सब से ऊपर पड़े सीतो के अंदर पहने जाने वाले कपड़ों पर हाथ फेर रहा था। एक दिन मैं ने उसे सीतो का मैला कुर्ता उठा कर सूँघते देखा था। ...मुझे बड़ी ग्लानि हुई, ग़ुस्सा भी आया कि बापू क्या यह बच्चों वाली हरक़तें करता है। कहीं यह सौदाई तो नहीं हो गया।

रात को मैं उसे गर्म दूध देने जाता तो वह मुझे अपने पास बैठा लेता। वह खेतों, फ़सलों, घर या और किसी के बारे में कुछ न पूछता। ...वह माँ की बातें करने लगता। वह यह करती थी, वह कहती थी... आदि। ...मैं बीच में ही टोक देता और इधर-उधर की बातें शुरू कर देता था।

एक रात बत्ती जल रही थी। मैं और सीतो एक ही रजाई में लेटे बातें कर रहे थे। अचानक सीतो बोली, 'वह देखो बापू दरवाज़े के पीछे खड़ा है।'

पहले तो मैं ने इसे उस का भ्रम ही समझा पर फिर मैं फ़ुर्ती से उठा और दरवाज़ा खोला तो कोई दौड़ता हुआ दिखाई दिया। मैं ने पीछा नहीं किया। चुपचाप अपने बिस्तर पर लेट गया।

फिर मैं ग़ुस्से में भरा साँड की तरह दनदनाता बापू के पास पहुँच गया। मेरा शरीर काँप रहा था। मुँह से आवाज़ नहीं निकल रही थी। वह मुँह पर चादर लपेट कर लेटा हुआ था। मैं ने चादर खींच कर दूर फेंक दी। वह उठ कर बैठ गया फिर उठ कर खड़ा हो गया बोला, 'उस ढोर-सी को कुछ समझा... ।' उस ने और क्या कहा मैं ने नहीं सुना। मैं ने उस का गला पकड़ कर दो तकड़े घूँसे जमा दिए। उस की ऐनक और पगड़ी परे जा गिरी। वह बौराया-सा मुझे देखता रहा... । फिर वह चारपाई पर बैठ गया। सिर घुटनों में छिपा लिया और माँ का नाम ले कर बुक्का मार कर रोने लगा। मुझे लगा कि मेरी बाँहों की अथाह ताक़त के सामने वह कोई चीथड़ा-सा है। फिर मुझ से उस का रोना सहन नहीं हुआ। मैं ने उस की पगड़ी और ऐनक उठा कर मेज़ पर रख दी।

सीतो के पास आ कर मैं कुछ न बोला। सोचता रहा यह मुझ से क्या हो गया।

आधे घंटे बाद मैं फिर बापू को देखने गया तो वह वहाँ नहीं था। मंडी, चाचा के पास चला गया था। कई दिन बीत गए। फिर एक दिन मैं बापू को मना कर घर ले आया था।

दो-चार दिन बाद फिर बापू को दौरा पड़ गया। वह पेट भर दारू पीता और सीतो को गालियाँ देता रहता। गालियाँ क्या... औरतों जैसे ताने-उलाहनें... । यही इसे खाने-पकाने की अक्ल नहीं... पहनने-ओढ़ने का सलीक़ा

नहीं...उठने-बैठने का सलीक़ा नहीं... वग़ैरह-वग़ैरह... । मैं कान लपेट कर टालने की कोशिश करता पर गुस्सा मुझे आता था ।

कुछ महीने बाद तो बापू सचमुच पागल हो गया । अजीब-अजीब सा बोलता रहता, 'यह चुड़ैल सास को खा गई, लूट-लूट कर अपने बाप कंजर का घर भर दिया... उस बहन... ने ज़मीन कहाँ से ख़रीद ली... इस का मामा... बेटी... दो साल पहले पाँच हज़ार रुपया ले गया था... आज आता है मोड़ने । ...मैं तो इस चुड़ैल को घर में रहने नहीं दूँगा... दूसरा ब्याह करूँगा अपने पूत का ।'

वह सीतो को उजाड़ने के लिए पंचों और रिश्तेदारों को इकट्ठा करने लगा था... मैं ने सीतो के मामा को चोरी से पैसे भेजे कि वह बापू को वापस कर जाए पर मेरे ससुर ने जो रकम ली थी वह काफ़ी मोटी थी कहाँ से लौटाता? बापू सारी ही दी हुई चीज़ों का जमा-ख़र्च जोड़ने लगा था । ...फिर बोला, 'छोड़ने-छुड़ाने का वे कितना माँगते हैं? मैं एक लाख देने को तैयार हूँ ।'

लगभग महीना भर यह लड़ाई-झगड़ा और सुलह-समझौता चलता रहा । ...एक दिन शाम को सीतो का भाई मेरे पास सीधा खेतों में ही आ गया । हम सलाह करते रहे कि बापू को कैसे समझाया जाए । वह ग़ुस्से में था । बोला, 'अब तो अति हो गई । अब तो जाट विद्या ही काम आएगी ।' पर मुझे यह बात अच्छी नहीं लगी, मैं चाहता था कि बापू को भी चोट न लगे और सीतो भी घर में बसी रहे । ...मैं ने बापू की वह हालत देखी थी जब वह चाचा के चौबारे में पड़ा रो रहा था । जब मैं ने उस बुड़बुड़ करते शराबी को ज़रा-सा ही झटका दिया था तो वह पुरानी रूई की तरह पलंग पर लुढ़क गया था । ...जब उसे मैं ने शराबी हालत में चौबारे से उतारा था उस का भार मुझे सीतो जितना ही लगा था ।

अँधेरा हो गया था । हम घर की तरफ़ चले । सीतो के ग़ुस्से में आए भाई ने फ़ाटक खोला था । मैं ने ट्रैक्टर छत के नीचे खड़ा कर दिया था । तभी सीतो बापू की बैठक में से चीखें मारती बाहर निकली जैसे साँप ने काट लिया हो । मैं दौड़ कर अंदर गया तो वह बापू को गालियाँ दे रही थी, 'तेरे बापू कंजर ने मेरी बाँह पकड़ ली... मुझे यहाँ से पकड़ा... यहाँ से पकड़ा... इसे मौत भी नहीं आती रब्बा! ...सोता ही रह जाए... हरामी ने घर में बेटी नहीं देखी... शरम नहीं आती चिट्टी दाढ़ी को... ।'

मैं ने उस के मुँह पर हाथ रख दिया । लोक लाज के डर से उसे चुप करा दिया । जब मैं बाहर आँगन में आया तो सीतो का भाई आँगन के बीचोंबीच खड़ा था उस के हाथ में चमकती तलवार थी । लोग इकट्ठा होने लगे थे । हम अंदर गए तो बापू बैठक में नहीं था । वह अँधेरे में भाग गया था । रोटी वाली थाली फेंक दी थी । सब्ज़ी दाल रोटी बिखरी पड़ी थी । सीतो की चूड़ियों के टुकड़े बिखरे पड़े थे । बापू अपनी लोई भी छोड़ गया था ।

मैं सीतो के पास गया तो वह एक पलंग पर पड़ी थी । उस की साँस तेज़-तेज़ चल रही थी । उस की बाँह पर ज़ख़्म से ख़ून रिस रहा था । गले से कमीज़ फटी हुई थी । वह मुझे ऐसे देख रही थी जैसे वह कुकर्म मैं ने ही किया हो । मैं ने उस के सिर पर हाथ रख कर दिलासा दी तो वह औंधे मुँह हो कर लेट गई ।

लोगों को मैं ने यह कह कर विदा कर दिया कि कुछ नहीं सीतो को ततैयों ने काट लिया है ।

बापू लौट कर गाँव नहीं आया । मैं चाचा के चौबारे में उसे देखने गया था । उस का चेहरा पीला हो गया था । मैं ने उस के साथ उस घटना की बात नहीं की । उस ने भी कोई सफ़ाई नहीं दी थी । उस ने चलते समय मुझे सिर्फ़ इतना कहा था, 'घर को सँभाल कर रखना... मैं ने बड़ी मेहनत से जोड़ा है । किसी दिन मुझे जैपाल को दिखा जाना... ।'

एक महीना भी नहीं बीता था कि चाचा का मुनीम उस की मौत का संदेसा दे गया था । बहुत से लोग इकट्ठे

हो गए थे। भाँति-भाँति की बातें करते रहे थे। अंतिम संस्कार हो गया था। मैं और चाचा बापू की अस्थियाँ गंगा में बहा आए थे।

घर में हम बापू की बात कभी-कभार ही करते थे। मेरे साले-सालियों का आना-जाना बढ़ गया था। जब सीतो ने दूसरे पुत्र को जन्म दिया तो घर का शोक धुल गया था। हम ने शादी जैसा जश्न किया था। फिर बापू याद आने लगा था। हम उस की याद में पाठ रख लिया करते थे।

फिर सीतो का बापू वाली बात का दुख कम हो गया था। एक रात हम बापू की बातें कर रहे थे। मैं ने मज़ाक़ में सीतो से पूछा, 'फिर बापू ने तुझे कैसे छेड़ा था...?'

वह हँसती-हँसती मोटी-मोटी बात बताती रही। जब मैं ने हाथ लगा कर पूछा, 'यहाँ से पकड़ा था... कि यहाँ से!'—तो वह मुस्करा कर बोली, 'सच्ची बात बताऊँ?' ... मैं ने कहा, 'बता'... तो उस ने बताया कि बापू ने तो कुछ भी नहीं किया था। मैं ने खुद ही थाली फेंकी थी... चूड़ियाँ दीवार के साथ तोड़ीं और खुद ही कुर्ता भी फाड़ा था... मुझे मालूम था मेरा वीर आया हुआ है।'

'तूने ऐसा क्यों किया?' मैं उठ कर बैठ गया था।

'अगर न करती तो वह मुझे तेरे साथ रहने देता...?' कह कर वह मुझ से लिपट गई थी।

पर मुझे लगा मुझ से सीतो नहीं बापू का प्रेत-सा कुछ चिपटा हुआ है।

पंजाबी से अनुवाद : **कीर्ति केसर**

चंद्रशेखर रथ

साल का एक मौसम : मौसम के तीन दिन

मेरे बिना देखे खिड़की से बाहर समय ढल रहा था।

अनमना था मैं, अकेला। दफ़्तर में काम है नहीं। इसलिए एक अजीब तरह का हल्कापन महसूस कर रहा था। मुलामियत का एहसास, कोमलता का बोध, फूल सरीखा। बिला वजह खुशी का अनुभव।

हवा भी रेशम की तरह मुलायम लग रही थी। बेहद. . . बेहद हल्की। तो इस का मतलब, क्या वसंत आ गया? इतनी जल्दी. . . जनवरी में?

जल्दी. . . .माने? अच्छा तो मकर संक्रांति का समय भी आ गया। यानी बीस दिन बाद वसंत पंचमी!

ओह. . . .सचमुच! इस का मतलब!! वसंत आ गया!

खिड़की से बाग़वानी विभाग के द्वारा रोपे गए क़लमी आम के पेड़ दिखाई दिए, मुकुट पहिने. . .आम्र मंजरियों से लदे।

मैं खिड़की के क़रीब आ गया। दूर इमारत की छटवीं मंज़िल से भी ऊपर देखने लगा। वहाँ नीले आसमान के साए की उन्मुक्त हवा में बाँहें पसारे छोटे-छोटे दुपट्टे उड़ते नज़र आ रहे थे। लापरवाह, जैसे मुख पर केश आ जाने पर फूँक मार कर दूर करने-सा भाव, बदन से आँचल सरका देने जैसी चंचल, शरारती चाह, कुछ इसी अंदाज़ में भौंरे, हवा की लहरों में तैरते घूम रहे थे।

मुझे खुशी का एहसास होने लगा।

हाथ मलते हुए सोचने लगा—घर लौटते समय क्या लेता जाऊँ। गजरा. . .बढ़िया रहेगा। सारी रात खुश्बू महकती रहेगी। पूरे घर में।

धत्. . .दिमाग़ ख़राब है क्या? पचपन की उम्र में गजरे का शौक़? बेवकूफ़. . .तेरे बिन-खिड़की वाले रसोईघर के चूल्हे की आँच में, वेज़-नॉनवेज़ की उबलती गंध में, किस वक़्त कौन-सा मौसम गुज़र गया, क्या कभी जान पाए? गृहस्थी-बच्चों के जंजाल में गजरा पहनने का वक़्त है किसे?

हटाओ. . .बल्कि मटर और फूल गोभी लिए चलते हैं। मछली के बारे में तो मालूम हुआ है किसी रोग ने ग्रस लिया है, इसलिए उस तरफ़ देखना भी मना है—नहीं तो बड़ी रोहू के टुकड़े ले चलते तो ऐश हो जाती!

इसी समय दरवाज़े के पल्लों को ठेलता डायरेक्टर का पी.ए. घुस आया।

'साहब. . .फ़ौरन चलिए। डायरेक्टर साहब के फ़ोन पर दिल्ली से आप का कॉल है। साहब फ़ोन पकड़े हुए हैं, उन्होंने मुझ से कहा कि—खुद जा कर फ़ौरन बुला लाओ सेनापति साहब को।'

निशाकर सेनापति मैं ही हूँ। इस दफ़्तर का उपनिदेशक। रिटायरमेंट के लिए दो वर्ष चार माह बाक़ी हैं।

'दिल्ली से. . .मुझे कोई क्यों फ़ोन करेगा? और किसलिए? अरे किसी और का होगा। ठीक-ठीक मालूम है या यूँ ही।'

'हाँ साहब। डायरेक्टर साहब ने अंग्रेज़ी में पूछा भी था उन से—सर, क्या निशाकर सेनापति जी से बात करनी है? यस सर. . .हैं वो—आप प्लीज़ होल्ड कीजिए, मैं अभी बुला रहा हूँ!'

दिल्ली से कोई मुझ से क्यों बात करना चाहेगा? फिर भी खुद डायरेक्टर जब फ़ोन पकड़े मुझे बुलवा रहे हैं तो जाना ही पड़ेगा।

मेरे चेम्बर में दाख़िल होते ही डायरेक्टर अपनी कुर्सी से ज़रा सा उठ खड़े हुए। मेरे प्रति उन के मन में इस समय जाने कैसे एक अस्वाभाविक-सी सतर्कता और अपनेपन का भाव जाग उठा था। यह उन के व्यवहार से भी मुझे महसूस हुआ।

'आहूजा साहब. . .आप के लिए आहूजा साहब का फ़ोन है।'

'आहूजा. . .?'

मैं ने उन से फ़ोन ले लिया, 'यस् सेनापति स्पीकींऽग!'

उधर से हँसी की खनखनाहट सुनाई दे रही थी, 'अबे स्पीकिंग की औलाद. . .मैं ज्ञान बोल रहा हूँ. . .ज्ञान!'

तत्काल एक गोरा-चिट्टा चेहरा और तीस साल पहले, उस चेहरे के साथ बिताए असंख्य चित्र, आँखों के आगे घूम गए। मैं स्थान, समय, औक़ात लगा कि भूल गया, 'अब्बे. . .ज्ञान. . .तू ज्ञान बोल रहा है? कहाँ से?'

'जहन्नुम से. . .तुझे इस से मतलब? बहरहाल काम की बात सुन। कहाँ मर गया था इतने दिन? ख़ैर, मैं कल आ रहा हूँ, सुबह के प्लेन से, साथ में बीवी. . .याने तेरी भाभी भी आ रही है। तुम्हारे यहाँ ही ठहरेंगे। मान न मान मैं तेरा मेहमान, क्या समझा!'

'अरे क्या कह रहे हो यार! ये तो हमारी खुशकिस्मती है—हाँ ये ज़रूर है कि तुम्हारे लायक़ सुविधा होगी नहीं।'

'अबे चुप. . .सुविधापाल! तो फिर कल मिलते हैं। वैसे तो ऑफ़ीसियल विज़िट है—वे लोग कुछ न कुछ तो करेंगे ही, मगर हम तुम्हारे यहाँ ही ठहरेंगे. . .! रखता हूँ।'

फ़ोन रख कर मैं देखने लगा। डायरेक्टर खड़ा ही था। दूसरे तीन अफ़सर भी इस बीच वहाँ आ कर खड़े हो गए थे। पता चला कि चीफ़ सेक्रेटरी के हुक्म से—खुद मुख्यमंत्री के निर्देश से वे आए हैं।

'साहब. . .नमस्कार। दिल्ली से ख़बर पाते ही हम आए हैं। आहूजा साहब तो आएँगे ही, उन के साथ-साथ दूसरे अफ़सर भी आ रहे हैं। तीन दिनों तक उन के यहाँ रहने का सारा इंतज़ाम हो चुका है। होटल ओबेराय में। आहूजा साहब लेकिन अपने मित्र के यहाँ रहना चाहते हैं. . .।'

'हाँ. . .ये निशाकर सेनापति जी. . .ये ही आहूजा साहब के अभिन्न मित्र हैं।' बात काटते हुए मेरे डायरेक्टर ने उन लोगों से कहा।

'बैठिए न साहब. . .' कहते हुए उन तीन में से एक ने कुर्सी मेरे आगे खिसका दी थी।

मेरे बैठने तक सभी खड़े रहे। डायरेक्टर ने घंटी बजाकर कॉफ़ी लाने का आदेश दिया। फिर गद्‌गद् भाव से मेरा गुणगान करने लगा। जबकि आज सुबह ही मैं एक फ़ाइल के मामले में इसी डायरेक्टर से चर्चा करने की

कोशिश में असफल वापस लौटा था, क्योंकि तब यही डायरेक्टर पैर फैलाए अमेरिका में रहने वाली अपनी बेटी से फ़ोन पर पारिवारिक गपशप में व्यस्त था।

'आप को कोई तकलीफ़ नहीं होगी सेनापति साहब। बस. . .आप आहूजा साहब को ज़रा सा हिन्ट कर देंगे तो काम बन जाएगा। और आप, इसी लाइन में सेनापति साहब को बता दें।'

'बात ये है सर, आहूजा साहब ही मेन हैं। वे जो कहेंगे, वही होगा। बात यह है कि हम ने 'बाढ़ग्रस्त-रिलीफ़' के लिए सेंटर को प्रपोजल भेजा है। बाद में हिसाब लगा कर देखा तो पता चला कि प्रपोजल में जो फ़िगर गया है, वह सही नहीं है। मदों के अनुसार डिस्ट्रीब्यूट करने पर पूरा नहीं हो पाएगा। इसलिए उस में कम से कम दस करोड़ और बढ़ाने की बात है। लेकिन यह बात जो कोई भी आहूजा साहब से कहेगा, वे उसे कच्चा खा जाएँगे। जिन का साबका पड़ चुका है, वे यह बात अच्छी तरह जानते हैं।

'सामल साहब. . .वेट, मैं समझाए देता हूँ सर को। ऐसा कुछ नहीं है सर। आहूजा साहब आप के मित्र हैं, आप ज़रा उन से इतना कह दें कि वे ज़रा हमारा यह रिवाइज़्ड इस्टीमेट देख लें। मैं एक कॉपी दिए देता हूँ। इसे आप उन्हें दिखा दें। वे देखते ही समझ जाएँगे। अगर कुछ पूछना चाहेंगे तो मैं. . .मेरा नाम निरंजन खूँटिया. . .मैं वहाँ साथ मौजूद रहूँगा।'

डायरेक्टर ने कहा, 'सर आप खुद न जा कर. . .'

'रुकिए. . .आप को क्या मालूम? मैं वहाँ न रहूँ तो आहूजा साहब को कोई फ़ेस भी नहीं कर पाएगा।' उस के बाद मेरी ओर मुख़ातिब हो कर कहा, 'तो सर चलें, पहले चल कर सारा प्रोग्राम तय किए लेते हैं।'

डायरेक्टर की ओर देखते हुए मैं ने अनुमति के लिए पूछा, 'तो सर मैं जाऊँ?'

'सर. . .हाँ सर आप जाइए! ये तो. . .राष्ट्र का काम है!'

मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हो रहा था। यह शायद उन्होंने खूँटिया साहब से कहा था। मेरे पाँव एकबारगी ढीले पड़ गए से लगे। लगा, ये लोग मुझे उठा कर कहीं शून्य में लिए जा रहे हैं।

ओबेराय के एक सूट में बिठा कर वे तीनों मुझे समझाइश देने लगे। मैं उल्लू की तरह उन्हें देखता रहा, बस उन की बातों को सुनता हूँकारी भरता रहा। इसी समय टेबुल में एक बोतल और चार गिलास आ गए।

'मैं पीता नहीं'—मेरा इतना कहना था कि खूँटिया साहब ज़ोर से चीखे, 'किस ने मँगाई ड्रिंक्स। साहब भी नहीं पीते क्या मालूम नहीं? मैं भी साहब बिल्कुल नहीं लेता। ऐसे ही कभी पार्टी-वार्टी में कभी-कभार वो भी हें. . .हें हें अरे. . .उठाओ इन्हें! पोंछो इस टेबल को। कुछ ग़लत न समझें साहब! ये लोग तो यूँ ही आदतन भी रख जाते हैं।'

'खूँटिया साहब, तो फिर मैं यह कॉपी लिए जाता हूँ। कल आप के आहूजा साहब को दिखा दूँगा।'

खूँटिया साहब हँसते-हँसते दोहरे गए। देखा देखी दूसरे दोनों अफ़सर भी खिलखिला उठे। मैं भौंचक उन की ओर देखने लगा।

खूँटिया साहब हँसते हुए कहने लगे, 'सर भी कैसा मज़ाक़ कर लेते हैं, देखा। आप के आहूजा साहब को दिखा दूँगा? समझे सामल बाबू, हमारे लिए तो आहूजा साहब साहब होंगे—सर के लिए तो वे मित्र हैं। फ़ोन पर सुना कि नहीं—''ज्ञान तू'' कह रहे थे!'

सभी सतर्क हो कर खड़े हो गए। तभी खूँटिया कहने लगे, 'सर मैं ने आप की इजाज़त के बग़ैर डिनर के लिए कह दिया है।'

मैं जानता था, उन्होंने ऐसा कुछ नहीं कहा है। क्योंकि शुरू से ही मैं उन के साथ था। हो सकता है पहले से ही कह रखा हो!

'मुझे माफ़ करेंगे। दरअसल मैं अभी अगर जल्दी घर न पहुँचा तो कल के लिए कुछ भी अरेंज नहीं कर पाऊँगा।'

सामल बाबू ने कहा, 'ठीक कहते हैं आप सर।' खूँटिया चिढ़ कर कहने लगे, 'खाक़ ठीक है? हमारे रहते सर क्या अरेंज करेंगे? क्या करना है? बताइए सर हम किए देते हैं। कल के लिए लंच यहाँ से ले चलें तो कैसा रहेगा, मतलब आहूजा साहब की पसंद के मुताबिक़, जो चाहेंगे. . .'

'ये सब. . .सर से क्या पूछना? हम पूरे परिवार के लिए ले चलेंगे। होटल वाले से कह देंगे कि घर जैसा खाना बना दे, ताकि मालूम न पड़े कि खाना होटल का है।'

'आज से 5271 गाड़ी साहब के डिस्पोजल में तीन दिन के लिए कर दो। एक्ज़ीक्यूटिव इंजीनियर से कह दो कि अपने स्टाफ़ के दो आदमियों के साथ जीप ले कर सर की ड्यूटी पर रहे। वो बी.डी.ओ. भी तो आया है न, उसे साहब के यहाँ राशन वग़ैरह के इंतज़ाम के लिए फ़ौरन कह दो।'

यह सब सुन कर मैं ने धीमे लेकिन दृढ़ता से कहा, 'क्या आप लोग कृपा करके मुझे अभी घर छोड़ सकते हैं? और आप लोगों को कुछ करने की ज़रूरत नहीं। कर सकते हो तो कल एयरपोर्ट जाते समय घर से मुझे पिकअप कर लें, मेहरबानी होगी। न हो तो मैं अपने पहुँचने का इंतज़ाम खुद कर लूँगा, आप परेशान न हों।'

'सर. . .सर. . .लगता है आप बुरा मान गए। विश्वास कीजिए हम ने आप को 'अफ़ेन्ड' करने के लिए ये सब नहीं कहा था। चलिए मैं खुद आप को घर ड्रॉप किए देता हूँ।'

'नहीं. . .नहीं ऐसी कोई बात नहीं. . .आप लोग बल्कि दीगर इंतेज़ामात की ओर ध्यान दें और उन सात अन्य अफ़सरों का ख़याल रखें, इन की फ़िक्र न करें। आप ड्राइवर से ही कह दें वह मुझे घर छोड़ आएगा।'

तत्काल 5271 के ड्राइवर को बुलवा कर खूँटिया साहब ने कहा, 'सुनो सुदाम, आज से तुम्हारी ड्यूटी सर के साथ है। तुम्हें जितनी ज़रूरत हो बनवारी से कह कर पेट्रोल ऑयल ले लेना।'

गाड़ी में बैठा मैं सोच रहा था—ज्ञान प्रकाश आहूजा, तुझ साले के हाथों में कितनी ताक़त है? तुझे अपने घर का मेहमान बनाना मतलब महाबली को मेहमान बनाना है? ये सभी तो अभी से चकित हैं, कल क्या होगा, क्या मालूम?

'सुदाम जी, ज़रा बाज़ार की ओर से हो कर चलें।'

सुनसान रास्ते पर वही हल्की-हल्की हवा। उसी तरह बाँहें फैलाए नीला आसमान।

कब मिली है मुक्ति? यहाँ से घर में बैठे, तो वहाँ भी वही घिसाई होनी है!

शाम के झुटपुटे में वसंत की बेइंतिहा खुशी ले कर घर पहुँचा।

बातचीत का ब्योरा देते हुए मैं ने आहूजा के आने की ख़बर सुनाई। बच्चों को विश्वास नहीं हुआ कि दिल्ली से सचमुच कोई उन के घर आ कर ठहरने वाला है।

मेरी रोगिणी अर्द्धांगिनी माथे पर हाथ रखे नीची नज़र किए चुप बैठी सुन रही थी। किसी बात पर टिप्पणी किए बग़ैर। ज़रा-सा उत्साह अथवा आग्रह उस के चेहरे पर नहीं दिखा।

'क्यों भाई, तुम कुछ बोलतीं क्यों नहीं? कल क्या कैसे किया जाएगा कहो, तभी न व्यवस्था हो पाएगी?'

'क्या कहूँ? तुम तो आ बैल मुझे मार जैसा कारनामा कर आए हो! इतने बड़े आदमी को ठहराने के लिए क्या

रखा है इस घर में? यहाँ, इस घर में, बिठाओगे कहाँ? वो लोग ठहरेंगे कहाँ, खाएँगे क्या, उन की पूछ-परख करेगा कौन? वाह! अजीब हैं? रात में आए हो और बत्तीसी दिखा रहे हो—सुबह उन्हें ला कर खड़ा कर दोगे. . .यह सब होगा कैसे? तुम्हें जो समझ में आए करो. . .मुझ से नहीं होगा. . .नहीं होगा मुझ से! मेरे लिए तो एक रिक्शा बुला दो। तीन दिनों के लिए मैं अपने मामाजी के यहाँ चली जाऊँगी। वो कब से बुला भी रहे हैं मुझे!'

मुझे पसीना छूट गया। अरे. . .सचमुच! इसे मैं जितना सहज और सरल माने बैठा था, दरअसल वह ऐसा है नहीं।

मैं सहम कर बैठ गया। बच्चे मौक़ा देख कर चुपचाप निकल गए। समझ गए जैसे कोई आफ़त आने वाली है।

बड़ी मुश्किल से उसे मना पाया कि धीरज से दोनों बातचीत करें तो शायद कोई हल निकल आए।

'देखो—आहूजा बड़ा अफ़सर सही—है तो मेरा दोस्त ही, इसलिए कोई बड़ा इंतज़ाम करने की ज़रूरत है नहीं। मैं बल्कि उस की बीवी के बारे में चिंतित हूँ।'

'कोई भी हो, घर आ जाने पर उन्हें कुछ तो खिलाओगे? तुम्हारी इस सड़क-छाप कप-बसी में क्या वे चाय पिएँगे?'

मैं तड़प गया।

'बिठाओगे कहाँ? अपने सोफ़ों की गद्दी के कवर देखे हैं? क्या हालत है उन की? कई बार कह चुकी हूँ, कभी कान दिए तुम ने? अब दुर्गति तुम्हारी होती है या बाहर से आने वाले की, बोलो?'

'ओफ़. . .तो कहो न क्या करें?'

'पहले सुन तो लो! उन्हें टेबल-कुर्सी पर बैठ कर खाने की आदत होगी। वैसे भी जब से यह डाइनिंग टेबल आया है, उस पर अलाए-बलाए चीज़ें रखी हैं। नीचे बक्से-पेटियाँ रखी हुई हैं। अरसे से कुर्सियाँ भी टूटी पड़ी हैं। कब से बच्चे भी नई डाइनिंग टेबल के लिए कह रहे हैं। कभी ध्यान दिया? अब क्या उन्हें नीचे आसनी पर बिठा कर खिलाओगे? आसन भी हैं कहाँ? हरियाणा हैंडलूम से दो आसनी ही तो लाए थे—वह भी दो साल पहले। धूल-चीकट से सने रखे हैं।'

मेरा सिर चकरा गया।

'और खिलाओगे क्या? झोलदार आलू-बैंगन की बिना मसाले वाली सब्ज़ी, चावल हल्दी राई वाले गीले मसाले की मछली-तरी? उन्हें क्या परोसें तो वे खाएँगे, क्या मालूम है तुम्हें? मालूम भी हो तो यहाँ कौन है तुम्हारा जो उन्हें हर रोज़ पाँच तरह के व्यंजन बना कर खिला सकेगा? मुझ से तो होगा नहीं, जानते ही हो? फिर खिलाओगे किस में? काँसे की थाली में? गोल ट्रे में परसोगे कि लंबी ट्रे में? एक जैसी दो चीज़ें भी तो नहीं हैं इस घर में?'

उँगली से कान खुजाते मैं इधर-उधर देखने लगा। इच्छा हो रही थी इस मुँह ज़ोर-बद्ज़बान का सिर तोड़ दूँ। इच्छा हो रही थी—अपना सिर पटक कर खुद मर जाऊँ!

मेरे माथे पर पसीने की बूँदें छलछला आईं। ये जैसा कह रही है उस से तो लगता है इस घर में किसी भी हैसियत के अतिथि की व्यवस्था का हो पाना असंभव है। क्या सम्हालूँ और अब कैसे सँभलेगा यह सब!

मेरे कान गर्म होने लगे, उन में से भाँए भाँए की आवाज़ें आने लगीं। सचमुच क्या किसी अदालत से मुझे मौत की सज़ा सुना दी ग़ई है? तो क्या मैं इसी रात मर जाऊँ? और आहूजा सुबह आ कर मेरे शव पर फूल चढ़ा कर चला जाए? तब शायद सारा कुछ छिपा रह जाता? इज़्ज़त बची रह जाती।

'मेरी मानो तो कोई बहाना करके उन्हें होटल में ही ठहरने के लिए राज़ी कर लो। यूँ ही एक-आध घंटे के लिए घर ले आना, तो बग़ल वाले मंगतानी साहब के यहाँ से टी-सेट माँग लाएँगे और मैं चाय-बिस्किट से उन की

ख़ातिरदारी कर दूँगी।'

मेरी जीभ तालू से चिपक गई। बड़ी मुश्किल से कह पाया, 'वे हमारे घर पर ही ठहरेंगे।'

'क्या मतलब? यहीं ठहरेंगे? कहाँ रहेंगे, छत पर या सीढ़ी पर! यहाँ तो उल-जलूल चीज़ों के अटाले और आदमियों की भीड़ से सारे कमरे घिना रहे हैं। पैर रखने की भी जगह बची नहीं यहाँ। खाट, बिस्तर, तक़िया, मच्छरदानी कहाँ है? उस पर टॉयलेट की हालत, हमारे नहानघर में क्या वे नहा पाएँगे? मुँह धोएँगे कहाँ? भलाई इसी में है कि अभी जा कर उन के लिए कहीं और इंतज़ाम करवा दो—नहीं तो कल जब वे दरवाज़े पर आ कर खड़े हो जाएँगे—इज़्ज़त दो कौड़ी की रह जाएगी?'

मेरा शरीर नारियल के पत्ते की तरह थरथराने लगा। गला सूख गया। ऐसी विकट स्थिति मेरे जीवन में पहले कभी नहीं आई थी।

इसी क्षण मुझे खूँटिया की बातें याद आ गईं। 'हमारे रहते सर क्या अरेन्ज करेंगे। जो ज़रूरत होगी और जैसा आप कहेंगे हम करवा देंगे!' और देखो—मैं उन्हें मना कर आया!

अब किस मुँह से जा कर उन से मदद माँगूँ?

नहीं कहूँगा तब भी बचना मुश्किल है?

इसी चिन्ता में कब सुदाम की गाड़ी में बैठ मैं ओबेराय पहुँच गया, पता ही नहीं चला। मुझे चारों ओर अँधेरा ही अँधेरा दिखाई दे रहा था। मैं चाह रहा था—बस किसी तरह मेरी इज़्ज़त बची रह जाए। लेकिन यह तभी हो पाएगा, जब किसी एक जगह मैं अपनी हार मान लूँ, तभी दूसरी जगह से इज़्ज़त बचा ले जाऊँगा।

मैं उसी कमरे में पहुँच गया। महसूस किया—मुझे इस वक़्त कमरे में देख वे तीनों नाराज़ हो सकते हैं। वे वही बोतल खोले इतमीनान से पी रहे थे।

तीनों बे-दिली से खड़े हो गए।

'क्यों क्या बात है सेनापति. . .मतलब. . .सर। कोई परेशानी. . .एनी प्रॉब्लम्?'

'देखिए. . .औरों के साथ आंहूजा साहब भी यहीं ठहरें तो अच्छा रहेगा। मेरे घर में तो उन्हें परेशानी ही होगी।'

'इसी बात की तो चर्चा कर रहे थे अभी हम लोग। आहूजा साहब को जानते हैं हम—दिल्ली में देखा है उन्हें। जैसे टिपटॉप अफ़सर हैं वे, थोड़ी-सी भी ऊँच-नीच हुई, खा जाएँगे। उन की ख़ातिरदारी सहज नहीं।'

'सामल, मैं देख रहा हूँ तुम में ज़रा-सा भी कॉमन सेन्स नहीं है। कुछ नहीं होगा सर। ये थोड़ा पी गया है। मैं तो सर इन की कंपनी की ख़ातिर साथ दे रहा था। बात ये है कि आहूजा साहब अगर आप के यहाँ ठहरने का तय कर चुके हैं, तो वे निश्चित ही वहीं रुकेंगे। क्योंकि वो अपना निर्णय कभी बदलते नहीं। इसलिए आप को जो परेशानी आ रही है, बताएँ। हम लोग उसे दूर करने की पूरी कोशिश करेंगे।'

'परेशानी. . . अगर एक हो तो कहूँ। हर तरह की परेशानी है—रहने, खाने, सोने, नहाने यानी सभी तरह से असुविधा। उस पर घर भी सरकारी, छत से लोहे की सलाखें झाँकती हैं। दरवाज़ों पर ज़माने से रंग नहीं लगा, दीवारों पर जगह-जगह बारिश के दिनों के सीलन वाले धब्बे, खिड़कियों में काँच नहीं, टॉयलेट में फ़्लश् नहीं, पंखों में स्पीड नहीं।'

'ओह. . .समझा। यू आर राइट सर। आहूजा साहब वहाँ नहीं ठहर सकेंगे। ठहरेंगे तो हम सबों के सिर क़लम कर दिए जाएँगे।'

खूँटिया चुटकी बजाते उचक कर खड़ा हो गया, 'आयडिया,. सामल आयडिया। इन तीन दिनों के लिए सर आप वह क्वार्टर छोड़ दें। मैं सर्किट हाउस में रह लूँगा। अभी तो अकेला हूँ मैं—बीवी असम गई है—बेटे के पास—महीने के अंत तक आएगी। वाह. . .बढ़िया। सुनिए सर, आप और कुछ न सोचें—सीधे मेरे घर चले आइए। वहाँ एक बावर्ची तो है, अर्दली भी भिजवा देंगे। नाश्ता, खाना बनाने और परोसने के लिए। राशन बी.डी.ओ. पहुँचा देगा।'

'बच्चों के भी साथ रहने पर परेशानी नहीं होगी। वे किताब-कापियाँ, अपने पहनने के कपड़े ले जाएँ, बाक़ी सब कुछ हमारा काम में लाएँ।'

'नो प्राब्लम। मान लीजिए, तीन दिन के लिए आप कहीं सपरिवार पिकनिक पर गए हैं सर। यही सोच कर थोड़ा-बहुत सामान अटैची में रख लें—तो भी चलेगा। क्लियर. . .तो फिर चलिए. . .क्विक्. . .अब और देर मत कीजिए। रात वहाँ गुज़ार लें तो सुबह रिसेप्शन की सोचेंगे।'

मैं कृत् कृत्, क्या कहूँ समझ नहीं पाया, 'आप का यह क़र्ज़ मैं कभी नहीं उतार पाऊँगा।'

'क्या कहते हैं सर, आप हमें जानते नहीं। हम आप की ख़िदमत यानी आहूजा साहब की ख़िदमत के लिए सब कुछ कर सकते हैं।'

रात को खूँटिया के घर में—घंटे भर तक हम सिर्फ़ घूमते ही रहे। लकदक टेबल, साफ़ सफ़्फ़ाक आईना। सोफ़ा, तीन-तीन दीवान, बेडरूम में डनलप पिलो, ड्राइंग रूम में ग़लीचा।

काफ़ी भारी बोझ हल्का हो गया था। हवा सुखद लगने लगी। खिड़की के रास्ते बग़ीचे से आती मोहक सुगंध शरीर के मन-प्राणों को भेद गई। इतने सौभाग्य और संयोग को पा कर मैं ठीक से सो भी नहीं सका।

खुशबूदार चाय की गर्म भाप की तरह सवेरा हुआ। खानसामा चमत्कृत कर देने वाले कप-प्लेट में बेडरूम में ही चाय दे गया। बच्चे भी उठ कर मस्ती करने में जुट गए। इस अनपेक्षित उपलब्धि के प्रभाव से मुक्त, सामान्य होने में हमें थोड़ा वक़्त लगा।

बंगले के चारों तरफ़ बग़ीचा, बग़ीचे में फूल ही फूल, वातावरण में वैसी ही सुगंध। लग रहा था, जैसे मेरे पंख निकल आए हैं। पक्षी-सा मैं उड़ रहा हूँ। बच्चों के ब्रेड, अंडे, मक्खन खाने का दृश्य, सुबह की चमकीली धूप में ताज़ा कली की तरह खिला उन का चेहरा। सुबह से नहा-धो कर तैयार ऋचा, मेरी पत्नी का आभिजात्य शालीन चेहरा। सब कुछ स्वप्न की तरह वायवीय और मनोरम।

लगभग पचास वर्षों की समझदारी के अपने जीवन काल में ऐसा जीवंत मौसम मैं ने कभी नहीं देखा था। मैं जानता था कि यह मौसम महज तीन दिनों का है। जानता था-इस के साथ थोड़ा-सा छल, प्रपंच, छुपाने-सा भाव, मन के किसी कोने-किनारे में दुबका बैठा है। जानता था कि दूसरे के रंगमंच के हम सिर्फ़ कुछ अभिनेता हैं। लेकिन वसंत का अनुभव तो छल नहीं था? इसलिए नंगे छूँछे पेड़ के जैसा कभी-कभी उदासी का बोध भी हो जाता था। हम भी किसी ऐसे घर में रह पाते! इस जैसे चिकने साफ़ चमचमाते घर में, ऐसे टेबल पर 'ब्रेक फास्ट' ले पाते! आह् की ऐसी ही हल्की निःशब्द आवाज़ कभी-कभी अचानक मुँह से निकल कर उस फ़िज़ाँ में घुल-मिल जाती थी। फिर भी सौम्य और खिले वसंत के आगोश में हमारे शरीर और मन बँध से गए थे।

इस के बाद आहूजा साहब के आने और जाने की कहानी—क्या आप के लिए कोई बड़ी घटना हो सकती है? तीन दिनों तक मेरा उन के साथ मुफ़्त में धौली, कोणार्क घूमना, चिड़ियों की तरह फुर्र-फुर्र उड़ना, तीस साल के पुराने अतीत को एक क़दम बढ़ा कर लाँघ लेना, ऋचा की तीस वर्ष पूर्व की चपलता को अब अपने सामने मुखरित होता देखना, क्या बड़ी उपलब्धि नहीं? वे दिन हमारे लिए एक उद्वेलित और उन्मुक्त वसंत से आकंठ प्रभावित रहे—बस यही सच है!

तीन दिनों का यह वसंत आकाश में फिर प्रसरित हो गया। अपने दफ़्तर की छह मंज़िली इमारत से देखने पर वह नीलवर्णी पक्षी-सा सुदूर देवदार की सब से ऊँची टहनी से गुज़रता दिखाई दे रहा था। बिना खिड़की-रोशनदान वाले रसोईघरों से ऋतुहीन-सारी लंबी घड़ियाँ शायद इसी तरह गुज़र जाती हैं।

ओड़िया से अनुवाद : **पूर्णचंद्र रथ**

आनंदराव लिंगायत

कोंपल फूटी

बा की तबीअत दिन-ब-दिन अधिकाधिक बिगड़ती जा रही थी। अस्पताल की तीसरी मंज़िल पर प्राइवेट रूम में उन्हें रखा था। बा की दवा-दारू या चिकित्सा में मैं ने कोई कमी नहीं रहने दी थी। डॉक्टरों की टीम में एक तो मेरा दोस्त अरुण था। ड्यूटी पर न हो तो भी वह ख़ास तौर से बा के पास आ कर बातें करता और हाल पूछ लेता। हमारे परिवार का एक सदस्य तो हमेशा बा के पास रहता ही।

आज डॉक्टरों ने आशा छोड़ दी थी। बा की अंतिम साँसें चल रही थीं। घड़ियाँ गिनी जा रही थीं। अरुण ने बा की गंभीर हालत के बारे में मुझे दफ़्तर में फ़ोन किया और तुरंत अस्पताल पहुँच जाने के लिए कहा। बा अपनी अंतिम घड़ियाँ गिन रही है। यह भी अरुण ने मुझे बता दिया। मैं भागता हुआ अस्पताल पहुँच गया और वहीं से फ़ोन करके मैं ने अपनी पत्नी, अपनी बहन, जीजाजी तथा अपने दो भाइयों को बुला लिया। हम सब बा के बिस्तर के आसपास उन्हें घेर कर खड़े हो गए। मैं उन के सिरहाने बैठ कर उन के माथे पर हाथ फिरा रहा था। बा बीच-बीच में आँखें खोल कर हम सब को देख लेती थीं। हम सब को देखने से परम संतोष हुआ हो ऐसी हल्की मुस्कान उन के चेहरे पर आ जाती और कुछ कहना हो यूँ मुँह खोलतीं लेकिन आवाज़ निकल नहीं सकती थी।

पिछले क़रीब तीन साल से बा की सेहत कुछ ज़्यादा ही लुढ़क गई थी। बा की उम्र भी अब अड़सठ साल की हो गई थी। हृदय की कमज़ोरी की वज़ह से कुछ ज़्यादा ही अशक्त नज़र आती थी। डॉक्टरों ने खुली हवा में रोज़ दो-तीन ब्लॉक यानी कि एक चौथाई किलोमीटर तक धीरे-धीरे चलने की सलाह दी थी, इसलिए मैं और बा रोज़ सुबह नियमित रूप से थोड़ा चल कर आते।

बा मेरे पास यहाँ अमेरिका में पिछले चौदह साल से रहती थीं। मेरी पत्नी की फुल टाइम जॉब होने की वजह से हमारे बच्चों की देखभाल के लिए बा आशीर्वाद रूप हो गई थीं। बेबी-सीटिंग का ख़र्च बचा, ऐसा मैं नहीं कहना चाहता, लेकिन हमारे बच्चों को जन्म से ही दादीमाँ की गोद में खेलने का अवसर मिला, दादीमाँ का दुलार मिला, लाड-प्यार मिला; और वह भी यहाँ अमेरिका में! कितने बच्चों के नसीब में इस प्रकार का सुख लिखा होता है? घर में रोज़ की पूजा, आरती, प्रसाद छोटे-बड़े तीज-त्यौहारों की धूमधाम, छोटी-छोटी पौराणिक कथाएँ—ये सारी धार्मिक बातें बच्चे बा के पास से ही सीखते रहते थे। बच्चे स्कूल जाने लगे तब से घर में अंग्रेज़ी ही ज़्यादा बोलने लगे थे। फिर भी बा के कारण उन का गुजराती बोलना जारी रहा। आश्चर्य की बात तो यह है कि बच्चों की वजह

से बा भी थोड़ी बहुत टूटी-फूटी अंग्रेज़ी बोलने और समझने लगी थी। लेकिन बच्चों को वे गुजराती भूलने नहीं देती थीं। यूँ तो बा मुश्किल से दो जमात पढ़ी होंगी; लेकिन हमारे बच्चों के लिए तो वे संस्कार की जीवंत ज्योत थीं।

बाबूजी के अवसान के बाद तुरंत मैं उन्हें यहाँ अमेरिका अपने पास ले आया था। जब छोटा था और हमारे गाँव की प्राथमिक शाला में पढ़ता था उस वक़्त बा की निजी ज़िन्दगी के बारे में ख़ास कुछ नहीं जानता था। वह सब समझने की मेरी उम्र भी नहीं थी। परंतु आज बा की उस ज़िन्दगी के बारे में सोचता हूँ तो हृदय में मानो एक दरार-सी पड़ जाती है।

मेरे पिताजी सरकारी नौकर थे। उन का ओहदा क्या था यह तो मुझे इस वक़्त कुछ भी याद नहीं। गाँव के रूढ़िग्रस्त और पुरुष वर्चस्व वाले परिवार में वे पले थे। स्त्री यानी पैर की जूती—एक मर जाए तो ब्याह कर दूसरी लाई जा सकती है। ऐसा गौरव से मानने वाला उन का कुटुंब। पिताजी थोड़ा-बहुत पढ़े थे और ऊपर से सरकारी नौकरी मिल गई इसलिए वे हवा में उड़ते हों, ऐसे ठाठ से चलते। मिज़ाज बहुत गर्म और भयंकर गुस्से वाले। मैं उन का बेटा था फिर भी उन के साथ बोलते या बात करते हुए बड़ा घबराता। बा की भी वही हालत थी। वे भी उन से हमेशा डरतीं, थरथरातीं और फड़फड़ाती रहती थीं। पत्नी यानी जीवन सखी, भावना, प्रेम या सुख-दुख की बातें करने की पात्र ऐसा पिताजी ने कभी सोचा हो ऐसा मुझे नहीं लगता। उन के मन में तो पत्नी यानी 'जोरू'... घर में बेगार करने के लिए सामाजिक विधि से ढो कर लाया गया एक पात्र थी। खुद घर में क़दम रखें तो खड़े पैरों अपना हुक्म झेलने के लिए एक नौकरानी; यही उन के मन में बा की क़ीमत थी।

बा का पालन भी शायद बचपन से उसी ढंग से हुआ होगा। लड़की की जात को शाला में जा कर पढ़ने की क्या ज़रूरत? ...पति के अधीन रह कर पति जो कहे—वही करते रहना; यही स्त्री का धर्म है। इस प्रकार के संस्कार बा को दिए गए होंगे। जो भी हो, लेकिन बा तो बाबूजी का कड़ा मिज़ाज, त्रास और अपमान सब कुछ क़दम-क़दम पर बिना बोले जीवन भर सहन करती रही। गाँव के हमारे उस छोटे से घर के सिवा बा ने बाहर की दुनिया देखी नहीं थी। मुझे याद नहीं आता कि बाबूजी कभी बा को साथ ले कर किसी सगे-संबंधी के घर या किसी सामाजिक उत्सव में या शहर में गए हों।

इस से उलटा बा का अपमान और तिरस्कार हुआ हो, ऐसे अनेक प्रसंग मेरी आँखों के आगे उभर आते हैं। एक दफ़ा रात को आठ-नौ बजे होंगे। दिन भर कपड़े, बर्तन, झाड़ू-पोंछा, रसोई, भैंस की देखभाल आदि कामों से निपट कर बा थकी-हारी बाबूजी की राह देखती हुई ज़रा लेटी हुई थी। अभी खाना भी नहीं खाया था। बाबूजी से पहले वह कभी खाती नहीं थी। चाहे कितनी भी देर हो जाए, वह उन की राह देख कर बैठी रहती। बाबूजी के प्रति उन का यह प्रेम था या रिवाज कि फिर डर यह उस वक़्त मेरी समझ में नहीं आया था।

थोड़ी देर में बाबूजी आए। उन के साथ उन के तीन-चार मित्र थे। सब को देख कर बा एकदम खड़ी हो गई। पास रखी हुई चारपाई डाल कर ऊपर दरी बिछा दी और सिर पर पल्लू डाल कर घर में चली गई। सब लोग चारपाई पर बैठे। भीतर बैठ कर वह बाबूजी के हुक्म की राह देखने लगी कि इन सब के लिए सिर्फ़ चाय-पानी ही करना होगा या रसोई भी करनी होगी? पाँच जनों की रसोई के लिए फिर से चूल्हा जलाना पड़ा तो इतनी ताक़त थके हुए बदन में कहाँ से लाएगी इस की चिन्ता उसे होने लगी। और हुआ भी वैसा ही।

'सुनती हो?' बाबूजी ने हुक्म दिया, 'इन मेहमानों के लिए थोड़ी रोटी और दाल-चावल बना डालो। सब्ज़ी के लिए मैं थैली में बैंगन ले आया हूँ।'

चुपचाप आ कर बा चारपाई के पास पड़ी हुई बैंगन की थैली ले गई। बा हुक्म झेलने की ही आदी थी। उसे कभी सामने दलील करना नहीं आता था। और बाबूजी के सामने तो दलील हो ही नहीं सकती थी। वे तुरंत गुस्सा

हो जाते।

बाबूजी के लिए बना कर रखी हुई खिचड़ी को परे रख कर उस ने फिर से चूल्हा जलाया। माइक्रोवेव ओवन या इलैक्ट्रॉनिक गैस का चूल्हा तो बा के पास कहाँ था? लकड़ी का धुआँ-भरा चूल्हा ही उत्तम सुविधा थी। अकेले हाथों उस ने दाल चावल बीन कर भिगोए, सब्ज़ी काटी, रोटी का आटा गूँथा और उस चूल्हे के धुएँ से आँखों में आने वाला पानी पोंछते-पोंछते पाँच जनों की रसोई कर सब को खाना खिलाया। ढेर सारे बर्तन माँजे फिर थक कर निढाल हो कर लेट गई। मैं वहाँ सामने बैठा हुआ लालटेन के उजाले में अपना होमवर्क कर रहा था। लेकिन मुझे उस वक़्त यह नहीं सूझी कि बा को थोड़ी मदद करूँ। लड़का होने के नाते बा मुझे शायद 'औरतों' के उस काम में मदद करने भी न देती। और फिर ऐसा काम करते देख कर बाबूजी भी मुझ पर और बा पर आग बबूला हो उठते।

एक दफ़ा एक पुरानी पतीली मलते हुए बा की हथेली कट गई। गहरा घाव होने से ख़ून बह रहा था। पड़ोस की जमना बेन आईं उन्होंने एक पुराने तकिए से रूई निकाल कर जला दी और घाव पर दबा कर एक पुराने चिथड़े की पट्टी बाँध दी। खून बंद हो गया और बा फिर से काम पर लग गई।

शाम को बाबूजी आए। उन्होंने बा के हाथ की पट्टी देखी।

'ज़रा ठीक से चित्त पिरो कर काम किया करो। यूँ बेध्यान हो के काम नहीं किया जाता। समझी?' बाबूजी बा पर गुर्रा उठे। कुर्ता और टोपी खूँटी पर लटका दी, बा के द्वारा रखे पाटे पर खाने के लिए बैठ गए। कैसे लगा? घाव कितना गहरा है? अब दर्द कैसा है? कुछ लगाया कि नहीं? ...ऐसे किसी प्रकार के ममता या सहानुभूति भरे शब्द बाबूजी के मुँह से निकले नहीं थे।

यहाँ अमेरिका मेरे पास आने के बाद चूल्हे का धुआँ और बदन तोड़ डाले ऐसे कामों से बा को राहत मिली। यहाँ का अच्छा मौसम, अच्छा खाना और पर्याप्त आराम से बा के शरीर पर मानो नया तेज़ आने लगा था। अब बा को किसी प्रकार का कष्ट न हो उस प्रकार उसे खुद रखने का मैं प्रयत्न करता रहता। मेरा नसीब अच्छा है कि मेरी पत्नी भी बा को अपनी 'सास' न समझ कर अपनी माँ जैसा संबंध रखती है। उन दोनों के घने संबंध से तो कई बार मैं अकेला पड़ जाता हूँ। उन दोनों का संगठन ग़ज़ब का है।

सब कुछ होने के बावजूद भीतर गहराई में एक तरह का परावलंबन अथवा आश्रित होने का भाव बा महसूस करती हो ऐसा मुझे लगता। उस विषय में कभी कुछ बोलती या शिकायत नहीं करती थी। पर मैं समझ सकता था। मेरी या पत्नी की अनुकूलता हो तभी उन्हें घर से बाहर निकलने का मौक़ा मिलता। हमारी अनुकूलता के अनुसार ही उन्हें हमारे साथ आना पड़ता अथवा घर पर रहना पड़ता। अड़ोस-पड़ोस के साथ किसी प्रकार की बातचीत के बिना दिन भर घर में, जेल जैसी एकलता और एकांत में उन्हें बंद रहना पड़ता। उन के मन की इच्छा के अनुसार स्वतंत्र रूप से कुछ भी करने का मौक़ा जीवन में कभी भी कहीं उन्हें मिला नहीं था।

पिछले क़रीब तीन साल से आर्थराइटिस और हृदय की कमज़ोरी ने बा को और अशक्त बना दिया था। घर में रसोई जैसा काम भी उन से नहीं हो सकता था। इसलिए बड़ी लाचारी का एहसास हुआ करता।

डॉक्टरों ने रोज़ सुबह थोड़ा-थोड़ा चलने के लिए कहा था। इसलिए मैं उन्हें सुबह नियमित टहलने के लिए ले जाता। आधा या चौथाई किलोमीटर चल कर हम वापस आ जाते।

हमारी स्ट्रीट पर रहने वाला एंडी हमें रोज़ सामने मिलता। वह जोगिंग करते हुए चलता रहता। 'गुड मार्निंग ... डेव ... गुड मार्निंग ... छम्पा ...' कह कर वह कहीं आगे निकल जाता। देवेन्द्र से मुझे डेव और बा को चंपा के बजाए वह छंपा कहता। उस की उम्र सत्तर के क़रीब होगी। लेकिन उस की तंदुरुस्ती और स्फूर्ति युवा को भी

शर्मा दे ऐसी थी। वह रिटायर्ड सरकारी अमलदार था। हमारे पास के रईस मोहल्ले में आराम का निवृत्त जीवन जी रहा था। पैसे टके की उसे कोई कमी हो ऐसा नहीं लगता था। उस का अधिकतर समय मानवता का काम करने वाली अलग-अलग संस्थाओं में सेवा देने में बीतता था।

बा का और मेरा सुबह चलने का यह कार्यक्रम एकाध महीना बराबर घड़ी की सुई की तरह नियमित चला। तभी ... मेरी दो हफ़्ते के लिए शिकागो जाने की बारी आई। बा का चलने का क्रम टूट जाएगा इस की मुझे बड़ी चिन्ता थी लेकिन गए बग़ैर चारा नहीं था। अतः मैं शिकागो जाने के लिए निकल गया।

बा का मनोबल पक्का था। पैदल चलने का नियम वो तोड़ना नहीं चाहती थीं इसलिए वे मेरे बिना अकेले सुबह चलने के लिए निकल पड़ीं। थोड़ा चलने पर थक गई होंगी इसलिए एक पेड़ के सहारे थकान उतारने के लिए खड़ी रहीं।

'गुड मार्निंग छंपा।' (सुप्रभात छंपा) एंडी सामने से दौड़ता हुआ भागा भागा निकल गया। यकायक उसे मानो कुछ ख़याल आया और वह तुरंत वापस लौटा, 'छंपा .... व्हेयर इस डेव? आर यू अलोन?' (छम्पा डेव कहाँ है? आप अकेली हैं?) 'यैस ... शिकागो ...' (हाँ शिकागो ...) बा ने टूटा फूटा जवाब दिया।

'ओ.के. ... कम विद मी...' (ठीक है मेरे साथ चलिए) एंडी ने बड़ी मुलायमता से बा का हाथ थामा... मानो प्रेम से हिम्मत देता कि, घबराना मत... मैं हूँ... बा का हाथ थाम कर आगे बढ़ने के लिए हिम्मत और प्रोत्साहन देने लगा। किसी पर-पुरुष का स्पर्श आज तक बा को नहीं हुआ था। एंडी के यूँ हाथ पकड़ने पर उस के स्पर्श से बा कितनी घबराई होगी और कितना संकोच महसूस किया होगा इस की मैं कल्पना कर सकता हूँ।

'एंडी, बैक...' (एंडी चलो वापस) हम जहाँ से रोज़ वापस लौट जाते थे उस जगह के आने पर बा ने इशारा कर एंडी को वापस लौटने के लिए कहा।

'नो...नो...छंपा... यू कैन डू इट ... लैट्स वॉक ए लिटल मोर... यू कैन डू इट...कम ऑन...' (नहीं, नहीं छंपा, तुम चल सकोगी, हम थोड़ा और चलें, तुम चल सकोगी चलो...)

धीरे-धीरे अति प्रेम से बा का हाथ पकड़ कर एंडी बा को आगे बढ़ने के लिए हिम्मत देने लगा। वात्सल्य भरे आग्रह से वह बा को थोड़ा और आगे चला कर हेल्थ फूड की एक छोटी-सी दुकान में ले गया। बा को एक कुर्सी पर जतन से बिठा कर वह काउंटर पर गया।

'हेयर छंपा ... दिस इज़ गुड फॉर यू ... ड्रिंक इट ...' (छंपा, यह तुम्हारे लिए अच्छा है, पीओ।) टेबल पर ताज़े गाजर के रस के दो गिलास रखे और कुर्सी खींच कर सामने बैठ गया।

ताज़े गाजर का रस बा ने आराम से पीया। उन्हें अच्छा भी लगा। रस पीने के बाद एंडी ने बा को आहिस्ता से कुर्सी से उठाया, शीशे का दरवाज़ा धकेल कर, बा सलामत रूप से बाहर निकल गईं तब तक पकड़े रखा।

'ओ.के. छंपा ... आइ विल सी यू टुमारो...' (अच्छा, छंपा मैं कल तुम्हें मिलूँगा।) एंडी बा को घर के दरवाज़े तक हाथ पकड़ कर छोड़ गया था। एंडी के साथ का यह अनुभव बा के पुरानपंथी दिमाग़ को खूब परेशान करता रहा होगा ज़िन्दगी अस्त होने की तैयारी में है तभी इस पर-पुरुष की गंध ठीक नहीं... इस तरह का पर-पुरुष का स्पर्श भी ठीक नहीं... ऐसे असंख्य विचारों ने बा का दिमाग़ कुतर डाला होगा, इस का मुझे भरोसा है। फिर भी बा ने उस का विरोध नहीं किया था। जीवन भर एक पुरुष की ओर से पड़े हुए दुखों के घावों पर ममता का मरहम चुपड़ा जा रहा हो ऐसा कोई एहसास उन्हें शायद हुआ होगा।

तीन सप्ताह शिकागो में ठहरने के बाद मैं वापस घर लौटा। इस समय के दौरान बा एंडी की मदद से टहलने जाती थी, इस का मुझे पता नहीं था। काफ़ी दिनों के बाद अपना बिस्तर मिलने के कारण मैं गहरी नींद में सो गया।

सुबह दरवाज़ा खुलने की आवाज़ से अचानक जाग गया। और बा को घूमने ले जाने की बात एकदम याद आ गई। तुरंत बिस्तर छोड़ कर मैं बाहर आया। स्वेटर और शॉल ओढ़े बा तैयार थी।

'बा, मुझे थोड़ा जल्दी क्यों नहीं उठाया?'

'बेटे, तुम सो जाओ। मैं एंडी के साथ जा रही हूँ। वो बाहर मेरी राह देख रहे होंगे।'

एंडी बाहर खड़ा था। मैं ने भी एंडी को दूर से हाथ हिलाया।

एंडी के साथ! मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। लेकिन मैं कुछ बोला नहीं। चुपचाप दरवाज़ा बंद कर वापस आ कर अपने बिस्तर में दुबक गया। नींद अब कैसे आती?

उसी दिन शाम को एंडी फिर आया। उस ने सूट पहन रखा था।

'हाय डेव... व्हेयर इज़ छंपा? इफ़ यू डोंट माइंड आइ एम टेकिंग छंपा टू प्ले बिंगो एट अवर चर्च।' (हाय डेव... छंपा कहाँ है तुम्हें एतराज़ न हो तो मैं छंपा को अपने चर्च में बिंगो खेलने ले जा रहा हूँ।)

मैं उसे क्या जवाब दूँ? मुझे तो यह कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मैं ने उसे भीतर बुला कर आदर से बिठाया और बा से पूछने उन के कमरे में गया। बिस्तर पर बैठी हुई बा माला फेर रही थीं। मैं कुछ पूछूँ उस से पहले ही बा ने सकारात्मक सिर हिलाया। दोनों आँखों से माला का स्पर्श कर पास वाले टेबल पर माला रख दी। लकड़ी के सहारे धीरे-धीरे उठ कर एंडी के सत्कार को बाहर लिविंग रूम में आईं। मुझे बा का व्यवहार समझ में नहीं आ रहा था। मेरे लिए यह सब एक बड़े प्रश्नार्थ जैसा हो गया था।

'छंपा, रेडी...?' (छंपा तैयार हो?)

एंडी ने खड़े हो कर बा को सम्मान दिया। बा को शायद पहली बार किसी पुरुष की ओर से इतना सम्मान मिला होगा। बा ने हल्का-सा स्मित किया और सकारात्मक सिर हिला दिया।

मेरी पत्नी ने बा को आग्रहपूर्वक नई साड़ी और ब्लाउज़ पहनाया और नया शाल ओढ़ा दिया।

बिंगो खेलने के लिए मैं बा को पैसे देने लगा।

'नो...नो...डेव... आइ विल टेक केयर ऑफ़ दैट।' (नहीं, नहीं, डेव मैं सब सँभाल लूँगा।)

एंडी ने मुझे पैसे नहीं देने दिए।

बिंगो यह निवृत्त होने वाले वयोवृद्ध लोगों के लिए पैसे रख कर खेला जाने वाला खेल है। हार-जीत में जमा होने वाला पैसा चर्च में दान के लिए दिया जाता है।

मैं ने दरवाज़ा खोला। एंडी ने सँभाल कर बा को बाहर निकाला। एंडी के सहारे धीरे-धीरे बा एंडी की गाड़ी तक पहुँची। कहाँ बा की कछुए जैसी गति और कहाँ एंडी की स्फूर्ति! एंडी को ज़रूर अकुलाहट होती होगी। फिर भी बा के प्रति उस का धैर्य ग़ज़ब का था।

एंडी ने दरवाज़ा खोला। सँभाल कर बा को भीतर लिया। अच्छी तरह से जतन से बा के दोनों पैर अंदर रख कर गाड़ी स्टार्ट की। गाड़ी के दूर अदृश्य हो जाने के बाद मैं और मेरी पत्नी आमने-सामने देखते रहे और थोड़ा हँस भी लिए।

बिंगो का खेल पूरा होने के बाद एंडी बा को अपने घर ले गया था। रसोई में कुर्सी पर बा को बिठा कर उस ने बा के लिए स्वादिष्ट शाकाहारी सेंडविच बना दी। पीने के लिए गर्म दूध में ओवलटीन डाल कर बड़ा गिलास भर दिया। दूध और सेंडविच से बा संतृप्त हो गई। फिर एंडी बा को घर छोड़ गया था। बा ज़िन्दगी भर जो दूसरों के लिए खाना ही बनाती रही; उसे जब एंडी ने ... एक पुरुष ने..., यूँ तैयार खाना परोसा होगा तब उस के मन में कैसे भाव जागे होंगे, इस की मैं कल्पना कर सकता हूँ।

फिर तो एंडी कई बार अपना गोल्फ़ का खेल, बॉलिंग का खेल और अपनी अन्य प्रवृत्तियाँ देखने बा को साथ में ले जाता था। बा को उन सब की क्या समझ पड़ती होगी यह तो मुझे मालूम नहीं; लेकिन एंडी के सहवास से वे खुश रहती थीं इतना मैं देख सका था। एंडी की ओर से मिलने वाले सम्मान, स्नेह और निःस्वार्थ मित्रता से बा का मन मानो तृप्त हो गया था।

बा कितनी नसीबदार थी कि उन के अंतिम पलों के समय हम सब भाई-बहन उन के बिस्तर के इर्द-गिर्द हाज़िर थे। मैं उन के सिरहाने बैठ कर माथे पर हाथ फेर रहा था। जैसे आख़िरी बार सब को जी भर के देखने के लिए तरसती हो—यूँ बीच-बीच में आँखें खोल बा चारों ओर नज़र फेर लेती थी। कुछ कहना चाहती हो, यूँ बार-बार ओंठ की पुड़पुड़ाती; परंतु आवाज़ निकल नहीं पाती थी।

आख़िर जितनी थी उतनी शक्ति जुटा कर बा ने कुछ बोलने का भगीरथ प्रयत्न किया। आँखें खोल हमारी ओर टकटकी बाँधे देखती रही। उस का मुँह खुला ओंठ धीरे-धीरे हिलने लगे। बा अब क्या कहना चाहती है यह सुनने के लिए हम सब की इंतज़ारी बढ़ गई। कान चौकन्ने कर, बा क्या बोलती है यह सुनने के लिए हम आतुर हो गए।

टूटते-से शब्द बा के मुँह से निकले, 'एंडी ... एंडी ... एंडी नहीं आया?' इतना बोल कर एंडी को ढूँढ़ती हुई बा की आँखें बंद हो गईं और गर्दन लुढ़क गई।

तप कर लाल बने सलाख से किसी ने दाग़ दिया हो ऐसी वेदना का शूल मेरे दिल में चुभ गया। एंडी को फ़ोन करने का मुझे ख़याल ही नहीं आया। एंडी से मिलने की बा की अंतिम इच्छा को पूर्ण न करने का दोष मुझे आजीवन डंक मारता रहेगा।

थोड़ी देर के बाद अपने रोज़ के समय पर हाथ में फूल ले कर एंडी हाज़िर हो गया। लेकिन दुर्भाग्य से आज वह देर से पहुँचा था। एंडी को देख कर मैं अपनी घुटन को रोक नहीं सका। ऐन मौक़े पर उसे फ़ोन न कर पाने के बजाए अपनी ग़लती की माफ़ी माँगता होऊँ यूँ उस से लिपट कर, छोटे बच्चे की तरह खुले मुँह रो दिया। एंडी ने भी उतने ही वात्सल्य से मुझे सीने से लगा लिया। मुझे आश्वासन दे कर वह बा की चारपाई के पास गया दुर्भाग्य से बा तो चल बसी थी।

एंडी ने बा के मुँह पर चादर ओढ़ा दी और हाथ में रखे फूल बा की मृत देह पर धीरे से रख कर, गीली आँखें पोंछते हुए रुंधे कंठ से बोला, 'छंपा ... दिस टाइम यू वॉल्क्ड फॉस्टर ... एंड ... लैफ़्ट मी बिहाइंड ... ।' (छंपा, इस बार तुम तेज़ी से चलीं और मुझे पीछे छोड़ दिया।)

ग़ुजराती से अनुवाद : **सुशीला जोशी**

अवतार कृष्ण राज़दान

दिल उछला देखने

हाँ, यह वही है। दिल! शरीर के बाईं ओर का एक महत्त्वपूर्ण अंग। आकार में नाशपाती जैसा। रंग है इस का लाल। रक्त से भरा हुआ। देखने में लगता है फूल-सा कोमल किन्तु उस समय आसपास खड़े जो व्यक्ति इस को कैंची और छुरियों से काट रहे थे, उन्हें यह पत्थर से भी सख़्त दिखाई दिया। यदि गहराई से देखा जाए तो ऐसा लगता है कि न दिल फूल-सा कोमल है न ही पत्थर जैसा सख़्त। यह तो दिल है, सिर्फ़ दिल। इसी दिल को जब उन्होंने उस के सीने से चीरकर निकाला तो पहली ही नज़र में उन को लगा कि यह टूट गया है, चूर-चूर हो गया है, उजड़ और सुलग गया है। अकारण ही बैठ गया है और न जाने चिन्ता की किस आँधी ने इस को पारा-पारा कर दिया।

आख़िर ऐसा क्यों है?—उस समय यह प्रश्न सब के मनोमस्तिष्क के स्याह पटल पर चॉक की लकीर खींच कर उभर आया। इस पर तुर्रा यह कि दिल को देखकर भी ये इस को अच्छी तरह देख नहीं सके थे। अंत में वही हुआ जो आजकल दिल-तसल्ली के लिए इस तरह के दिल के साथ होता है। पूरी जाँच करने के पश्चात हृदय-रोग चिकित्सकों ने इस का ऑपरेशन करना उचित समझा, क्योंकि सब यही चाहते थे कि दिल किसी तरह बच जाए। उस समय कैंची और छुरियों की सहायता से ठीक कर इस को सही अवस्था में लाने की कोशिश की गई किन्तु... किन्तु यह ठीक नहीं हो सका। इस के विपरीत यह तिलमिलाया। इस ने विद्रोह किया। यह चार-चार हाथ उछलने लगा और झटका मार कर उस के शरीर के अपने ख़ाने से एकदम बाहर निकल गया। जर्राही के इतिहास में इस प्रकार की यह पहली घटना थी जब दिल ने विद्रोही बन कर अपनी तरफ़ से क्रान्ति का झंडा फहराया। दिल के इस तरह के बर्ताव को देख कर ऑपरेशन-थिएटर में भगदड़ मच गई। फिर भी डॉक्टरों ने अपना दिल कड़ा किया किन्तु परिचारिकाएँ डर कर वहाँ से भाग गईं। किसी की समझ में नहीं आया कि यह क्या हो गया, क्यों हो गया और कैसे हो गया। सब इस धड़कते हुए मांस के बने नाशपाती आकार की ओर हैरानी से देखते रहे। इस बात पर किसी को विश्वास नहीं था कि दिल हाथ लगाए बग़ैर इस तरह विद्रोह करेगा। अभी तो डॉक्टरों को इस पर कई तरह के प्रयोग करने थे और यदि यह कुछ सैकंड तक उस के शरीर के अपने ही ख़ाने में रहता तो जर्राही के इतिहास में उन्होंने एक नया अध्याय जोड़ दिया होता। किन्तु हाय! वे इस को अपने वश में नहीं कर सके। अब वे इस को छूने से कतराने लगे क्योंकि मांस का यह लोथड़ा अपने ख़ाने से बुरी तरह बाहर निकल गया था। बाहर

निकल आने पर पहले इस की धड़कन तेज़ ही गई, तत्पश्चात यह धीरे-धीरे तड़पन की आग में झुलसता रहा और अंत में खून की धारा निकलते ही ठंडा पड़ गया।

दिल को इस तरह का विकार क्यों हो गया? यह जानने के लिए सब डॉक्टर उत्सुक हो गए। उन के मानस-पटल पर यह एक प्रश्न-चिह्न बन कर उभर आया जिस का उत्तर खोज निकालने में वे कुछ समय तक व्यस्त रहे। मगर हाय! अब उन के हाथ से सब कुछ निकल गया था। मानो चक्रवात में नाव बीच भँवर में डूब गई हो। उन के हाथ से सब कुछ निकल गया था। सब कुछ। उन का एक दिलचस्प दिल का रोगी दिल का एक विचित्र दौरा पड़ने से मर गया था। अब उन के लिए उस के दिल को एक बार फिर अपनी धड़कन में लाना संभव नहीं था। यदि वे इस को बचा लेते तो उन्होंने नाम कमा लिया होता। इस के लिए उन्हें बहुत पछतावा हुआ। कहते हैं न, यदि किसी वैज्ञानिक की अपनी प्रयोगशाला जल जाए तो उस को इस की कोई चिन्ता नहीं किन्तु यदि डॉक्टर के अपने किसी दिलचस्प रोगी की मृत्यु हो जाए तो उस के पास पछतावा करने के सिवाए कुछ नहीं रह जाता। ख़ैर, दूसरे दिन डॉक्टर मृतक के घर गए। वहाँ सब रो रहे थे। उन की आँखे भी उमड़ पड़ीं। वह इसलिए नहीं कि एक अच्छे इंसान की मृत्यु हो गई है बल्कि इसलिए कि उन के हाथ से दिल का एक दिलचस्प रोगी निकल गया। इतने में मृतक के सुपुत्र ने सुबकते हुए कहा कि मेरे पिता एक संवेदनशील आदमी होने के साथ-साथ चतुर दिल भी थे। सद्भाव उन में कूट-कूट कर भरा था। दिल के बादशाह होने के कारण उन के अंदर दिल-दरिया ठाठें मारता हुआ बह रहा था। वह सारी उम्र ठेकेदारी का काम करते रहे। इस बीच उन्होंने क्या किया, यह तो कहने की बात नहीं। सब कुछ तो आप के पास है। उन्होंने शानदार बंगला बनवाया। धन-संपत्ति जुटाई, सगे-संबंधियों की हर संभव सहायता की, किन्तु इतना होने पर भी उन का अरमान पूरा न हो सका, जिस को पूरा करने के लिए उन के दिल में ठन गई थी। इस को पूरा करने के लिए वे अपनी अंतिम साँस तक तड़पते रहे। उन की दिल की दिल में ही रह गई।

यह सुन कर सब डॉक्टर एक-दूसरे की ओर देखते ही रह गए। उन्होंने सोचा कि मृतक के परिवार की दिल जमई करने के बजाए वे इन की ही क्यों सुन रहे हैं। शोक की इस घड़ी में वे दो शब्द भी नहीं कह पा रहे थे। मृतक का सुपुत्र कुछ क्षण रुक कर एक बार फिर कहने लगा—वस्तुतः बात तो कुछ नहीं थी किन्तु चतुर दिल आदमी के लिए ऐसी बातें बहुत महत्त्व रखती हैं। हाँ, मेरे पिता ने चाहा था कि उन के नाम पर इस शहर में एक बड़ा अस्पताल बन जाए। अपनी इस इच्छापूर्ति के लिए उन्होंने भरसक प्रयत्न किए। अस्पताल बनाने के लिए उन्होंने दान के रूप में ज़मीन दे दी। सीमेंट का स्पेशल कोटा सैंक्शन करवाया और पैसे—कुछ मत पूछिए। पैसा पानी की तरह बहाया। अस्पताल तो बन गया और सभी कमरों की दीवारों पर उन्हीं के नाम से अंकित तख़्ती चढ़ गई। अस्पताल के भव्य भवन को देख कर उन के दिल का कमल खिल गया। उन का दिल बाग़-बाग़ हो गया। ख़ास तौर से जब इस अस्पताल के अंदर निरीक्षण करते तो उस समय ऐसा लगता था कि उन का दिल खिल गया है। किन्तु भाग्य की विडंबना! जिस दिन अस्पताल को रोगियों की सेवा के लिए खोलना था, उसी दिन समझ में नहीं आया कि अचानक यह क्या हो गया और कैसे हो गया। उन का दिल उसी समय खटका, जब मंत्रालय उलट गया और नए मंत्रालय के एक नए मंत्री ने अपने मंत्रालय के प्रभाव से इस अस्पताल का उद्घाटन अपने नाम पर करवाया। हाँ, यह वही आदमी था जो किसी समय हम प्याला था। यह देख उन का दिल उकता गया, कुम्हला गया। दिल में बनाया भव्य महल दिल में ही अचानक ढह गया। पछतावे की स्थिति में उन की समझ में कुछ नहीं आया कि ऐसा क्यों हो गया। कल वह दिल पर हाथ रख कर छटपटाने लगे और मैं ने जाना कि उन का दिल कराह रहा है। मैं ने उन को उसी दम इस नए अस्पताल में भर्ती किया। हाँ, आप ने वहाँ उन को ज़रूर बेहोश कर दिया

होगा। मगर उन का दिल चैतन्य था। जैसे ही आप ने उन का ऑपरेशन किया होगा तब दिल कूद कर बाहर निकला होगा। शायद इसलिए कि मैं इस अस्पताल का निरीक्षण करूँगा। अरे, इसे बनाने के लिए मैं ने सारी उम्र लगा दी और देखते ही देखते यह क्या हो गया! उसी के पश्चात वह दम तोड़ गया होगा, शायद उस नाम की तख़्ती देख कर जिस पर मंत्री महोदय या उन के हम प्याले का नाम अंकित था और जो उसी ऑपरेशन थिएटर की दीवार पर लगी हुई थी जहाँ आप ने उन का ऑपरेशन किया।

बिल्कुल इसी तरह हुआ था। यह सुन कर सब डॉक्टर खड़े हो कर एक-दूसरे की ओर हैरानी से देखने लगे। शायद यह सुन कर उन को इस तरह पीड़ित दिल को ठीक करने की गुत्थी मिल गई। फिर भी पछतावे की स्थिति में मानो एक-दूसरे से पूछने लगे कि उस दिन उस के सीने में धड़कता दिल चीर कर हम ने अपना दिल क्यों भरमाया! हम ने उस के दिल का ऑपरेशन क्यों किया? दिल—बुझे दिल के रोगी का ऑपरेशन करना कहाँ की बुद्धिमत्ता है। यह तो बस एक बहाना है। सिर्फ़ दिल-तसल्ली! वह दिल फिर कैसे धड़क सकेगा जो पहले ही बैठ गया हो, अंदर ही से सुलग गया हो या जिस के टुकड़े-टुकड़े हो गए हों।

कश्मीरी से अनुवाद : **स्वयं लेखक द्वारा**

आर.पी. लामा

साल का चाढ़

वातावरण में खुशहाली है। चारों ओर मौलसिरी के पत्तों से मधुर राग-रागिनी की ध्वनि सुनाई देती है। मादलों की डम्-डमाडम् की मधुर आवाज़ें पहाड़ियों के कोने-कोने में प्रतिध्वनित होने से और भी मीठी सुनाई देती हैं। जहाँ-तहाँ इधर-उधर त्योहार का वातावरण है। गाँव के बालक-बालिकाओं में सनसनी फैली हुई है, जवानों के मन में हलचल और बूढ़े नर-नारियों के मन में एक विषादपूर्ण नीरसता है।

दशहरा आया। सोलह-श्राद्ध जाते-जाते नवरात्रे भी आ गए। गाँव के सारे घरों में, प्रत्येक घर के लोगों के बीच लत्ते-कपड़े, टीका और अपने लोगों के बारे में बातचीत होने लगी—'इस बार लड़की और दामाद आएँगे कि नहीं, लड़का और बहू को कहाँ भेजना होगा, सौगात क्या-क्या ले कर जाएँगे—इत्यादि बातों को ले कर ख़ूब चर्चा होने लगी। ऊपर के घर में रहने वाले सरदार बाबू के बच्चे 'मेरे कितने अच्छे कपड़े' कहते हुए अन्य बच्चों को दिखा रहे हैं। रविवार और अन्य दिन में अब कोई फ़र्क़ नहीं रहा। बाज़ार की ओर अब गाँववाले दल बना कर जाने लगे। उड़ने वाले कीड़ों, दशहरे के मौसम में उत्पन्न होने वाले एक काले लेकिन उड़ने वाले कीड़े को पकड़ँ कर बच्चे 'अब दशहरा आ गया' कहते हुए खुशी से नाचने और फुदकने लगे। गाँव के सभी लोगों में गर्माहट आई हुई है।

अब दशहरा आने में सिर्फ़ एक हफ़्ता ही रह गया था—बच्चों के लिए कोई कपड़ा आज तक ख़रीदा नहीं गया है। अपने दिन भर की आमदनी से तो केवल हाथ-मुँह के लिए भी जुटाना मुश्किल है। स्वयं पुराने-फटे और मैले कपड़े पहन कर अपने दिन गुज़ार रहा है। ऐसी दयनीय हालत में लालबीर अब अपनी बीवी और बच्चों के लिए कहाँ से नए कपड़े ख़रीद कर लाए? कैसे इज़्ज़त को बचाए? गाँव में किसी के यहाँ उधार माँगे भी तो कौन देगा? शरीर पर एक भी अच्छा कपड़ा न पहनने वाले लालबीर का अब 'मंडल' भी विश्वास नहीं करेगा? अपना खेत होता तो कुछ किया जा सकता था। दौलत के नाम पर यही एक छोटी-सी पुरानी झोंपड़ी है—वह भी बड़ी दुर्दशा में।

गाँव भर के बालक-बालिकाएँ अपने नए कपड़ों के बारे में बातचीत करते तो लालबीर के लड़के-लड़कियाँ उस से पूछते, 'पिताजी, हमारे कपड़े कब लाएँगे?' लालबीर सिर्फ़ इतना ही कहकर टाल देता था, 'ला दूँगा रे, ला दूँगा।' वह उन्हें इस तरह की आशा बँधाता रहता था।

ग़रीब लोगों के घर बच्चे भी बहुत पैदा होते हैं। ईश्वर की भी यह कैसी दया है? पूरे आधा दर्जन हैं। न किसी

को अच्छा-कपड़ा है, न किसी का स्वास्थ्य ही।

सालाना पैदा हुए बच्चों को देखते ही दिल पसीज़ जाता है। लालबीर और उस की जोरू सुबह उजाला होते ही दूसरों के खेत में काम करने जाते हैं—सात बरस के बड़े लड़के को सभी भाई-बहनों की देखभाल के लिए छोड़ कर। शाम सूरज डूब जाने के बाद वे दोनों आते हैं। ढिण्डो (आटे को गरम पानी में उबाल कर पकाया गया एक मामूली पहाड़ी खाद्य), चावल, जो भी मिले संतोष मान कर खा लेते हैं और सो जाते हैं। इसी तरह उन लोगों की ज़िन्दगी बीत रही थी।

अब दशहरा भी देहरी पर आ पहुँचा। कुछ भी समझ में नहीं आया लालबीर को। घर में पैसे के नाम पर एक फूटी कौड़ी भी नहीं है। कुछ गहने वग़ैरह होते तो भी कुछ सहारा हो जाता। जो कुछ था, वह भी पिछले बरस बीमार हो जाने के कारण स्वाहा हो गया। लालबीर को रात भर नींद नहीं आई। कई उपाय सोचे—क्या-क्या करना है, लेकिन उस का दिमाग़ कुछ नहीं सुझा सका। वह हैरान और निराश हो कर चोरी जैसा 'नीच काम' करने की सोचता है। लेकिन चोरी का काम करके कितने दिन चलेगा? सोच कर वह फिर अपने को सुमार्ग पर लाने की कोशिश करता है।

एक दिन शाम को भोजन के बाद लालबीर सोते हुए न जाने क्या-क्या सोच रहा था। बच्चे सब सो गए थे। लालबीर की पत्नी सो रहे गोद के बच्चे को सहलाती हुई कहती है, 'अब क्या करें? कुछ भी तो नहीं है, अब बच्चों को कपड़े कहाँ से ला कर दें?' बिछौने से कुछ ऊँघते हुए लालबीर ने कहा, 'यही तो मैं भी सोच रहा हूँ, लेकिन एक-दो हों तो कुछ कर लेता, अब तो छह-छह बच्चे हैं, तब क्या करें?' पत्नी बच्चों को फटे कंबल ओढ़ाती हुई कहती है, 'बात तो ठीक है, अब वही एक बाकी है, पिताजी से मिले हुए 'कड़े'। कल उन्हें ले कर बाज़ार जाइए और उसे बेच कर बच्चों के लिए कपड़े ले आओ।' लालबीर की इच्छा तो नहीं थी, फिर भी 'ठीक है' उस ने कहा।

सुबह उठ कर वही अठारह तोले के चाँदी के कड़े ले कर लालबीर बाज़ार की ओर चला। रास्ते में बहुत-सी बातें सोचने लगा—इन कड़ों को जहाँ तक हो सके बचाना है। लेकिन जैसे दिमाग़ में ताला पड़ गया हो, ऐसी उस की हालत हो चुकी थी। वह बारह बजे के क़रीब बाज़ार पहुँचा और एक कोने की दुकान पर गया। कोई देख न ले, इसलिए जल्दी-जल्दी अपनी छोटी-सी पोटली खोल कर साहूकार को दिखाते हुए बोला, 'यह खरीदेंगे? कितना देंगे?' साहूकार ने वे दोनों कड़े झट से उस के हाथ से ले कर कुछ उलट-पुलट कर देखते हुए कहा, 'इस का भाव तो आजकल बहुत गिर गया है, मेरा भाव मानोगे?'

लालबीर ने कहा, 'आजकल जो भाव हो, हिसाब करके दीजिए, महाजनजी!'

साहूकार ने वे अठारह तोले चाँदी के कड़े तौल कर केवल साढ़े सत्रह तोले का बताया और फिर 'आधा तोला तो मैल है इस में' कहते हुए सत्रह तोले के हिसाब से उस ने लालबीर को पाँच रुपए का एक नोट थमा दिया। कड़ों को अपनी तिजोरी में रख कर महाजन ने मुँह फेर लिया। इधर लालबीर वह पाँच रुपए का नोट अपने हाथ में ले कर कुछ देर तक देखता रहा। फिर उठ कर कुछ दूर चल कर उस ने उस पाँच रुपए के नोट को फिर एक बार देखा और सोचने लगा—यह पाँच रुपए से अब मैं क्या करूँ? कपड़े खरीदूँ तो एक बच्चे का भी पूरा नहीं पड़ेगा।' उस के चेहरे पर चिन्ता की रेखाएँ खिंच गईं।

शाम के पाँच बज गए। अभी तक लालबीर कुछ फ़ैसला न कर सका। आख़िर में उस ने उस पाँच रुपए के नोट को ले कर घर जाने का विचार किया।

संध्या गहरी हो गई। घर में आज लालबीर के बच्चे बहुत खुश हो रहे हैं। दिन भर गाँव के बच्चों के साथ 'आज हमारे पिताजी भी हम लोगों को नए कपड़े लाएँगे'—कहते हुए इधर-उधर फुदकते रहे थे। 'पिताजी कब आएँगे'

सोच-सोच कर बार-बार वे सब कभी दरवाज़े को देखते तो कभी आँगन में बैचेनी से टहलने लगते।

रात बहुत बीत गई, फिर भी अभी तक लालबीर घर नहीं पहुँचा था। आधी रात हो गई। बच्चे सब इधर-उधर सो गए।

सुदूर उस पार की एक चाय बाग़ान की घंटी ने जब टन-टन करके बारह बजाए, तब लालबीर घर पहुँचा। इतनी रात में भी उस की पत्नी पुराने कपड़े सी रही थी।

लालबीर ने अपनी पत्नी को सभी बातें बता दीं। दोनों ने देर तक अपनी इस ग़रीबी और विवशता के बारे में बहुत-सी बातचीत कीं।

'कल सुबह ये सभी बच्चे मुझ से कपड़े माँगेंगे—तब मैं क्या जवाब दूँगा?' लालबीर ने चिन्तित हो कर कहा।

जवाब में पत्नी ने कहा, 'इस बार भी हमेशा की तरह यह दशहरे का चाढ़ ऐसी ही हालत में चला जाएगा, नए कपड़े तो अब आशा ही आशा में रह गए। मैं ने वही पुराने कपड़े धो कर रखे हैं। कल वही कपड़े बच्चों को पहना दूँगी. . . .।'

नेपाली से अनुवाद : **कर्ण थामी**

बंधु शर्मा

मीनार, दरिया और राजनाथ

घर की बालकनी में खड़े राजनाथ नीचे बह रहे जेहलम को देख रहे हैं। संझलौका धीरे-धीरे रात्रि के विस्तार की ओर बढ़ रहा है।

'हैऽऽ अतल फलाऽ. . . है ऽऽ अल्ल फलाऽ'—ईशा की अज़ान के बोल उन के कानों में पड़ रहे हैं. . .। मस्जिद की मीनारों के रंग-बिरंगे शीशों से झरती बिजली के बल्बों की कई-कई रूपाकार लेती रोशनी जेहलम के पानी में गिर रही है। मस्जिद के बाहर 'झुंड' पर ऊँचे छतनार चिनारों की हिलोरें लेती मटमैली छायाएँ दरिया के बीचोंबीच तिर रही हैं। हर तरफ़ जैसे कठोर सन्नाटा व्याप गया है। एक रहस्यपूर्ण शरारती सन्नाटा. . .। ईशा की नमाज़ पढ़ने, मस्जिद की ओर कोई बिरला ही जा रहा है। हर कहीं एक गहरा तनाव है। कुछ दिनों से, आसपास की कोई दसियों जगहों पर शाम से सुबह तक का कर्फ़्यू लग जाता है। मारे डर के सहमे हुए सब लोग घरों के भीतर दुबक जाते हैं। बीच-बीच में उठते बमों के ज़ोरदार धमाकों और गोलीबारी की तेज़ आवाज़ आसपास की पहाड़ियों को कँपाती दिलों में सिहरन पैदा करती चली जाती है।

पड़ोस में उन के घर के पास ही हाजी मीर अली पंडित की हवेली है। गली में अचानक ड्योढ़ी के फ़ाटक में बने ताकचे के खुलने और बंद होने की आवाज़ आई।—हाजी साहब. . .ईशा की नमाज़ पढ़ कर लौट रहे हैं शायद. . .। उन्होंने सोचा।

कुछ देर बाद गली में लंबे-तड़ंगे सिपाहियों की गश्त करती एक टुकड़ी का समवेत स्वर उभरा तो वे ज़रा बालकनी की ओट में हो लिए। एक बार फिर उन का ध्यान मस्जिद की मीनारों और गुंबद पर गया जिन पर जड़े लाल, हरे, पीले, कटावदार काँच के टुकड़े रोशनी से लकदक झिलमिला रहे थे।

राजनाथ को बचपन से ही अपने मोहल्ले की यह मस्जिद, जगमगाते मीनार और गुंबद किसी परीमहल की तरह रहस्यपूर्ण और अद्‌भुत जान पड़े हैं। नीचे जेहलम, अपने भीतर युगीन संस्कृति की साँझी धरोहर समेटे किनारों को जोड़ता बहता जा रहा है। उन्हें यह दरिया हमेशा एक दरिया न लग कर एक साँस लेता जीवंत साथी और गुरू प्रतीत हुआ है। जिस ने उन्हें जीवन के कई पाठ पढ़ाए हैं। अनेकों रहस्य उजागर करता, कई ऐतिहासिक पृष्ठ उलटता है यह दरिया उन के आगे।

'वितस्ता' से 'जेहलम' होने तक के कई उतार-चढ़ाव और राज परिवर्तन देखे हैं इस ने। संस्कृति की यह धारा

कहीं सूख जाए तो? दोनों कगारों के बीच कितनी बड़ी खाई बन जाएगी. . .वे सोच रहे हैं।

ड्योढी के किवाडों पर किसी की दस्तक पा कर उन का जी 'धक्' से रह गया।

कौन होगा? इस वक्त. . .। सशंकित से वे खिड़की में से नीचे झाँकते हुए हैरानी से भर उठे। नीचे अपनी दोनों बेटियों के साथ मीर अली पंडित खड़े थे। नौकर 'गुलामा' भी साथ था।

वे घबरा गए, 'हे भगवती! अब क्या होगा? सब ख़ैर. . .तो है?' . . .वे एक ही साँस में तेरह अँधेरी सीढ़ियाँ पार करके नीचे ड्योढ़ी में पहुँचे।

'. . .क्या बात है हाजी साहब?? —आप. . .!'

'सब ठीक है. . .राजनाथ, तुम पहले ज़रा अंदर तो चलो. . .।' हाजी साहब ने कहा।

'. . .सुनो आमिना और शमीमा आज रात तुम्हारे यहाँ रहेंगी।'

'वाह! आज मेरी बेटियों ने अपने अंकल को कैसे याद किया?' राजनाथ ने भीतर की चिन्ता और तनाव को बनावटी मुस्कान में लपेटते हुए कहा। उन्हें लगा, वे दोनों लड़कियाँ कहीं गहरे उलझाव में घिरी हुई हैं।

कोई और वक्त होता तो वे अपनी मंद-मंद मुस्कानों की किरनें बिखेरतीं। वे उन दोनों को खूब अच्छे से जानते हैं। वे दोनों उन की छात्राएँ जो थीं। उन्हें भीतर कमरे में बिठा वे अपने दीवानख़ाने में आए। गुलामा लड़कियों के ठहरने का उचित प्रबंध देखने में लग गया।

'क्या. . .बात है हाजी साहब!' राजनाथ बोले।

'हालात अच्छे नहीं हैं दोस्त। पार वाले मोहल्ले में तो आज फिर कितनी देर तक गोलीबारी होती रही है।' हाजी साहब कुछ रुक कर बोले, 'आज तो जी बड़ा घबरा रहा है। अभी थोड़ी देर पहले सुना था कि मस्जिद में. . .पर, अब शायद इधर रात को हमारी तरफ़ भी तलाशियाँ हों. . .बेटियों की 'मॅजी' बड़ी डरी हुई हैं। कहने लगीं इन्हें मास्टरजी के घर छोड़ आओ!'

'सही किया. . .। बिल्कुल सही किया साहब।' राजनाथ सांत्वना भरे स्वर में बोले। तलाशी तो उन के घर में भी हो सकती थी। उन के भीतर भय के करैत ने 'फण' उठा लिया, पर वे जैसे अंदर ही अंदर घुट गए और चुप लगा गए।

'लतीफ़ कहीं गया है क्या। एक-दो रोज़ से दिखाई नहीं दिया।'

उन्होंने जान-बूझ कर बात बदलने की गरज से हाजी साहब के बेटे के लिए पूछा।

'चरार शरीफ़ भेज रखा है उसे चाचा के पास। वहाँ तो चैन अमन है कुछ. . .।' मीर अली पंडित ने कहा। फिर जैसे बात बरबस आगे खींचते हुए बोले, 'तुम्हें पता है न? मैं ने आमिना के लिए, अपना भतीजा माँग रखा है। . . .सूखे मेवों का अपना बड़ा कारोबार है उस का। पर जान पड़ता है, उन का यह सीज़न अब के भी बेकार जाएगा। सोचता हूँ, चरार शरीफ़ जा कर ज़ियारत भी कर आऊँ और लगे हाथ आमिना का निकाह भी वहीं पढ़वा आऊँ तो कुछ बोझ हल्का हो।'.वे फिर गंभीर हो आए और बात समेटते हुए बोले, 'देख रहे हो न, वक़्त कैसा जा रहा है?

'हाँ, हाजी साहब! बेटियाँ तो हमारे घरों में भगवान की सौंपी अमानत हुईं न। जहाँ दाना-पानी हुआ वहाँ चली जाती हैं।' राजनाथ को अपनी बसंती का ध्यान हो आया। पता नहीं, अपने भाई-भाभी के साथ कहाँ भटक रही होगी और उन की आँखों में एक गीली परत सी बिछ आई।

'अच्छा दोस्त! है इजाज़त!' हाजी साहब उठ पड़े और खिड़की के शीशों में से बाहर झाँकने लगे। गली में चुप्पी थी। उन्होंने आसमान की तरफ़ देखा, बादल घिरे हुए थे।

'लगता है आज फिर बर्फ़ गिरेगी।'

'ओ गुले! आओ, चलते हैं. . .।' उन्होंने खादिम, गुलाम को आवाज़ दी। चलने से पहले वे फिर लड़कियों के पास गए। जब लौटे, तो उन के दाएँ हाथ की उंगलियाँ उन की नम पलकों पर टिकी हुई थीं।

'चलो. . .अल्ला साज़गार है. . .।' वे होठों में बुदबुदाए।

रात को राजनाथ की पलक न लगी। मन में कई ख़याल और आशंकाएँ घुमेर लेती रहीं। उन की बिरादरी के लोग अपने घर-ठिकाने छोड़ कर निकल रहे हैं। जब कोई परिवार निकलने लगता है तो पड़ोसी उन्हें रोकते हैं। छोड़ कर न जाने के लिए कैसी-कैसी मिन्नतें करते हैं। रक्षा करने का वचन देते हैं. . .। जाने वाले लोग अपने मकान, ज़मीन, साज़ो-सामान अपने पड़ोसियों को सौंपते हुए भरी आँखों से गले मिलते हैं।

अब. . .ये दृश्य बड़े आम हो गए हैं। हर तरफ़ 'अल्लाह निगेबान' की दुआएँ माँगी जा रही हैं।

आजिज़ आए हुए लोग एक-एक करके खिसक रहे हैं। अजीब अफ़रा-तफ़री की स्थिति है। . . .आतंक, त्रास और अविश्वास की स्थिति। अफ़वाहें हैं कि चिनारों के सूखे पत्तों की मानिन्द उड़ी फिरती हैं। कामकाज ठप्प. . .। दफ़्तरों, स्कूलों, अस्पतालों में हाज़िरी बस नाम भर की रह गई है।

कलेक्शन कौव. . .मारधाड़. . .जानलेवा तलाशियाँ, हत्याएँ. . .ऊटपटाँग इश्तिहार रोज़मर्रा की चीज़ों की तंगी. . .हड़तालें और बंद. . .।

लोग जैसे अंधी सुरंग में फँस गए हैं। जिस के दूसरे सिरे पर कोई रोशनी नज़र नहीं आती।

अचानक, गली में पुलिस की एक टुकड़ी गश्त करते हुए गुज़री तो कुत्ते भौंकने लगे। फिर जैसे कर्फ़्यू को ध्यान में रखते हुए मुहल्ले की तंग गली में जा दुबके। उन्हें आज अपने परिवार. . .ख़ास तौर से अपनी बसंती की बड़ी याद आ रही है। उन्होंने भी एक जगह उस की मँगनी की बात पक्की की थी पर अब वे लोग भी घर से उखड़ कर ऊधमपुर में, कहीं जा टिके हैं। अब्दुल्ला गोजरी खुद उन्हें अपने ट्रक में बिठला कर 'गढ़ी' छोड़ आया था और फिर लौट कर उसी ने राजनाथ को उन का पता ठिकाना भी बतलाया था।

हाजी मीर अली का अंदाज़ा सही निकला। उस रात खूब बर्फ़ गिरी। वे हवा में तैरते रुई के फाहों की तरह बर्फ़ का नीचे गिरना देखते रहे।

बर्फ़ क्या थी? जैसे कोई धुनिया रुई धुन-धुन कर नीचे फेंकता जा रहा हो। वे याद करते रहे. . .पहली बर्फ़बारी. . .। क्या खूब होता था हाजियों के यहाँ 'जश्ने-नौशीन'। . . .जब मोहल्ले में 'हरीसा' बँटता था। उन के अब्बू हाजी अहमद अली पंडित और उन के कुनबे के सारे लोग अपनी नीम गर्म बैठक के बुखारचे में बैठ, नीचे आँगन में अपने नौकरों-चाकरों, हथकरघे के कारीगरों, शाल बुनकरों और कारख़ाने में काम करने वाले दूसरे मज़दूरों के बीच होने वाली शीन जंग के खेल का आनंद लिया करते थे। आँगन के बीचोंबीच बेलबूटे का नक्काशीदार समावार खौलता रहता। सारे दीवानख़ाने में इलायची, बादाम, दालचीनी और केसर पड़े कहवे की खुशबू लपटें मारती रहती थी। एक नौकर तो बस बड़े हाजी साहब के लिए फ़र्शी हुक्का गमनि में ही लगा रहता था।

सब कामगर और ख़ादिम जब शीन जंग लड़ते-लड़ते थक जाते तो नौकर उन्हें नमकीन चाय के साथ खाने के लिए 'लवास' पेश करते।

तब उन की आँखों में कैसी अजीब चमक आ जाती थी। इस शीन जंग से मानों उन के पेट में भूख की चक्की चलने लगती और चक्की की रगड़ उन कामगरों की आँखों में जैसे चिंगारी धर जाती थी। काँपते हाथों से गर्म चाय के प्याले और कुल्चे थाम रहे उन लोगों के फिरन जगह-जगह से छीज गए होते। पर ऐसे में दरिद्रता और ग़रीबी भी उन के जवान होठों पर लोकगीतों के थिरकते सुरों पर बंदिश न लगा पाती।

'आड़ुओं के फूलों के रंग जैसी उस की देह. . .देख कर मैं बावला हो गया. . .रात के प्याले में. . .रात के प्याले में मुझे उस ने पिलाई। मैं बावला हो गया साथिया. . .'

फिर एक और गीत. . .गूँज उठता. . .रबाब की लय बस मस्ती बिखेरती चली जाती। अजीब रंग जमता था। ग़रीबी और संगीत में भी कैसा रिश्ता है वाह! वे सोचते रहे।

फ़ारसी के विद्वान्, राजनाथ के पिता दामोदर कौल भी तब जीवित थे। उन्हें अच्छे से याद है कि उस ज़माने में अशिक्षा पर वे अक्सर लोगों को एक दंत कथा सुनाया करते थे। जो घाटी की तत्कालीन स्थिति पर पूरी उतरती थी।

'एक बार शेखसादी के पास एक महिला आई और विनती करने लगी कि "शेख साहब मुझे एक ख़त लिख दीजिए" सादी साहब ने क्षमा याचना के साथ कहा, नेकबख़्त! मैं नहीं लिख सकता मेरे पैरों में दर्द है। स्त्री ने चकित हो कर कहा पर शेख साहब ख़त तो आप को हाथ से लिखना है न कि पैरों से। सादी तनिक हँसे और बोले, नेकबख़्त। वहाँ पढ़ने के लिए भी शायद मुझे ही जाना पड़े।

उन की आँखों में अतीत के कई चित्र उभर आए थे।

गली जाग रही है। कर्फ़्यू खुलने वाला है। हाजी मीर अली पंडित और उन के पीछे गुलामा, समाचार और प्याले उठाए राजनाथ के दीवानख़ाने में आ गए। हाजी साहब ने अपनी दोनों बेटियों को बुलाया और साथ बैठ कर चाय पीने लगे। उन के चेहरों पर रतजगे और तनाव की कड़ुवाहट झलक रही थी। बढ़िया, बारीक, बेलबूटेदार बिना डाँडी के महीन चीनी के प्यालों में गुलाबी रंग की चाय सुड़कते हुए हाजी साहब ने राजनाथ से पूछा :

'तो, . . फिर क्या सोचा?'

'किस का?'

'. . .जाने का. . .'

'जाना तो पड़ेगा. . .। मजबूरी है न. . .। बसंती के रिश्ते की बात. . .वे शादी माँग रहे हैं. . .। ज़रा बच्चों को देख आऊँ।' राजनाथ जैसे बयान दे रहे थे।

'कब जाना होगा?'

'ईश्वर ने चाहा तो परसों निकल जाऊँगा।'

'हमारे साथ ही चले चलो न, चरार शरीफ़ कुछ दिनों के लिए। आमिना की शादी के बाद चले जाना। जाने फिर कब मिलना हो. . .।' हाजी साहब भावुक हो आए थे।

राजनाथ ने अपनी जेब से ग्यारह रुपए निकाल कर उन्हें थमाते हुए कहा, 'न्याज़ चढ़ा दीजियेगा।'. . .फिर कुछ रुकते हुए से बोले, '. . .सुनते हैं, रात को त्रंबुओं के घर से दो नक़ाबपोश पिस्तौल दिखा कर ख़ासी रकम ऐंठ ले गए और 'चुप' रहने की धमकी दे गए सो अलग।'

हाजी साहब चुप रहे। उन्होंने देखा। बेटियों के चेहरे बुझ गए थे। राजनाथ सोच रहे थे कि इन दिनों कैसी अनहोनी घट रही है। फिर भी इंसानी क़द्रें चुकी नहीं हैं। लोग चाहे डरे, सहमे हुए हैं फिर भी आपसी सुख-दुख उन के साँझे हैं। उन के अपने। परसों ही उन्होंने अख़बार में पढ़ा था किसी मुहल्ले में एक बूढ़ी पंडिताईन जो अपने घर में अकेली रहती थीं, अचानक चल बसीं। उन के घर के बाक़ी लोग पलायन कर गए थे। मोहल्ले में उन की जात-बिरादरी के भी जो एक-दो घर थे। वे भी ख़ाली हो चुके थे। शवदाह का कोई चारा न था। पड़ोसियों ने ही उन्हें शमशान पहुँचाया और किसी तरह आग जुटाई थी।

और अंततः. . .

राजनाथ भी अपने शहर को अलविदा कह आए।

जब वे गाँव में पहुँचे तो रात काफ़ी गहरा चुकी थी। ढलान पर बने हुए वीरान से पंचायत घर के चबूतरे पर खाट बिछा कर वे लेट गए।

ठंड, रतजगा और फिर सफ़र की थकान। वे ख़ासे पस्त थे। निढाल. . . । ढलान पर उन के सामने ही थोड़ी दूर मैदान का खुला विस्तार था। क़तार दर क़तार सैकड़ों नए नकोर सफ़ेद खेमे गड़े हुए थे। चाँदनी रात में ये टैन्ट, खुला मैदान और कुछ फ़ासले पर बहता पत्थरों, चट्टानों से सिर टकराता नाला। सब कुछ उन्हें झक उजला दिखाई दे रहा था। उन की आँखों के आगे अपने शहर की ईदगाह वाला मैदान घूम गया, जहाँ नमाज़ी क़तार दर क़तार सिज़दे में खड़े होते थे। वे कितनी देर उसी ओर देखते रहे।

मैदान में कहीं कोई हलचल नहीं। बीच-बीच में कोई परछाईं उभर कर लुप्त हो जाती। कहीं किसी अधसोए कुत्ते के भौंकने की आवाज़ को छोड़ खेमों वाली सारी बस्ती नींद में थी। अपने नसीबों की तरह।

आँख कब लग गई। उन्हें पता ही नहीं चला। जब वे जागे तो सूरज काफ़ी ऊपर आ गया था। क्षण भर के लिए वे भूल गए कि वे अनजान जगह पर थे। अपने घर में नहीं. . .अपना घर. . .जहाँ जेहलम बहता है। सामने मस्जिद के मीनार और गुम्बद लौ बिखेरते हैं। उन्होंने घड़ी की ओर देखा, नौ बज रहे थे। उन्होंने झोला कंधे पर डाला। हाथ में अटैची उठाई और नीचे मैदान की ओर बढ़ चले. . . ।

डोगरी से अनुवाद : **डॉ. ऊषा व्यास**

धूमकेतु

भैया दूज

सच पूछिए तो किरण को सुध ही नहीं थी कि कल भैया दूज है। जन्म दिन अपना भी याद है, साहब का भी और बच्चों का भी और वह भी तारीख़वार। ऐसे छोटे-मोटे पर्व-त्यौहारों की स्मृति तो है, मगर कभी खुद किया हो, यह याद नहीं। उस के बच्चों को पता नहीं, कौन-सा पर्व किस तिथि को है। इसलिए जब साहब ने आ कर कहा कि उस के अंजनी भैया कल इसी शहर में टूर पर आ रहे हैं, तो किरण पर इस बात की कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई। वह इतना जानती थी कि अंजनी भैया केन्द्र में मंत्री हैं और संबंध में उस के ममेरे भाई लगते हैं। लेकिन किसी अच्छे व्यक्ति के रूप में भाई का चित्र उस के मन में नहीं था। भाई द्वारा की गई शैतानियाँ अभी भी उस की आत्मा में टीस जाती हैं, शायद इसीलिए किरण के मन की बहुत प्रछन्न घृणा ने द्वेष के रूप में फ़न काढ़ लिया। फुफकारती-सी बोली, 'अच्छा! माननीय मंत्रीजी को एक निरीह फुफेरी बहन की याद आई कैसे? उन से हुई भेंट को तो बीस साल से भी ज़्यादा हो गए।'

साहब ने हँसते हुए कहा, 'वह तो तुम जानो या तुम्हारा भाई। मैं तो हरकारा हूँ। वे तो न्योता भी लेंगे और बहन का अन्न भी ग्रहण करेंगे।' उस के बाद पुलकित होते हुए उन्होंने पूरा क़िस्सा किरण को सुनाया कि चीफ़ सेक्रेटरी ने कैसे उन्हें बुलाया, खड़े हो कर हाथ मिलाया और मंत्रीजी के कार्यक्रम की एक प्रति उन्हें दी। साहब लगातार कंठहँसी हँसते रहे और किरण को मनाते रहे कि जब तक कोई अपना पुश करने वाला नहीं होता, तब तक कोई आगे बढ़ ही नहीं सकता। अब देखो न। एक क्षण पहले तक जो आदमी सीधे मुँह बात नहीं करता था, मंत्रीजी के कार्यक्रम को देख कर उस ने हाथ मिलाया।'

मगर किरण गंभीर बनी रही। साहब चुप हो गए तो उन की आँखों में देखती हुई बोली, 'मुझे तो ताज्जुब होता है कि हम यहाँ हैं, इस का पता उन्हें लगा कैसे?'

साहब सकपका गए। बोले, 'कैसे कहूँ।' इतना कह कर साहब के होठों पर मुस्कान आई और ग़ायब हो गई। किरण ने सूत्र को पकड़ा, 'खुद ही न्योता लेने आ रहे हैं या निमंत्रित किए गए हैं?' साहब टाई खोलते हुए आलमारी की तरफ़ बढ़ गए, 'निमंत्रित कौन करेगा। आज के दिन भी निमंत्रण की ज़रूरत है।' किरण पंडित की बेटी ठहरी। बोली, 'स्मरण तो करवाया जा सकता है।' साहब तिलमिलाए, 'भाई सिर्फ़ एक जून खाएँगे, इस के लिए इतनी ज़िरह?'

किरण की आँखों में जो भाव प्रकट हुआ, उसे साहब ने नहीं देखा। इस अति सामान्य प्रश्न के जवाब में उन्हें वे सारे ब्योरे देने पड़ते जो उन के अंतस में काँटे की तरह चुभते रहे हैं। किरण थोड़ी देर तक चुप रही, फिर साँस छोड़ती हुई बोली, 'खाने का क्या है। सवाल स्टेटस का है।' साहब ने उस की तरफ़ देखा, मगर कुछ बोले नहीं। किरण ने बात पूरी की, 'मंत्रीजी के बहनोई का भी तो कोई स्टेटस है न। उन के साथ दिल्ली से जो लश्कर आएगा. . .।' साहब जल्दी से बोल उठे, 'अरे, उस लश्कर से मुझे क्या लेना-देना।' और कपड़े बदलने के लिए बेडरूम में घुस गए। किरण की कल्पना में सिंदूर-चौरठा के लिए फैले हुए अंजनी भैया के हाथ प्रकट हुए। बलिष्ठ कलाई, अँगुलियों के हरेक पोर पर उगे काँटे जैसे रोम. . . किरण को लगा जैसे वह पंजा उसे दबोच लेने के लिए आगे बढ़ रहा है। तब तक साहब कपड़े बदल कर सिगरेट सुलगाते हुए निकले। किरण बाल झटक कर उठी और बोली, 'ऐसा कीजिए। डिनर का एक मेनू बना लीजिए और किसी कैटरिंग सर्विस से फिक्सअप कर लीजिए।' गाउन का फ़ीता बाँधते हुए साहब जल उठे, 'तुम भी अजीब हो। लोग अमंध का संबंध जोड़ कर मंत्रियों से लाभ उठाते हैं। अरे, इस तरह के स्वागत-सत्कार पर हुए खरचे-वरचे. . .यह तो लगानी है भाई, तीन लगाओ, तेरह पाओ।' लगानी शब्द पर किरण ने पलट कर साहब की तरफ़ देखा तो साहब ने कनखी मारी। किरण ने आँखों पर चश्मा चढ़ा लिया और दाँतों से होंठ भींच लिए। गोगल्स के पीछे से किरण की नज़र अपने अफ़सर पति के खल्वाट सिर, बढ़ी हुई तोंद पर से फिसलती हुई पाँवों तक जा कर रुक गई। बोली कुछ नहीं, लेकिन उस की साँस की एक ऐसी अलक्षित ताप थी कि साहब इतना दुत्कार कर भी खुद ही लजा गए। किरण ने लंबी साँस ली और बोली, 'दूसरी बात, भैया दूज में क्या-क्या होता है. . .पान-सुपारी अगरम-बगरम. . .। वह सब जुटाने के लिए नाई को बुलवा दीजिए।' किरण काफ़ी देर तक साहब के पेट के पीछे छाती और उस पर उगे काले-सफ़ेद बालों के जंगल को देखती रही। साहब बोले, 'ओक्के, मगर यह पूजा-पाठ होगा कहाँ?' किरण ने कहा, 'इसी हॉल के सेंट्रल टेबल को हटा देंगे। पूजा-पाठ हो जाने पर फिर लगा देंगे।' साहब उछल पड़े, 'आइडिया। इस टेबल को बाहर क्यों ले जाएँ? इसी जगह बग़ल में कुछ सिम्पल नाश्ते के प्लेट्स. . .अरे अंकुर. . .मखाना. . .इसी पर सजा देंगे। बाहर के लोग देखेंगे न, मिथिला के भाई-बहन का त्योहार।' किरण फुसफुसाई, 'तब ऐसा कीजिए, इन के साथ कुछ स्वीट्स भी मिला दीजिए। लश्कर में इतना ही चलेगा।' साहब को पूरा कार्यक्रम मनोनुकूल रूप लेता जान पड़ा। आश्वस्त हुए कि किरण लगानी का मतलब अब समझ रही है। किरण को लगा लोग जितना ज्यादा रहेंगे, वह उतना ज़्यादा निर्भीक रह सकेगी। साहब उत्साह से बोल उठे, 'वेरी गुड।' किरण मुस्करा कर रह गई।

रतिनाथ मन ही मन सोच रहा था कि माँ ने तो बहन का क़िस्सा बहुत सुनाया, मगर बहन से उस की भेंट तो सिर्फ़ दो बार हुई है। एक बार जब वह देवी को बकरा चढ़ाने गाँव आई थी, तब और दूसरी बार पिछले साल जब वह न्योता लेने गया था। पिछले साल तो बहन ने न्योता स्वीकार ही नहीं किया। देखें, इस बार क्या होता है।

उस के झोले में सब से नीचे लुंगी थी, उस के ऊपर एक पतले पोलीथीन के झोले में कुछ उबले सारूक, चार नींबू और क़रीब दस आँवले। उस के ऊपर एक गमछा था, जिस के एक छोर पर पाँच जोड़े जनेऊ और पाँच सुपारियाँ बँधी थीं। पूरे मनोबल के साथ सीना ताने और झोले को सीने से लगाए रतिनाथ निःसंकोच बहन की कोठी तक पहुँच तो गया, मगर वहाँ झुंड के झुंड सिपाहियों को देख कर उस ने हिम्मत हार दी। कोठी के अंदर जाना और बाहर निकलना बंद था। सड़क तक सिपाही ही सिपाही दिखाई दे रहे थे। रतिनाथ पहले अचकचाया, फिर सहमा। उत्साह ठंडा पड़ गया। लेकिन तब तक गेट के पास खड़े ठाकुर जमादार पर नज़र पड़ गई। रतिनाथ जमादार को पहचानता था। रतिनाथ दबे-सहमे किनारे से हो कर ठाकुर के पास पहुँच गया। ठाकुर ने तमक कर पूछा, 'क्या है?' रतिनाथ ने साहस से काम लिया, 'अंदर जाऊँगा।' ठाकुर ने बाज की तरह हाथ से झोला झपट

लिया और लुँगी समेत सब कुछ को चंगुल में ले कर नीचे बिखेर झोले को झटक दिया। फिर सब कुछ उस में कोंच कर रतिनाथ की आँखों में देखते हुए बोला, 'आप की तो बहन होंगी न।' रतिनाथ हकलाया, 'हाँ, सौतेली. . .समझिए. . .सगी ही।' ठाकुर को भैया दूज याद आया। रतिनाथ के हाथ से फिर झोला ले लिया और उसे मुट्ठियों में भर-भर कर बाहर से टोते हुए कहा, 'सौतेली बहन?' रतिनाथ रुआँसा हो गया, 'समझिए सगी ही।' ठाकुर ने झोला वापस कर दिया और एक सिपाही को साथ कर दिया, जो रतिनाथ को ले जा कर हॉल के पीछे वाले बरामदे की तरफ़ इशारा करके भाग गया।

रतिनाथ झंझट से मुक्त नहीं हुआ। झोला लिए हुए उधेड़बुन में कभी हॉल तक जाता, कभी हॉल से ऊपर गई सीढ़ी तक पहुँचता और फिर वापस आ कर बेंच पर बैठ जाता। हॉल के उस पार वाले कमरे में बहुत लोग थे। रतिनाथ को वहीं से दिख रहा था। मगर लोगों की वेश-भूषा देख कर वहाँ जाने का साहस नहीं होता था। दाएँ बग़ल के बरामदे में बड़े-बड़े पतीलों में लड्डुओं और इमरतियों के ढेर लगे हुए थे। एक बड़े बोरे में मखाना दीवार के सहारे टिका खड़ा था। असल में आने की अफ़रातफ़री के कारण रतिनाथ ने रात भी सिर्फ़ एक ही रोटी खाई थी। फिर भी मिठाई देख कर जी नहीं ललचा।

हठात रतिनाथ को लगा कि एक ही साथ कई मोटर कोठी के अहाते में पों-पों कर रही हैं। हॉल के उस पार वाली बैठक में कुछ हलचल हुई है और चहल-पहल बढ़ गई है। अचानक दो बंदूकधारी पिछवाड़े के बरामदे पर आ कर रतिनाथ के पास खड़े हो गए। तब तक पता नहीं किधर से ठाकुर जमादार एकाएक सामने आ गया और रतिनाथ के हाथ से झोला छीन लिया, 'अरे स्साला, सब को फाँसी लगबाबेगा।' रतिनाथ का झोला मुड़-तुड़ कर पतीलों के बीच कहीं घुस गया। त्रस्त रतिनाथ ने सुना, ठाकुर बंदूकधारी को उस का परिचय दे रहा था, 'साहब का साला. . .मिठाई की निगरानी. . .।' बंदूकधारी ने रतिनाथ को दो-तीन बार बेधती हुई आँखों से देखा तो वह सरक कर एक पाए से सट कर खड़ा हो गया।

ठीक उस के सामने बैठक में भैया दूज मनाया जा रहा था। पीली बनारसी साड़ी पर पीला बेसर पहने किरण पंजों के बल बैठी किसी के हाथ में सिंदूर-चौरठा लगा रही थी। रतिनाथ पहचान नहीं पाया। न्योते की रस्म पूरी हो गई तो किरण के उस भाई ने पाँव छूने के बदले उस के चेहरे को हाथों में ले कर डुलाया। रतिनाथ ने देखा, जीजाजी पुलकित हो कर दूसरी तरफ़ गर्दन झुकाए कंठहँसी हँस रहे थे। रतिनाथ को लगा किरण का चेहरा सिंदूर की तरह लाल हो गया है। भाई के हाथ पर किर्री देने लगी तो भाई ने मुँह बा दिया। बहन का हाथ मुँह तक उठा। किर्री कट से फूट उठी। जितने लोग थे, सबों ने तालियाँ बजाईं, 'हियर-हियर।'

रतिनाथ को लगा जैसे खेल अब ख़त्म हो रहा हो। जीजाजी इधर-उधर दौड़ने लगे और भाई अपनी बाँह से बहन को कस कर भींचे हुए बाहर जा रहा था। रतिनाथ ने देखा जीजाजी फलों से सजी चाँदी की प्लेट लिए हुए द्वार रोक कर खड़े थे। लेकिन वह, जो बहन को पकड़े खड़ा था, बोला, 'अब यह क्या? हो तो गया।' जीजाजी के बत्तीसों दाँत दिखाई देने लगे। रिरियाए, 'ओह, भला ऐसा भी हुआ है। आपने मुँह भी नहीं जुठाया। आज तो बहन का अन्न खाया जाता है।' रतिनाथ ने जीजाजी की कंठहँसी और उस पुरुष की आँखों में उमड़ आए तिरस्कार को एक साथ देखा। पुरुष ने कहा, 'हो गया, हो गया। किर्री अन्न नहीं है? लेकिन आप भी नमूना हैं। संबंध की दुहाई दे कर मेरे सेक्रेटरी के मार्फ़त प्रोग्राम में संशोधन करवाते हैं। आप कैसे प्रशासनिक सेवा में आ गए?' रतिनाथ ने देखा कि जीजाजी तो खी-खी कर हँसने लगे और बहन इसी बीच भाई की बाँहों से छूट गई, जैसे गैंची मछली असावधान मछुआरे के हाथ से फिसल जाती है। वह आदमी मोटर के खुले दरवाज़े में घुस गया। जीजाजी ने पुनः हँसते हुए कहा, 'तो जूठा मुँह ही धो लिया जाए।' और मीना किए हुए चाँदी के गिलास को तलहथी पर

रख कर आगे बढ़ाया। उस आदमी ने एक घूँट पिया और दूसरे घूँट से कुल्ला कर लिया, 'धत्त तेरे की, गिलास चाँदी का और पानी गरम।' और खिन्न बहन की ओर देखते हुए कहा, 'अच्छा कीरू, बाइ। दिल्ली आओ एक बार।' जीजाजी उत्फुल्ल हो कर मोटर में सट गए थे, 'बट हाऊ, सो लौंग आइ एम नॉट पोस्टेड इन डेलही. . .।' लेकिन रतिनाथ ने देखा मोटर चल पड़ी थी। आश्चर्य हुआ कि क्षण भर में पूरा मजमा कहाँ ग़ायब हो गया।

डिनर हॉल में डिश बिखरे पड़े थे। जहाँ-तहाँ आधा-समूचा लड्डू लुढ़का हुआ। कई इमरतियाँ तो वैसी की वैसी पड़ी थीं। रतिनाथ के मन में विचार आया कि समूचे लड्डू और इमरती की गिनती कर ले। लेकिंन तब तक लगा कि कुछ लोग वापस आ रहे हैं। रतिनाथ सावधान हो गया।

अपने हाकिम पति द्वारा आयोजित इस शो में नायिका की भूमिका निभा कर भी किरण हर्षित नहीं है, यह बात रतिनाथ की समझ में पहले ही आ गई थी। वापस आई तो ऊपर जाने वाली सीढ़ी के नीचे ही कुर्सी खींच कर बैठ गई। साहब लौटे तो बहुत प्रसन्न थे। किरण को नीचे बैठा देख कर उस की पीठ पर हाथ रखते हुए बोले, 'इनवेस्टमेंट हैज क्लिक्ड डियर। अब चलो दिल्ली।' जैसे बहुत पके हुए घाव से मवाद स्वतः निकल जाता है, किरण की आँखों में इतनी देर से अवरुद्ध क्रोध और अपमान बह निकला। मुँह से निकला, 'आपने तो कहा था कि प्रोग्राम उन्होंने खुद दिया है।' साहब लड्डू कुतरते हुए बोले, 'यह कौन-सी ऐसी बड़ी बात हुई, जिस के लिए तुम. . .अजीब औरत हो. . .।' किरण की आँखों से ज्वाला फूटी, 'उतने लोगों के बीच उस ने क्या कहा, आपने सुना।' साहब ने कूद कर एक इमरती हाथ में ले ली। उदास स्वर में बोले, 'ओ भाई, वह तो बातों को प्रोसेस्ड करने का तरीक़ा है। उसे क्या पता कि आज भैया दूज है और तुम यहाँ हो। बात ऐसी है कि उस का सेक्रेटरी मेरा क्लास-फ्रेंड है। उसे कहा। बस।' किरण कुछ नहीं बोली। थोड़ी देर शून्य दृष्टि से पति के चेहरे की ओर ताकती रही और फिर आँचल से मुँह ढक लिया। साहब अप्रतिभ हो गए। एक लड्डू उठाया, कंधे उचकाए और मुँह बनाते हुए सीढ़ियों पर चढ़ गए।

बहन को रोता देख उत्तेजना के कारण रतिनाथ सिहर उठा। पतीलों के बीच से अपना झोला ढूँढ़ कर निकाला और उसे छाती से चिपका कर सरकते हुए बहन के पास पहुँचा। आहट पा कर बहन ने चेहरे से आँचल हटा लिया। रोने से उस की दोनों आँखें लाल हो गई थीं और होंठ अभी भी काँप रहे थे। उस ने गला खँखार कर धीरे से रतिनाथ से पूछा, 'अरे तुम कब आए?' रतिनाथ प्रफुल्लित हो उठा। बहन ने पहचान लिया। पाँव छूते हुए बोला, 'बहुत पहले। जब वे लोग आए भी नहीं थे, तभी।'

रतिनाथ ने प्रमुदित हो कर झोले से पोलीथीन वाली पोटली निकाली और आगे रख दिया। किरण के चेहरे पर कौतुकपूर्ण स्मृति फैल गई। हँसते हुए बोली, 'बाप रे, तुम तो ढेर सारा संदेश ले कर आए।' तब तक रतिनाथ ने बाक़ी चीज़ों को भी सामने रख दिया। किरण बहुत प्रसन्न हुई। सिंदूर की पुड़िया खोल कर चुटकी में भरती हुई बोली, 'ओह, इतनी चीज़ों की क्या ज़रूरत थी। पिताजी तो अच्छे हैं न?' किरण प्रकृतस्थ हो चुकी थी। एक चुटकी सिंदूर से उस ने माँग भर ली और सारूक उठा कर छीलने लगी, 'तुम कहाँ छिप गए थे। चलो पहले न्योता लूँगी। तम्हें भूख भी लगी होगी।' फिर रतिनाथ की बाँह पकड़ती हुई बोली, 'आओ, पहले दोनों भाई-बहन उस नल पर अच्छी तरह हाथ-मुँह धो लें।'

किरण आह्लादित हो कर भाई को निमंत्रित करने बैठी तो उस की आँखों में वही ज्योति थी, जो कहावत वाली जमुना की आँखों मे रही होगी। उसी समय साहब भी ऊपर से नीचे लौट आए। किरण रतिनाथ की छोटी-सी अंजलि में न्योते की सामग्रियों को सहेज कर रख रही थी। चेहरे पर अलौकिक आभा फैली हुई थी। दृश्य देख कर साहब तुर्श होते हुए बोले, 'अब दिन भर न्योता-व्योता ही चलता रहेगा?' मुस्कराती किरण भाई का हाथ धो

धो कर उठ खड़ी हुई। रतिनाथ ने झट पाँव छू लिए। किरण उस के सिर पर अपने दोनों हाथ फेरती हुई बोली, 'न्योता-व्योता तो सिर्फ़ अभी हुआ है। वह तो इनवेस्टमेंट था।' साहब ने ज़ोर से रगड़ते हुए कुर्सी खींची और उस पर बैठते हुए बोले, 'डैम दिस न्योता-व्योता, पर्व-त्योहार।'

रतिनाथ आतंकित हुआ। लेकिन किरण आश्वस्त मुस्कराती रही।

मैथिली से अनुवाद : **सुभाष चन्द्र यादव**

गुरदयाल सिंह

निद्राई आँखें

अभी एक क्षण पहले, एक शराबी, आता दिखाई दिया था। झूमता, पटरी के दाएँ-बाएँ डोलता, लड़खड़ाता इसी ओर चला आ रहा था। परंतु जैसे ही रुक कर, ऐनक ठीक कर उस ने ध्यान से देखा तो कुछ दिखाई नहीं दिया। सीधी-सपाट नहर की पटरी के साथ-साथ उगे घने सरकंडे, और किनारों से अठखेलियाँ करते हुए बहता स्वच्छ, ठंडा पानी, जो उगते सूरज की किरणों से लाल हो गया था—और कुछ भी तो नहीं था, बस भ्रम ही हुआ होगा।

आँखें मूँद कर दो लंबी साँस खींचीं जब मन कुछ स्थिर हुआ तो कुरते के छोर से ऐनक साफ़ करके फिर लगाई और आगे बढ़ गया।

चिड़ियों की चहक, ठंडी, सरसराती हवा, दाएँ-बाएँ लहराती, सुनहरी हो रही खेतियाँ और शांत वातावरण के ही कारण उसे अभी दिखाई दिए शराबी का ख़याल बिसर गया। परंतु जब वह उस जगह पहुँचा जहाँ शराबी दिखाई दिया था तो अचानक ठिठक कर ऐसे रुक गया जैसे सामने साँप दिखाई दिया हो। दाएँ-बाएँ, सामने, और फिर पीछे मुड़ कर देखा—कुछ भी तो नहीं था। बस एक नन्हीं सी, बहुत ही सुंदर चिड़िया, सरकंडे के तीलों के ऊपर फुदकती हुई चहक रही थी। और पूर्व की ओर से, गुलाल-से रंग के एक पेड़ के पीछे से, सूरज सहज-भाव से ऊपर उठ रहा था... जैसे कोई नवेली वधू लाल रंग की ओढ़नी में लिपटी धीमे क़दमों से चल रही हो!

कितने सुंदर तथा कोमल विचार सूझ रहे थे! उसे कुछ आश्चर्य हुआ। परंतु उसी समय अचानक उस की टाँगें काँपने लगीं। आगे बढ़ने का मन नहीं हुआ, और वहीं से लौट आया। क़दम कभी एकदम तेज़ चलने लगते, कभी बहुत धीमे। जाने क्यों, पीछे-पीछे लगातार किसी के पदचाप की आवाज़ सुनाई दिए जा रही थी। आवाज़ ऐसी थी जैसे किसी शराबी के क़दम लड़खड़ा रहे हों। कई बार रुक कर पीछे देखा भी, कुछ दिखाई नहीं दिया। शायद वही भ्रम मन में समा गया था।

घर लौट कर, नहा-धो चाय पीने बैठक में आया तो जैसे एक बार फिर वही शराबी आदमी, लड़खड़ाता हुआ गली से गुज़रा। अब तो उस की परछाईं दरवाज़े में लगी चिक के ऊपर साफ़ पड़ी थी। सहम कर उठा और चिक उठा कर गली में झाँकने लगा। परंतु बाहर कुम्हारों के तीन छोकरे काँच की गोलियाँ खेल रहे थे। लौटते समय किवाड़ की एक छिलन ऊँगली में चुभ गई। पुरानी, टूटी-सी चिक किवाड़ों को घूरते हुए, उँगली दबाए, लौट कर

चारपाई पर जा बैठा।

बात क्या है? दिमाग़ पर ज़ोर दे कर सोचने का प्रयत्न किया, परंतु बार बार अंग्रेज़ी के इडियम, मुश्किल शब्द, ट्रांसलेशन के नियम तथा डायरेक्ट-इन डायरेक्ट याद आने लगे।

'...अरे, आज तो लड़कों का दूसरा पेपर है!' क्षण भर बाद यह सोचते ही वह खुशी से उछल पड़ा। मन में आया कि अभी स्कूल चला जाए। —इम्तिहान से कुछ क्षण पहले बताए 'गुरों' से विद्यार्थी बहुत अच्छे नंबर ले सकते हैं। और सुपरवाइज़र को भी दुबारा कहना ठीक रहेगा कि 'यह यह' लड़के 'अपने' हैं, इन का 'पूरा ख़याल' रखना—आख़िर दोबारा कहने में हर्ज क्या है? ...परंतु यह सब सोचते जैसे कुछ घबराहट-सी हुई।

'चाय लाओ भई!' उस ने ऊँची आवाज़ दी और फिर ऐसे-ही सामने, बिना किवाड़ की अलमारी में लगी किताबों को देखने लगा। फटी जिल्दें, चुरमुर तथा छिदरे पन्ने-सब रद्दी का ढेर थीं, परंतु पाँच वर्ष से ऐसे ही पड़ी थीं, बेचने का मन नहीं हो रहा था।

फिर अपनी ऐनक को पोंछा और दीवार की एक दरार में से अभी-अभी निकली दो टिड्डियों को देखने लगा। वह 'माँ-बेटी-सी', मूँछे हिलातीं, जैसे उसे घूर-घूर कर देख रही थीं। उन की आँखें 'नए पैसों' की भाँति चमक रही थीं। 'नए पैसों' का ख़याल आते ही वह झट से घर में पड़े सभी पैसों का हिसाब लगाने लगा और साथ ही पिछले दिनों राजू मिस्त्री से पूछताछ करके लगाए हिसाब को मिलाने लगा। ऐसा लगा कि काम 'चल जाएगा', पलस्तर नहीं तो टीप का काम ज़रूर चलेगा।

...परंतु यही सोचते-सोचते पाँच वर्ष बीत गए थे। पाँच वर्ष!... कितना लंबा समय था। इन पाँच वर्षों में तो उस की जवानी भी ढलने लगी थी। सिर के बाल पकने लगे थे। उस के घर में एक लड़की और चली आई थी। पत्नी के चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ने लगी थीं—परंतु बैठक को पलस्तर नहीं हुआ। 'नंगी' ईंटों की दरारें दिन-ब-दिन और बिख़रती चली गई थीं।

आदमी की नहीं, हरेक चीज़ की 'मियाद' तो होती ही है, माँ की सयानी बात मन में दुहराई और फिर बेताब-सी निगाह से चाय के लिए भीतर के दरवाज़े की ओर देखा। जब ज़ोर से दुबारा आवाज़ देने को हुआ तो बाहर अख़बार वाले के साइकिल की घंटी सुनाई दी। और वह उठ कर गली की ओर दौड़ चला। लौट कर हर रोज़ की भाँति एकदम दूसरा पन्ना पलट कर पढ़ने लगा। और कुछ ही क्षण बाद वह अख़बार को थामे घर के भीतर दौड़ चला।

'लो भई आज कुछ बाँटो, खीर-पूड़ी बनाओ, शीरणी बाँटो, कँजकें जिमाओ...?' गिलास में चाय उँडेलती अपनी पत्नी की ओर अख़बार बढ़ाते खुशी से उछलते-कूदते वह बोलता रहा। न ठीक बात ही बता सका और न ही अपनी अपार खुशी को शब्दों में ठीक से सँभाल पाया। जैसे पागल-सा हुआ 'कुछ बाँटो, कुछ जिमाओ, कुछ करो' कहते-कहते, एक हाथ में अख़बार और दूसरे में चाय का गिलास थामें वापस बैठक में लौट आया, और चाय मेज़ पर रख कर पन्ने पर उँगली रखते हुए बार-बार, अंग्रेज़ी के कुछ शब्द ऊँची आवाज़ में पढ़ता गया।

'हद्द हो गई!' पत्नी ने मुस्करा कर पराँठों वाली प्लेट मेज़ पर रखते हुए कहा, 'कोई बात भी तो हो—यह ऐसी खुशी आज किस बात की चढ़ी है?'

तभी पिछली कोठरी में बच्चों का शोर सुनाई दिया और वह बात मुँह में लिए उधर लौट गई, इतनी देर में उस ने इश्तिहार का जाने कितनी बार पढ़ कर कचूमर निकाल दिया। तभी जल्दी से उठ कर तीन-चार चिट्ठियाँ लिखीं। लिखते हुए वह बार-बार घड़ी की ओर देखता और बीच में ही, 'मेरे बूट, मेरी पैंट, जुराबें, कल वाली किताब', माँगते हुए शोर मचाता रहा। फिर उसी तरह, 'कुछ बाँटो, कुछ करो, कुछ मणसो', कहते-कहते अख़बार लपेट कर, पेंट के बटन बंद करते-करते ही बाहर को दौड़ चला।

पीछे से पत्नी कुछ व्यंग्य से मुस्कराती हुई चिक उठा कर जाते हुए 'पतिदेव' की पीठ देखने गई तो उसे गली में सचमुच ही 'दौड़ता-सा' देख हँस दी। लौट कर बर्तन उठाने लगी तो गिलास में चाय पड़ी मिली। पराँठा भी ऐसे का ऐसे रखा था। देखते ही उस की मुस्कराहट उड़ गई और उसे आवाज़ देने के लिए फिर दरवाज़े की ओर लपकी, परंतु दरवाज़े तक पहुँच कर चुपचाप ही लौट आई। 'पीछे से आवाज़ देना बदशकुनी है!... और आज तो जाने खुशी भी कहाँ से चली आई है इतनी!'

पटरी के ऊपर वह शराबी आज उसे दिखाई नहीं दिया। बस एक बार गुलाबी रंग की, एक बड़ी-सी गुलाब के फूल जैसी, किसी चीज़ का गुमान हुआ। नज़र भी जैसे कुछ तेज़ हो गई थी। नहर के सामने वाले मोड़ पर एक जो बाँकी टेढ़ी-सी बेरी, टीले पर खड़ी हुई थी, उस की टहनियाँ भी दिखाई देने लगी थीं... और शायद पत्ते भी। परंतु तब भी जाने क्यों आँखें थकी-थकी अनुभव हो रही थीं। रात को ठीक से नींद नहीं आई। परंतु नींद आई क्यों नहीं? तीन-चार दिन से अब तो कोई विद्यार्थी भी पढ़ने नहीं आ रहा। इस से पहले की तो और बात थी। ...सर्दी के दिनों में तो, जब रात को ग्यारह-बारह बजे तक माथा-पच्ची कर सुबह चार बजे फिर ट्यूशन पढ़ाने के लिए उठ जाना होता, तब आँखों में कई बार दर्द भी होने लगता। और हो भी क्या? आदमी कोई लोहे का थोड़े बना हुआ है जो लगातार इतना सख़्त काम कर सके... 'परंतु इतना काम करने को कहा किस ने? थोड़ा करो।'... 'कहा तो किसी ने नहीं... परंतु और क्या करें?' ...'लालच-लोभ मत करो...बस्स!' 'वह तो ठीक है परंतु...'

ऊपर सिर उठाया, वह टीले वाली बेरी से आगे चला आया था। वहीं से वापिस लौटना होता, नहीं तो ठीक समय पर स्कूल पहुँचना मुश्किल हो जाया करता। लौटते हुए लंबे-लंबे साँस लिए। टाँग-बाँह की कसरतें कीं। सभी अंगों को हिला-जुला कर 'ख़ून का दौरा' तेज़ किया। परंतु जब तेज़ क़दमों से चलने लगा तो शरीर जैसे चुस्त होने के बजाए और शिथिल हो गया। सिर धीरे-धीरे झुकते हुए, नज़र जाने कब भूरे-काले-से हो गए जूतों पर आ कर जम गई और हाथ अपने-आप ही पीठ के पीछे ऐसे चले गए जैसे किसी ने उल्टी हथकड़ी लगा दी हो। पीठ बूढ़े लोगों की भाँति कुबड़ी हो गई।

...देखो न बिनैपत्र तो अगले महीने की नौ तारीख़ तक भेजना है? ...परंतु उन्होंने नौ तारीख़ ही क्यों पक्की की... यह तो शायद बदशकुनी तारीख़ होती है? होती तो है दिन भी... जाने मंगलवार होगा ... अच्छा नहीं है। परंतु यह तो पुराने लोगों की बातें हैं, आजकल भी कोई ऐसा सोचेगा क्या? यह तो सब वहम की बातें ठहरीं! ...सो तो ठीक हुआ...परंतु जब यह वहम पक्के हुए तो इस का कोई तो कारण ठहरा होगा न? ...लोगों का अनुभव विशाल होता है ...उसी के आधार पर ऐसी बातें निरख-परख कर बनाई गईं, तब वहम कैसे हुईं? ...तो क्या? इस में हो भी क्या सकता है... किसी ने उन को कहा थोड़े था कि यही तारीख़ रखें... बस रख दी।

...चलो सो तो ठीक है... परंतु सोचने की बात तो यह है कि वह कोई और तारीख़ क्यों नहीं रख सकते थे? दस-ग्यारह-सात-आठ, कोई भी हो सकती थी परंतु अब इस वहम में पड़ने का क्या लाभ? लाभ तो क्या होगा... परंतु कई बार ऐसे वहम सच भी तो होते हैं। जब बी.ए. का दाख़िला भेजा तब भी ऐसी ही कोई बदशकुनी हुई थी। और जिस रोज़ पहला पेपर था उसी दिन माँ चल बसने को हुई। भला यह क्यों हुआ? यह कोई बात नहीं। अचानक कोई घटना घट जाए तो यह कैसे कहा जा सकता है?... अजी नहीं!... देखो! जब फिर एम.ए. का दाख़िला भेजा तो ऐसी ही कोई बात तब हुई कि परीक्षा से दो दिन पहले बाएँ हाथ के अँगूठे पर ज़ोर का चाकू लगा। यह अँगूठा दाएँ हाथ का भी तो हो सकता था?... आख़िर ऐसी बातों के पीछे कोई भेद तो रहा होगा... हमें पता नहीं तो क्या! यह सब वहम की बातें थोड़े हैं?

...छोड़ो जी, बिनैपत्र तो भेज दिया जाएगा—तारीख़ से पहले भी भेजा जा सकता है। ...परंतु ऐसा लगता

है कि इंटरव्यू ज़रूर ऐसे मौसम में आएगा, जब सख़्त गर्मी पड़ रही होगी। पत्नी को ऐसे मौसम में लगभग रोज़ ही दौरे पड़ने लगते हैं। तीन बरस होने को हैं, इस बीमारी का इलाज कोई भी डॉक्टर तो नहीं कर सका। ऐसे में कोई क्या कर सकता है? कई बार तो आख़िरी साँसों पर आ जाती है। यह भी हो सकता है कि जिस दिन मुझे इंटरव्यू के लिए जाना होगा उसी रोज़ उसे ऐसे फिट पड़ें... और हालत बहुत ख़राब भी हो सकती है, फिर कैसे जा सकूँगा? ...ख़ैर, यह तब की बात ठहरी, कुछ और इंतज़ाम हो जाएगा...! परंतु कैसा इंतज़ाम हो जाएगा? मुहल्ले में तो ऐसे बेलिहाज़ लोग बसते हैं कि किसी मरते के मुँह में चुल्लू भर पानी भी नहीं डालें। ...कुछ नहीं हो सकेगा! ...कुछ भी नहीं! ऐसे तो इंटरव्यू पर कैसे भी नहीं जा सकूँगा... और यह बरसों के बाद मिला एक चांस भी हाथ से निकल जाएगा... देख लेना, ऐसा ही होगा—और किसी तरह हो ही नहीं सकता! ... और भला होगा भी कैसे, ऐसे हालात में? बताओ?

...हाँ, हाँ, भाग्य की ही तो बात है। दो महीने और नौ दिन को मेरी आयु पैंतीस बरस की पूरी हो जाएगी, और पैंतीस बरस से ऊपर का कोई आदमी सरकारी नौकरी में... यानी कॉलेज में, नहीं लग सकता... और फिर सारी उमर, इसी स्कूल की नौकरी में कोल्हू के बैल की भाँति चक्कर काटते बितानी होगी। वही ट्यूशनें, रतजगे, परीक्षाएँ... और... और... हाँ, बरसों की मेहनत ऐसे ही जाएगी! स्कूल वालों को क्या, कोई डबल एम.ए. हो या ट्रिपल? वह तो अपनी 'दुकानदारी' का हिसाब लगाएँगे, जो भी उन के लिए अच्छी 'कमाई' कर सके वही 'बेस्ट टीचर' है, एम.ए. को क्या वह हथेली पर रख कर चाटेंगे? ...हाँ, वह तो सीधी सौदेबाज़ी करते हैं, करेंगे भी। कौन नहीं सौदेबाज़ी करता? सभी करते हैं...

तभी अचानक धरती ऐसे काँपने लगी जैसे भूचाल आया हो। ठिठक कर सिर ऊपर उठाया तो देखा, सामने पुल के ऊपर से गाड़ी दनदनाती हुई गुज़र रही थी, केवल पाँच-सात सैकिंड में फाँदी जा सकती थी... और सब कुछ समाप्त हो सकता था।... क्या बात है! जीवन और मौत में कितना कम अंतर रह जाता है! ...देखो तो यह भी भाग्य की बात ही है न?

और उस का सारा शरीर थरथर काँपने लगा।

घर पहुँचने तक आँखों का दर्द और बढ़ गया। चुपके से चारपाई पर जा लेटा। परंतु फिर वही बात बार-बार दिमाग़ में चक्कर काटने लगी कि पिछले कई दिन से नींद क्यों नहीं आ रही थी? आजकल तो तड़के देर से भी उठा जा सकता था, और रात को भी जल्दी सोया जा सकता था। और तो और पिछली रात भी नींद क्यों नहीं आई? ...कल जैसा खुशी का दिन तो पिछले पाँच वर्षों में एक भी नहीं आया? 'नमक मिर्च की दुकान जैसा' एक संस्था का स्कूल छोड़ कर, 'सरकारी' कॉलिज के 'सवर्ग' में जाने की आशाओं से भरपूर, खिला-टहला दिन। कभी इस से अधिक खुश दिन भी आ सकता था? उमर भर जो अपने शरीर को 'तसीहे' दे-दे कर 'तपस्या' की थी, उस का पारिश्रमिक मिलने की आशा तो सारी आयु में कल ही बँधी थी। और फिर भी रात को नींद नहीं आई ...अजीब बात है! लोग कहते हैं ऐसी खुशी में भी नींद नहीं आती तो और नींद कब आती है? अजीब बात है!

'सारी रात को करवटें लेते बिता देते हो और अब ज़रूर खर्राटे मार कर सोओगे!' चारपाई के पास आ कर पत्नी ने थोड़ा मुस्कराते हुए व्यंग्य से कहा। वह उसी समय हड़बड़ा कर उठ बैठा। दिल तेज़ी से धड़कने लगा था जैसे चोरी करते, रंगे हाथों पकड़ा गया हो।

नहाने के लिए रखे पानी का संदेशा दे कर पत्नी लौट गई परंतु उसी समय शोर मचाती दोनों बेटियाँ भीतर चली आईं। उन के पीछे 'छोटे अध्यापक जी' आँखें मसलते हुए आ पहुँचे, और ऊँची चारपाई के ऊपर टेढ़ा सिर रख कर उस की आँखों में आँखें डाल, मुस्कराने की बजाए जैसे घूरने लगे! वह भी थकी-थकी आँखें लड़के से मिला

कर टिकटिकी लगा कर उस की आँखों में देखने लगा—चुपचाप।

और तभी अचानक ऐसे महसूस हुआ जैसे लड़का कच्ची नींद से जग गया हो। आँखें लाल सुर्ख़ हो रही थीं... और..., और, हाँ उस की आँखें सारी उमर ऐसे ही लाल-सुर्ख रहेंगी!... क्यों? हाँ!... देखो तो, पहले पढ़ेगा, फिर पढ़ाएगा, सोएगा कब?... कभी नहीं सो सकता!... अजीब बात है... देखो तो, पिताजी की आँखों में भी ऐसी ही सुर्खी हुआ करती थी। और, और, मरते समय भी आँखें ऐसी ही थीं जैसे वह उमर भर सोए नहीं हों। ...न, न यह तो कोई वहम की बात नहीं! ऐसी बातों का भी कभी वहम होता है? ...मैं ने उन्हें अपनी इन्हीं सुर्ख़ आँखों से मरते देखा है।

जल्दी से ऐनक उतार कर उस ने चारपाई के पाए के पास रख दी। बाईं आँख को हथेली से मसलते और लड़के की ओर निहारते, मुस्कराने का प्रयत्न किया। परंतु लड़के ने उसी तरह मुँह 'मोटा' किए रखा और ऐसे उस की आँखें और भी गहरी लगने लगीं।

फिर जल्दी से उस ने ऐनक उठाई और गुसलखाने की ओर चला गया। पर पीठ के पीछे ऐसे लड़के की 'घूरती हुई सुर्ख़' आँखों से मन में जैसे एक सहम-सा छाए जा रहा था।

पंजाबी से अनुवाद : **स्वयं लेखक द्वारा**

चासो

एलूरू जाना है

बक्सा-वक्सा सिर के नीचे रख कर और होल्डाल फैला कर इंटर क्लास के छोटे-से डिब्बे में ऊपर की बर्थ पर मैं सोया हुआ था। ग्यारह बजे थे या बारह; निहायत आज़ादी के साथ किसी ने खींच-खींच कर मुझे जगाया। जम्हाई लेते हुए आँख खोल कर देखा तो गोरी-सी एक विधवा। यही कोई चालीस से ऊपर की होगी, एक सकेशी*, जिस के आधे बाल पक गए थे—दिखाई पड़ी।

हाथ-पैर समेटने और बैठने के बाद देखा तो डिब्बे में कोई और न था। खिड़की में से निडदवोलु स्टेशन जैसा लगा।

'कौन हैं आप?' मैं ने पूछा। हँसी से अपना चेहरा दुगुना करते हुए उस ने कहा, 'उतरो भी!' पूरे खुले उस के मुँह में बिजली की बत्ती की रोशनी पड़ी तो कंठ में अनार की कली जैसा कौवा दिखाई पड़ा। सेब जैसे उस के लाल-लाल गालों ने फूल कर उस की आँखों को दबोच लिया था। मृदु और पुष्ट उस का अधरोष्ठ शिथिल हो कर झुक गया था। पर उस के भीतर मोतियों की सरणी जैसी निचली दंत-पंक्ति चमक रही थी।

'कौन हैं आप?' मैं ने फिर से पूछा।

'पहले उतरो, फिर बताती हूँ।' उस ने कहा। मैं नीचे कूदा। मेरा फेंटा लटक गया और धोती खुल कर चुन्नट गिरने लगी तो हँसते हुए चुन्नट को पकड़ कर उस ने आफ़त से मुझे बचाया। मैं अचंभे में पड़ गया और उस के हाथ से चुन्नट खींच कर धोती पहनी और उस की ओर देखा।

वह गेरुवे रंग की मैसूर सिल्क की साड़ी पहने थी, जिस की काली चौड़ी किनारी में ज़री के धागे कहीं-कहीं चमक रहे थे। भरे हुए शरीर वाली उस महिला का कद पाँच-एक फुट रहा होगा। उस की भरी-पूरी भुजाएँ साड़ी के गैरिक वर्ण में मिल कर सोने की कांति से चमक रही थीं।

'बहुत दिन हो गए। शायद तुम भूल गए।' उस ने कहा। मेरे दिमाग़ को कुछ सूझा ही नहीं। मेरे संबंधियों में मुझ से ऐसी अनौपचारिकता रखने वाली विधवा कोई भी नहीं थी। मैं एकटक देखने लगा।

'तुम्हारा बेटा खाना खाने गया है। ऐसी हैरानी से क्यों देखते हो?' उस ने कहा। 'यह कौन है? मेरा बेटा कौन

---

* आंध्र में ब्राह्मण विधवाओं के बाल घुटा दिए जाते थे जिस से वह विरूप हो जाए और किसी पुरुष को आकृष्ट न कर सके।

है? मेरा बेटा अभी तीन महीने का है। ज़चगी के लिए गई हुई बीवी अभी मायके में है। यह है कौन, देवी जैसी दिखने वाली भूतनी?' मैं ने सोचा।

'इस बदनसीबी के बाद तुम ने देखा नहीं! हाँ, कैसे पहचानोगे? देखे हुए तो, बाप रे, नौ साल हो गए। मेरा हुलिया ही बदल गया है।' कह कर वह रोने लगी।

'मेरे बारे में आप को कोई ग़लतफ़हमी है।' मैं ने कहा।

'ग़लतफ़हमी मुझे है? तुम विजयनगरम् में पढ़े नहीं हो?'

'हाँ, पढ़ा हूँ।'

'तुम्हारा नाम पुरुषोत्तम नहीं है?'

'हाँ, है।'

'अब तो पहचान गई हूँ न?'

सोच कर देखा लेकिन कहीं कुछ याद नहीं आया। वह कहने लगी, 'हाय! मर्दों का दिल पत्थर का होता है। माया-ममता या यादें उन्हें नहीं सतातीं। औरतों के मन का हाल कुछ दूसरा ही होता है। हाय रे, अभी कोई और आ जाएगा। बैठ कर चार बातें नहीं करोगे?'

'आप किस घराने की हैं?'

'बात यहाँ तक पहुँची है? कुल और गोत्र का नाम बताने की नौबत आ गई? संयोग से इतने दिन बाद मिले हो, यह सोच कर मैं फूली नहीं समा रही हूँ। ऐसा कोई दिन नहीं जाता जब मैं तुम्हें याद नहीं करती। तुम से कुछ आसरा हो गया है। यही काफ़ी है। लेकिन उसे कहाँ पहचान पाओगे?' यह सवाल करके पागलों जैसी सूरत बना कर वह रोने लगी।

'यह कहाँ की मुसीबत है!' मैं निश्चेष्ट हो कर ठूँठ की तरह खड़ा रहा। हल्की रुलाई के साथ उसी ने फिर कहना शुरू किया।

'चेहरा देखते ही मैं ने पहचान लिया। बक्से पर नाम देख कर पक्का कर लिया। उस पर टी. पुरुषोत्तम बी.ए. पढ़ कर तुम्हारे बी.ए. पास होने पर खुश हो गई। मैं तुम को इतनी भी याद नहीं हूँ? चलो बताती हूँ। तुम्हारे घर के बग़ल में एक ऑडिटर साहब रहते थे, भूल गए?' इस बात से मैं उछल पड़ा।

'माणिक्यम्मा जी हैं! कितनी बदल गई हैं।' मैं ने अपना सिर और मुँह पीट लिया।

तब मेरा अठारहवाँ साल था। इंटर में पढ़ रहा था। मेरे घर के बग़ल में ऑडिटर साहब रहते थे। साठ साल के होंगे। उन की दूसरी बीवी थी माणिक्यम्मा जी। कोई तीस-पैंतीस साल की महिला। बाल-बच्चा कोई न होने से कसा हुआ उन का छरहरा बदन काँच की गुड़िया की तरह लगता था। वे और हम एक ही परिवार की तरह रहते थे।

माणिक्यम्मा जी को बाद में शायद वैधव्य, मोटापा और अधपका सिर प्राप्त हुए होंगे।

एक दिन दो बजे कॉलिज से आ रहा था। माणिक्यम्मा जी ने बुलाया तो उन के घर चला गया। 'बैठो न भई,' कहते हुए उन्होंने मुड़वाँ कुर्सी लगाई। चेहरे पर पसीना था, इसलिए मैं ने बग़ल में रखा पंखा निकाल लिया।

'मैं झलती हूँ, बैठो!' कहते हुए उन्होंने पंखा छीन लिया।

'यह ठीक नहीं,' मैं ने कहा।

'कुछ ग़लत नहीं, भई!' कहते हुए उन्होंने झलना शुरू किया।

'कॉफ़ी पी कर कॉलिज जाना है,' कह कर मैं उठा। 'यहाँ नहीं पी सकते क्या?' उन्होंने कहा और अंदर से प्लेट

में दो रसगुल्ले और चाँदी के गिलास में पानी ला कर रख दिया।

'बाज़ार से मँगवाया?' मैं ने पूछा।

'मैं ने बनाया है, भई!' उन्होंने कहा।

मैं ने नहीं सोचा था कि ये मिठाइयाँ हमारी औरतों के बस की हैं। पंखा झलते हुए मुझे ग़ौर से देख कर उन्होंने कहा, 'अब तुम को दाढ़ी बनवाते रहना होगा भई!'

मेरी मसों का भीगना तभी-तभी शुरू हुआ था। नाई से साफ़ करवाने में शर्म लगती थी, इसलिए टाल-मटोल कर रहा था। 'बड़े हो गए हो। सयानी लड़की देख कर तुम्हारी शादी करनी होगी।' उन्होंने कहा। झेंप से मैं मर ही गया। गूँगे की तरह चुपचाप खाता रहा। दूसरे रसगुल्ले की इच्छा नहीं हुई। उन्होंने अंदर से आम का अचार और कॉफ़ी ला कर रख दी। वह खा कर मैं उठ पड़ा।

'बोरियत हो रही है, दो मिनट बैठो न, भई!' उन्होंने कहा।

'कॉलिज!'

'आज दुपहर की क्लास छोड़ दो?'

'बाप रे, बहुत ज़रूरी क्लास है।'

'बड़े अच्छे हो, आओ न,' कह कर वह मेरी बाँह पकड़ कर अपने कमरे में ले गईं और बोलीं, 'पान खाओ, बनाती हूँ!'

उन के साथ मैं खुला हुआ था। हमेशा हँसी-ठिठोली, नोंक-झोंक करते हुए हिला-मिला रहता था। अकेले में उन्होंने छेड़ा तो मुझे बहुत शर्म आई। पान खा कर मैं चलने लगा।

'आज कॉलिज से छुट्टी करो,' कह कर उन्होंने मेरे दोनों गाल पकड़ कर खींचे और अपने दोनों हाथ मेरे कंधों पर लटकाते हुए मुझे अपने ऊपर खींच लिया और चारपाई पर बिठा दिया।

मुझे उत्तेजना हुई। उन का रुख़ शुरू से समझ में आ ही रहा था। तब तक मेरा शरीर झनझनाने लगा। स्त्री-संबंधी बेचैनी मुझ में शुरू हो गई थी, पर मैं ने माणिक्यम्मा जी को उस दृष्टि से कभी नहीं देखा था। मेरी उम्र अठारह साल थी और उन की छत्तीस। दिल के धक-धक करने पर भी कमरा छोड़ कर जाने का मन नहीं हुआ। मंडप की दुल्हन की तरह सिर लटकाए रहा।

'कल यह दाढ़ी साफ़ करवाओ भई! जिस को फूल की तरह चिकना रहना चाहिए था, वह मुँह मोटे करेले की तरह लग रहा है।' कह कर मेरी दाढ़ी टटोली और 'पहले-पहले बाल मुलायम ही हैं।' कहते हुए मेरा मुँह उठाया, आँखों को तश्तरियों जैसा बना कर अपलक मुझे देखते हुए बोलीं, 'मैं ने ऐसा किया, यह कहीं बताना नहीं। मुझे ऐसी-वैसी नहीं समझना। लड़के हो, हिले-मिले हो, इसलिए परेशान हो रही हूँ। कुछ और मत समझना, अच्छा!' बाद में मुझे पकड़ कर हिलाते हुए, 'तुम्हें साइकिल ख़रीदवा दूँगी...अँगूठी बनवा दूँगी,' कह कर चुंबनों से सारा मुँह गीला कर दिया। मेरा मुँह भीग ही गया।

घर के चोर को और कोठे में छिपे घूस को कौन पकड़ सकता है? ऑडिटर साहब उस के बाद पाँच महीने रहे। वह समय मेरे लिए एक श्रृंगार काव्य था। वे डेढ़ सौ दिन उस के डेढ़ सौ सुवर्ण पृष्ठ थे। उस का हर क्षण अमृतमयी भावना से भरा था। उस काव्य के सौन्दर्य के सामने महाकवि अल्लसानि का काव्य बेचारा कहाँ टिक पाएगा! पीछे मुड़ कर देखूँ तो मेरा जीवन सूँड़ियों से भरे सहजन का पेड़ था। वे पाँच महीने तरु शाखाओं के पाँच शहद के छत्ते थे।

हमारा बिछुड़ना एक बड़ी ट्रैजिडी थी। छुट्टियों में अपने गाँव जा कर कॉलिज के खुलते ही लौट आया तब

तक तबादले पर वे दूसरी जगह जा चुके थे। बाद में उन का पता नहीं चला। उन्हें ले कर मैं ने जो असह्य पीड़ा का अनुभव किया, वह सब लिखूँ तो सुंदर विरह काव्य बन जाएँगे। कभी सावधानी से लिखना होगा।

बी.ए. पास करने और सर्विस कमीशन को पार करने के बाद मुझे सरकारी नौकरी मिली और मैं ने अपनी पसंद की लड़की से शादी की। सुहाग-सेज पर लज्जावनत पत्नी को देख कर तो माणिक्यम्मा जी और उन के साथ की मेरी चर्या याद आ गई। बीवी को साथ में रख कर माणिक्यम्मा पर मन केन्द्रित करके मैं व्यथित हुआ।

आज वह साक्षात खड़ी हैं तो मैं पहचानने तक की स्थिति में नहीं था!

'कितनी बदल गई हैं!' मैं ने कहा।

'नौ बरस बीत गए हैं। सारी स्थितियाँ बदल गई हैं। सब भगवान की इच्छा है। आख़िर में इस तरह मिलना था। कहाँ जा रहे हो?' उन्होंने पूछा।

'बेजवाड़ा।'

'क्यों?'

'वहाँ नौकरी करता हूँ।'

'फिर क्या, पास में ही हो। शादी हो गई?'

'मेरे दो बच्चे हैं। डेढ़ साल की लड़की और तीन महीने का लड़का।'

'बीवी के दो बच्चे और तुम्हारे तीन!'

'तीन?'

'हाँ, मेरा सुंदर-सलोना बेटा भी तो तुम्हारा ही है।'

मेरे शरीर भर में रोमांच हो आया।

'नौ साल का है। हू-ब-हू तुम जैसा। वही नैन नक़्श। आएगा तो देख लेना। तुम ने किसी तरह मेरा उद्धार किया है। तुम्हारे वरदान से ही उन का कमाया हुआ पैसा और पुरखों की जायदाद मुझे हासिल हुई। वरना मेरे देवर मुझे राँड बना कर कोने में बिठा देते।' उन्होंने कहा।

'कहाँ रह रही हैं?'

'असल में हम एलूरू के हैं भई! वहाँ मैं ने मकान बनवाया है। तुम्हारा बेटा बड़ा भाग्यवान है। पंद्रह हज़ार नारियल उतरते हैं। नौ सौ बोरी धान आता है। घर आओगे तो देखोगे।'

पूड़ी खा कर और कॉफ़ी पी कर लड़का आ गया।

'माँ तुम फल भी नहीं खाओगी?' कहता हुआ वह माँ की गोद में चला गया। हू-ब-हू मेरा बेटा है। ठीक मेरा प्रतिरूप। मेरी अठारह साल की उम्र में मुझ से अठारह साल बड़ी औरत से मेरी जानकारी के बग़ैर पैदा हो कर... मुझे न जानने वाला, न जान सकने वाला मेरा बेटा नौ साल का हो गया है और एलूरू में पल कर बड़ा हो रहा है।

'बच्चे को देखा?' उन्होंने पूछा।

क्यों नहीं देखा! मेरी सारी चेतना आँखों में उभरी और उन आँखों ने बेटे को वात्सल्य से देखा। 'इधर आओ बेटे', मैं ने बुलाया। अपनत्व के साथ वह पास आ गया। अपनी ओर खींच कर मैं ने आलिंगन का सुख प्राप्त किया। माणिक्यम्मा जी नाक पर आँचल रख कर फूट-फूट कर रोने लगीं।

'कौन-सी क्लास में पढ़ रहे हो, बेटे?' मैं ने पूछा।

'सेकिंड फ़ॉर्म में', लड़के ने कहा।

'उस से तुम अंग्रेज़ी में बात कर सकते हो! तीन साल से ईसाई मास्टर रख कर पढ़वा रही हूँ।' उन्होंने कहा।

' ''आई एम बिलो टेन।'' यह सही है या ग़लत, बताइए तो?' लड़के ने पूछा।

सचमुच मैं उलझन में पड़ गया। लगता था कि सही है। शायद ग़लत हो, यह भी डर लग रहा था। बी.ए. पास हो कर भी फ़ायदा क्या है? कॉलिजों में प्रोफ़ेसर लोग सही अंग्रेज़ी सिखाएँ तब न!'

'तुम्हीं बताओ बेटे,' मैं ने कहा।

'बिल्कुल ग़लत। ''आई एम अंडर टेन।'' कहना चाहिए। यह बात हमारे टीचर को भी पता नहीं थी।' कह कर वह खी-खी करने लगा।

'कल दफ़्तर जाना है। इतवार को आऊँगा।' मैं ने कहा।

'मैं स्टेशन आऊँगा!'

'आना बेटे।'

लड़के ने अँगड़ाई ली और नींद से उस की पलकें भारी होने लगीं। मैं ने होल्डाल उतार कर नीचे की बेंच पर बिछाया और बच्चे को लिटा कर उस के ऊपर हाथ रख कर बैठ गया। कैकारम् स्टेशन के आने तक लड़का तरह-तरह की बातें बता कर मेरा मनोरंजन करता रहा। पूल्ल स्टेशन के आने से पहले ही आँखें मूँद कर गहरी नींद सो गया। एलूरू से थोड़ा पहले पड़ने वाला डेंदलूरू स्टेशन आ गया।

'पास आ गया। इतवार को ज़रूर आना है। हाँ!' उन्होंने कहा। उन के चेहरे पर आह्लाद था।

अब क्या था! सात मिनट में एलूरू आ गया। दोनों को फ़ाटक तक पहुँचा कर मैं ने गाड़ी वाले के सुपुर्द कर दिया।

'हम जाएँ?' उन्होंने कहा।

'इतवार को आएँगे?' बेटे ने पूछा।

'एलूरू जाना है।' मेरे दिमाग़ में उभरा।

तेलुगु से अनुवाद : **जे.एल. रेड्डी**

रा.वि. शास्त्री

बारिश

बड़े ज़ोर-शोर की बारिश हो रही है। शाम का वक़्त है। बादलों के कारण सामान्य से कहीं अधिक अँधेरा छा गया है। सड़क-किनारे छप्पर की झोंपड़ी वाली चाय की दुकान में अँधेरा हो गया है। अड़विपालेम से आ कर अपनी दुकान में फँसे हुए शहरी बाबू को लक्ष्य करके दुकान के बुढऊ ने कहा, 'तीन दिन से पहले यह बारिश रुकने वाली नहीं' और साथ ही जोड़ दिया कि मैं इस पर अपने कान तक की बाज़ी लगाने को तैयार हूँ।

शहरी बाबू कहलाने वाला पुरुषोत्तम खिन्न हो कर बेंच पर बैठा रह गया।

'स्टेशन जाने के लिए कहा था न बाबू तुम ने?'

बिजली से आकाश फट गया।

'हाँ।'

'बाप रे! कैसे? दो कोस है!'

गड़गड़ाहट ऐसी हुई जैसे कहीं बिजली गिरी हो।

'क्या..आ..आ..।'

'दो कोस है बाबू! कोयले के लिए लड़के को वहीं दौड़ाया है। मैं पढ़ा हुआ तो नहीं हूँ, लेकिन जानता हूँ। दो कोस है।' दुकान के बुढ़ऊ ने ऐसे कहा जैसे वह दो हज़ार मील दूर हो।

'बस नहीं मिलेगी?' पुरुषोत्तम ने धीमे स्वर में पूछा।

'इस बारिश में बस आ सकती है भला? पागल हो गए हो? आम दिनों में ही नहीं आती। हमारा लड़का पैदल ही गया है।' पुरुषोत्तम को चिन्ता हुई। बहुत ज़रूरी काम से उसे कलकत्ता जाना था। तीन दिन के अंदर वहाँ पहुँचना हो तो उसे दो घंटे के अंदर स्टेशन पहुँचना होगा। बस आने वाली नहीं। बैलगाड़ी कोई दिखाई नहीं पड़ रही है। बारिश को देखो तो लगता था कि प्रलय ही होने वाली है।

'मुझे तो कलकत्ता जाना ही है।'

'कौन-सी जगह?'

'कलकत्ता।'

'बाप रे, बहुत दूर है। वहाँ जाना है तुम को?'

'हाँ।'

'नहीं जा सकते!'

बुढ़ऊ ने बहुत इत्मीनान के साथ कहा। पुरुषोत्तम मन मार कर बैठा रहा। बिजलियाँ तलवारों की तरह चमक रही थीं। बादल ऐसे गरज रहे थे जैसे पहाड़ों को तोड़ने का इरादा कर लिया हो। उन्मत्त की तरह हवा दौड़ रही थी। मूसलाधार बारिश ऐसी हो रही थी जैसे अपना बदला ले रही हो। अँधेरे से भरी झोंपड़ी में नई पैंट, नया कुर्ता और नए जूते साफ़ दिखाई पड़ रहे थे। ये तीनों पुरुषोत्तम ने पहन रखे थे। उसे अच्छी तरह देखना हो तो दीया जला कर देखना होगा। क्या वह सुंदर है? सहमत होने वाले कम ही होंगे। उस की कमर तो सुंदर और पतली है। वह सिंह-कटि तो है पर सिंह की तरह नहीं लगता। उस के पंद्रहवें साल में बहुत लोग अपने आप पूछा करते थे, 'इस की उम्र बीस साल तो होगी?' उस समय दुकान के बुढ़ऊ से पूछो तो वह सवाल कर सकता है, 'चालीस के इर्द-गिर्द नहीं होगी?' पुरुषोत्तम पच्चीस साल पहले पैदा हुआ है, यह बात केवल वे ही लोग जानते हैं जो उसे जन्म से जानते हैं। वह ऐसी बछिया हो कर रह गया है जिस की बाढ़ मारी गई हो।

उस समय उस दुकान में घुसने के लिए वह पिछले दिन चला था। रवाना तो वह कलकत्ता जाने के लिए हुआ था। इतने में उस का मामा बवंडर की तरह आ धमका। वह मामा सब को मुफ़्त सलाह दे सकता है। आसानी से लोगों को कामों में लगा सकता है। उस ने आ कर पुरुषोत्तम से चुनौती भरा प्रश्न किया, 'क्या तुम जानते हो कि तुम्हारी शादी होनी चाहिए?' प्रश्न करके, 'जाओ, जाओ, अच्छी है, सयानी है, पैसे वाली है। अड़विपालेम के मुंसिफ़ की बेटी। लड़की को देखने के बाद वहीं से कलकत्ता जा सकते हो। जाओ, जाओ। जा कर देखो।' कह कर भानजे को उस ने धकियाया। इस वजह से पुरुषोत्तम हाथ में एक बड़ा-सा थैला ले कर शाम को मुंसिफ़ साहब के घर में नए कपड़ों में दुल्हन के सामने अवतीर्ण हुआ। उस लड़की ने अपनी नज़र से उस से एक पेचीदा सवाल किया।

मुंसिफ़ साहब का पुराने क़िस्म का खपरैल का मकान था। अंदर बरामदे में चटाई पर दुल्हन को बिठाया गया। वह लड़की पाल्थी मार कर बैठ गई। दरवाज़े पर थाले में लगी तुलसी की बग़ल में अलगनी पर एक सफ़ेद साड़ी सूख रही थी। वहीं माँज कर साफ़ किए हुए पीतल के बर्तन अपने गीलेपन में चमक रहे थे। मकान के पीछे आम का एक पेड़, गहरा हरा-सा दिखाई दे रहा था। उस की बग़ल में ही नारियल का एक पेड़ सीधा, ऊँचा और गंभीर हो कर आम के पेड़ के लिए अपने प्राण अर्पित करने के लिए तत्पर-सा खड़ा था। अस्त होने की दुविधा में दूर आसमान का सूरज पिछवाड़े के दरवाज़े के पास चिपका था। इतने में न जाने किस ने कमरे के सारे दरवाज़े अचानक खोल कर सारे आकाश में कुंकुम उँड़ेल दिया। इस पर आम्र-पल्लव प्रसन्न हो कर शांत भाव से हँस पड़े, नारियल के पेड़ की शाखाओं ने भी उन का साथ दिया। अलगनी पर सूख रही सफ़ेद साड़ी ने उस लाल-लाल प्रकाश को पूरे बरामदे में झट से बिखेर दिया। पीतल के चमकते बर्तन ताम्रवर्ण को मिला कर सोने की तरह चमकने लगे। थाले में तुलसी नर्तकी की तरह खड़ी थी।

दीये के प्रकाश में दुल्हन देवी-प्रतिमा की तरह दिखाई पड़ रही थी। उस ने सिर हल्का-सा झुका कर, पलकें थोड़ी ऊपर उठा कर पुरुषोत्तम को ध्यान से धीरे-धीरे देखा। उस की आँखें विशाल हो कर स्वच्छ जल से भरे तालाबों की तरह हो गई थीं। सुदूर छोटे-से गाँव में रहने पर भी वे तालाब चमकते तारों को, दीप्तिमान चंद्रमा को और जलते सूरज को भी स्पष्ट देख सकते थे। वे बहुत दूर देखने में समर्थ थे।

इधर-उधर के प्रश्न करके माँ बेटी से जवाब दिलवा रही थी। वह लड़की धीमी आवाज़ में ही बोल रही थी, पर उस की गंभीर ध्वनि से लगता था जैसे गुफा में से बोल रही हो। इंटरव्यू ख़त्म होने के बाद पुरुषोत्तम उठ खड़ा

हुआ तो उस ने चटाई पर बैठे-बैठे ही बोझिल पलकों को थोड़ा-सा ऊपर मोड़ कर धीरे-से एक बार और पुरुषोत्तम को देखा। देख कर थोड़ी देर निश्चल खड़ी रही और अंदर चली गई। उस की नज़र ने पुरुषोत्तम के अंदर खलबली मचा दी। लेकिन उसे कुछ ठीक-ठीक समझ में नहीं आया।

अगले दिन संबंधियों के घर में दुपहर का भोजन करने के बाद बैलगाड़ी में बैठ कर वह रोड-जंक्शन की ओर रवाना हो गया। एक बजा था। घंटी बजाते हुए बैल आगे बढ़ गए। रास्ते में गाड़ी मुंसिफ़ साहब के घर को पार कर रही थी कि वह लड़की किसी कारण से सड़क की ओर घर से बाहर आ गई। गाड़ी को देख कर घर के अंदर न जा कर वहीं रुक गई। एक हाथ से दरवाज़े की चौखट का सहारा लिए, निश्चल खड़े हो कर उस ने पुरुषोत्तम की ओर शांत भाव से देखा। गाड़ी आगे बढ़ गई। वह बहुत पीछे रह गई, पर वह नज़र उस का पीछा करती रही। दूसरे शब्दों में कहना हो तो वह नज़र उस में गड्ढे ख़ोदती रही। कुछ दिन पहले पुरुषोत्तम बीमार हो कर अस्पताल गया था। उस समय वह बहुत दुबला और कमज़ोर हो गया था। अस्पताल में एक नर्स डॉक्टरों के पीछे से आगे आई और 'इधर आओ' कह कर उसे वज़न करने वाली मशीन के पास ले गई। ले जाते हुए वह पुरुषोत्तम को ग़ौर से देख रही थी। इस बात को पुरुषोत्तम ने भाँप लिया। वह बहुत कोमल थी। रोगियों के कष्टों की अभ्यस्त हो कर वह अभी अमानुष नहीं बनी थी। उस की आँखें बहुत छोटी थीं। उस की नज़र का अर्थ पुरुषोत्तम को तब तक समझ में नहीं आया जब तक उस ने वज़न करने वाली मशीन को नहीं देखा। उसे देखने के बाद उस ने सोचा, 'ओह! यह मेरे वज़न का अंदाज़ा लगा रही है।' मशीन से उस के उतरने के बाद नर्स ने करुणा से देखा था और सावधान करने वाली हँसी के साथ, 'डरने की कोई बात नहीं, हिम्मत रखो। बीमारी मिनटों में ठीक हो जाएगी,' कह कर उसे उत्साहित किया था। उस के प्रति कृतज्ञता कैसे व्यक्त करे, यह समझ में न आने से पुरुषोत्तम की आँखें नम हो आई थीं। गाड़ी में बैठ कर जा रहा था तो न जाने क्यों, पुरुषोत्तम को वह नाज़ुक-सी नर्स याद आ गई। दूर के नीले पहाड़ों को, पास के नारियल के बगीचों को, बग़ल के हरे-भरे खेतों को, ऊपर सफ़ेद बादलों के मंडप को, सब को अपलक देखते-देखते वह सोच में पड़ गया। 'क्या मेरा वज़न सही है?' उस ने एक बार सोचा। लेकिन उसे कुछ भी ठीक-ठीक समझ में नहीं आ रहा था। जिस तरह गीली लकड़ी आग नहीं पकड़ती, उसी तरह उस का मन बोल नहीं रहा था। गाड़ी इकसार चल रही थी। 'ओहोय, होय, होय' कह कर गाड़ीवान ने बैलों को रोका तो पुरुषोत्तम चौंक कर गाड़ी से उतर पड़ा था। उसी समय कहीं आसमान में ज़ोर की गड़गड़ाहट हुई। बगीचों में हवा फड़फड़ाई। पुरुषोत्तम ने आसमान की ओर ताका। सफ़ेद बादलों को हवा ने साफ़ उड़ा दिया था। दूसरी ओर से काले बादल लावे की तरह और ज्वार की लहरों की तरह उमड़ रहे थे और प्रवाह की तरह उफन कर आगे आ रहे थे।

जहाँ कच्ची सड़क ट्रंक रोड के साथ मिलती थी, वहाँ सड़क की बग़ल में किसी अधिकारी की तरह खड़ा इमली का पेड़ ज़ोर की हवा में सिर हिलते हुए आकाश को ललकार रहा था। पेड़ के नीचे झोंपड़ी ठंडी हवा में बुढ़िया की तरह सिहर रही थी। इतने में बादल पूरी तरह आसमान में छा गए। धूप की गर्मी में स्लेट के पानी की तरह देखते-देखते धूप ग़ायब हो गई। खेतों पर बादलों की छाया प्रवाह की तरह दौड़ने लगी।

गाड़ीवान ने हवा और धूल को गालियाँ देते हुए गाड़ी को पीछे मोड़ा और उछल कर मोहड़े पर बैठ गया। धूल को चीरते हुए बैलों ने दौड़ लगाई। पुरुषोत्तम झोंपड़ी में घुस नहीं पाया था कि तेज़ चलती हवा ने और अधिक उग्र रूप ले लिया और बारिश दनदनाती उतर आई। पानी जिस तरह सुगमता से नीचे की ओर चलता है, उसी तरह वर्षा की धारा झोंपड़ी में फैल कर हरहराती हुई आगे बढ़ गई।

पुरुषोत्तम इस झोंपड़ी की चाय की दुकान में पड़ी बेंच पर एक घंटे से ज़्यादा बैठा रहा। किसी उपयोग में न

आने से गिलास चाय की मेज़ पर लोट रहे थे। केतली जैसी एक चीज़ चूल्हे पर लेटी थी। चूल्हे में आग ठंडी हो रही थी। सारी दुकान फ़ुरसत में थी। बुढ़ऊ बूढ़ी बिल्ली की तरह तिपाई पर ऐसे बैठा था जैसे चाय बनाना उस का काम न हो। उस ने बुझे हए चुरुट के दो कश खींचे, बग़ैर उसे दुबारा सुलगाए चाय की मेज़ पर रखा, और पुरुषोत्तम से पहला प्रश्न किया, 'कहाँ के रहने वाले हो बाबू?' उस के बाद आहिस्ता-आहिस्ता एक-एक करके प्रश्न-परंपरा को ऐसे निसृत करना आरंभ किया जैसे बौछार की मारी छप्पर की ओरी से पानी की बूँदे लगातार गिरती हैं। पुरुषोत्तम ऐसे जवाब देता गया जैसे जवाब न देने के परिणाम से डरता हो।

सब कुछ जान लेने के बाद अंत में पुरुषोत्तम को पक्के तौर पर बुढ़ऊ ने यह बताया कि 'तुम जहाँ जाना चाहते हो, वहाँ नहीं जा सकते,' और इस बात से प्रसन्न हो कर मन ही मन हँसने लगा।

ऊपर बारिश ज़ोर पकड़ रही थी। हवा साँय-साँय कर रही थी। बिजलियाँ आकाश को चीर रही थीं। गडगड़ाहटें विस्फोट कर रही थीं। सारे पहाड़ बारिश के आक्रमण को अचल हो कर झेल रहे थे। पेड़ जैसे विद्रोह कर रहे थे। दुकान के चूल्हे की आग को हवा का बचाव तो था लेकिन ऊपर से बरसने वाला पानी तो केतली के ऊपर से फिसल कर अंगारों को बुझा रहा था।

अपनी हँसी को कई दिन की दाढ़ी में छिपा कर बुढ़ऊ ने कहा, 'कोयला लाने गया है। लड़का अभी आया नहीं बाबू। जाने कहाँ रह गया!'

'तब तो बस नहीं आएगी न?' पुरुषोत्तम ने पूछा।

'सच पूछो तो रेलगाड़ी भी नहीं आएगी। बेचारी बस की क्या गिनती?' कह कर बारिश के कारण इस तरह सारे संसार के स्तंभित होने पर बुढ़ऊ ने हर्ष व्यक्त किया।

हवा और बारिश से ऐसी आवाज़ होने लगी जैसे झोंपड़ी से साँप नीचे फिसल रहे हों। ट्रेन के आने में अब दो घंटे भी नहीं थे।

'जल्दी निकल आते तो पैदल चल कर भी वक़्त पर पहुँच जाते। अब नहीं हो सकता। नदी-नाले सब एक हो गए हैं अब तो।'

बुढ़ऊ इस बात पर भी खुश हुआ कि अब पैदल चल कर भी पहुँचना हो नहीं सकेगा।

पुरुषोत्तम खिन्न मन से उसी तरह बैठा रहा। बुढ़ऊ इस बात पर खीजने लगा कि कोयला लाने गया हुआ लड़का अभी लौटा नहीं। झोंपड़ी सारी भीग कर गीला गोला बन गई। ठंड बढ़ी और ठंडी हवा और तेज़ हो गई। ऊपर लगातार बारिश हो रही थी।

'बारिश होगी नहीं तो और क्या करेगी? यह उस का वक़्त ही है।' बुढ़ऊ ने कहा।

रेलगाड़ी के आने में दो घंटे का वक़्त भी नहीं था। दो कोस की दूरी वैसी की वैसी पड़ी थी। बस का कहीं अता-पता नहीं था। आसमान टूट कर गिर रहा था। पुरुषोत्तम उठ खड़ा हुआ।

'बाहर क़दम रखना किसी भी इंसान के बस की बात नहीं!' बुढ़ऊ का कथन था।

छटपटाहट से पुरुषोत्तम इधर-उधर घूमता रहा। निष्क्रिय बैठने की विवशता उस को सहन नहीं हो रही थी।

'दियासलाई है बाबू?'

'नहीं।'

'मैं ने सोचा था नहीं ही होगी। अब पानी में से आग पैदा करने के अलावा कोई चारा नहीं है। लड़के को देखो तो वह अब तक आया नहीं। जाने कहाँ फँस गया। फ़ाटक के पास से कोयला ले आने के लिए दौड़ कर गया है बाबू। है तो छोटा ही, लेकिन बला का दिलेर है। बारिश ही क्यों, चिंघाड़ते हाथियों का झुंड भी उतर आए तो

वह परवाह करने वाला नहीं है।' लड़के का जाना, कोयले ले आना, हाथियों का उतरना, यह सब पुरुषोत्तम सुन नहीं रहा था। उसे घेर कर खड़ी झोंपड़ी उसे जेलख़ाना लग रही थी। जल-धाराएँ लोहे की सलाख़ों की तरह चारों ओर उतर रही थीं। वह सोच-सोच कर हतबुद्धि हो रहा था, परिस्थितियों से चिढ़ रहा था।

'जाओ, जाओ,' किसी ने कहा तो वह चला आया था। उसे चाहिए था कि पहले कलकत्ता जाता, वहाँ का काम निबटाता और उस के बाद आ कर लड़की देखता। हर बार ऐसा ही होता है। लगता है, उस लड़की ने सही अंदाज़ा लगाया था। छिः, हमेशा ऐसा ही होता है! उन लोगों ने कहा, 'कलकत्ता आना है।' उस ने कहा, 'आ रहा हूँ।' मामा ने कहा, 'अड़विपालेम जाओ।' उस ने कहा, ' जा रहा हूँ।' बचपन से ही ऐसा हो रहा है। लोगों ने कहा, 'नहीं पढ़ोगे तो बिगड़ जाओगे; पढ़ लो!' उस ने कहा, 'पढ़ लूँगा।' लोगों ने कहा, 'चालचलन ठीक नहीं होगा तो कहीं का नहीं रहेगा।' उस ने कान पकड़ कर कहा, 'क़ायदे से रहूँगा।' एक दोस्त ने कहा, 'जो मज़े नहीं कर सकते उन खूसटों का चालचलन अच्छा ही होता है!' इस से वह सहमत हो गया था। इसी तरह सब थे। 'तैरना नहीं जानते तो पानी में मत उतरो, ख़बरदार रहो।' 'नहीं उतरूँगा!' 'बग़ैर दीये के अँधेरे में मत जाओ।' 'नहीं जाऊँगा।' 'चौड़े राजमार्ग को छोड़ कर गलियों में मत घूमना, ख़बरदार!' 'नहीं घूमूँगा।' 'दूसरे लोग चाहे जैसे मरते रहें, तुम्हें क्या? उन की टोली में तुम मत जाना।' 'नहीं जाऊँगा।' 'अन्याय, पाप—इन सब से तुम्हें क्या? अपने काम से मतलब रखो। वरना मार पड़ेगी, सावधान!' 'उन सब से मेरा क्या काम? मार खाने की मुझे क्या ज़रूरत? मैं अपने काम से मतलब रखूँगा।'.... 'टाइफाइड, निमोनिया और क्या-क्या, कुछ भी हो सकता है। बारिश में बाहर निकलना नहीं, ख़बरदार!'... 'क्यों निकलूँगा? यहीं रहूँगा!'

पुरुषोत्तम चौंक पड़ा। फिर कलकत्ता कैसे जाया जाए? डेढ़ घंटे से ज़्यादा समय अब नहीं है। कुछ करने को नहीं सूझा तो पुरुषोत्तम फिर से बेंच पर बैठने जा रहा था कि तभी बुढ़ऊ ओरी के नीचे से सड़क की ओर देख कर उत्साह से चीखें मारने लगा, 'वह देखो! आ रहा, आ रहा है। बनबिलाव है, बनबिलाव। दौड़ आओ, दौड़ आओ।' पुरुषोत्तम ने भी झुक कर ओरी के नीचे से देखा।

दूर सीधे सामने सड़क दिखाई पड़ रही थी। दोनों तरफ़ के पेड़ सिपाहियों की तरह खड़े हो कर खलभल मचा रहे थे। सारी सड़क पानी के कारण नहर जैसी लग रही थी। उस के ऊपर न बुझने वाले अंगार-खंड की तरह, पानी के ऊपर नाव की तरह एक लड़का कंधे पर बोरी डाले दौड़ता हुआ तेज़ी से ऐसे आ रहा था जैसे पेड़ों को चीर कर रास्ता तैयार करता हुआ आगे बढ़ रहा हो।

लड़के को शाबाशी देने के बाद बुढ़ऊ ने गाल फुला कर चूल्हे को फूँका। उस ने सोचा था कि बुझ गया होगा। 'आग है रे भाई, अभी है!' कह कर और ज़ोर से फूँकना शुरू कर दिया।

लड़का दौड़ते-दौड़ते झोंपड़ी के अंदर एकदम घुस गया। फ़ौरन ज़ोर से 'आ गया दादा' चिल्ला कर उस ने कंधे से बोरी अलग करके फटाक से नीचे फेंक दी। लड़के की उम्र बारह साल से अधिक नहीं थी। सचमुच बनबिलाव जैसा ही लगता था। आधा मिनट बाल दबा-दबा कर पानी निकाला, कपड़े निचोड़े और झोंपड़ी में खुशी-खुशी फुदकने लगा।

'बारिश से रास्ते में तू मर जाता तो क्या करता रे, मेरे पोते?' कोयले की बोरी को खोलते हुए बुढ़ऊ ने कहा। बोरी खोलते ही पत्थरी कोयले दमकने लगे। 'बारिश? हमें नहीं जानते दादा? यह पोतराजू बारिश को चकनाचूर कर देगा।' कह कर उस ने ऐसे जवाब दिया जैसे वह तीनों लोकों का मालिक हो और चूल्हे को हवा करने के लिए गर्व से ऐंठता हुआ आगे बढ़ गया।

पुरुषोत्तम निश्चल खड़ा रहा जैसे झोंपड़ी में उस के पैर गड़ गए हों। आसमान अचानक प्रकाश से भर गया।

उस समय तक जिस दुलहन की आँखें पुरुषोत्तम का पीछा कर रही थीं, वह उस क्षण उस के सामने मानो साक्षात् खड़ी हो गई। उस ने जिस दृष्टि से देखा था, वह दृष्टि, उस नर्स की कोमल हँसी, कोंपलों वाला आम का पेड़, ऊपर को तना हुआ नारियल का पेड़, ठंडी हवा, मूसलाधार बारिश, पानी में आग, मनुष्य के अंदर का शोला—सब उस की समझ में आ गया। सुस्पष्ट और अर्थगर्भित हो कर परदे पर दिखाई पड़ने वाली कहानी की तरह उसे सब समझ में आ गया। सब कुछ देखते हुए वह उसी तरह खड़ा रहा।

ऊपर वर्षा की धाराएँ ऐसी दिखाई पड़ रही थीं जैसे स्तंभित हो गई हों। आकाश के बादल विरल होने के बजाय और अधिक घने होते जा रहे थे। ठंडी हवा अपने अश्व-रथ पर सब कुछ कुचलती, रौंदती आगे बढ़ रही थी। बिजली का प्रकाश और गड़गड़ाहट एक के पीछे एक मानों दौड़ लगा रहे थे। बादलों के बढ़ने के साथ-साथ झोंपड़ी में अँधेरा घना हो रहा था।

चूल्हे को हवा देता हुआ लड़का लाल लोहे की तरह दमक रहा था।

थोड़ा समय और बीत गया।

हड़बड़ी में इधर-उधर घूमता हुआ बुढ़ऊ अचानक ऐसे रुक गया जैसे कुछ याद आ गया हो। आँखें मींच कर उस ने दाएँ-बाएँ देखा। 'अरे पोतराजू!' कह कर पोते को बुलाया और 'अभी यहीं था, वह शहरी बाबू कहाँ गया रे?' कह कर उस ने आश्चर्य से ऐसे देखा जैसे उसे शक हो गया हो कि कहीं उसे ग्रामदेवी एन्नेम्मा तो उठा कर नहीं ले गई?

'वह देखो!' लड़के ने कहा।

'किधर?'

'उधर देखो, उधर!' कह कर लड़के ने सड़क की ओर इशारा किया।

'क्या? मिट्टी के माधो की तरह बैठा था। मैं ने सोचा कि बारिश के थमने तक झोंपड़ी से टलेगा नहीं। अच्छा! टल ही गया।' कह कर बुढ़ऊ ने घुटने मोड़े और पीठ को फैला कर ओरी के नीचे से देखा।

धुँधले प्रकाश में सीधे, ठंडी हवा से लड़ते हुए, बारिश को अनदेखा करते हुए पुरुषोत्तम अपने चारों ओर के परदे विदीर्ण करता हुआ तेज़ क़दमों से आगे बढ़ा जा रहा था। उसे देख कर बुढ़ऊ ने मुस्कराते हुए कहा, 'शाबाश!'

तेलुगु से अनुवाद : **जे.एल. रेड्डी**

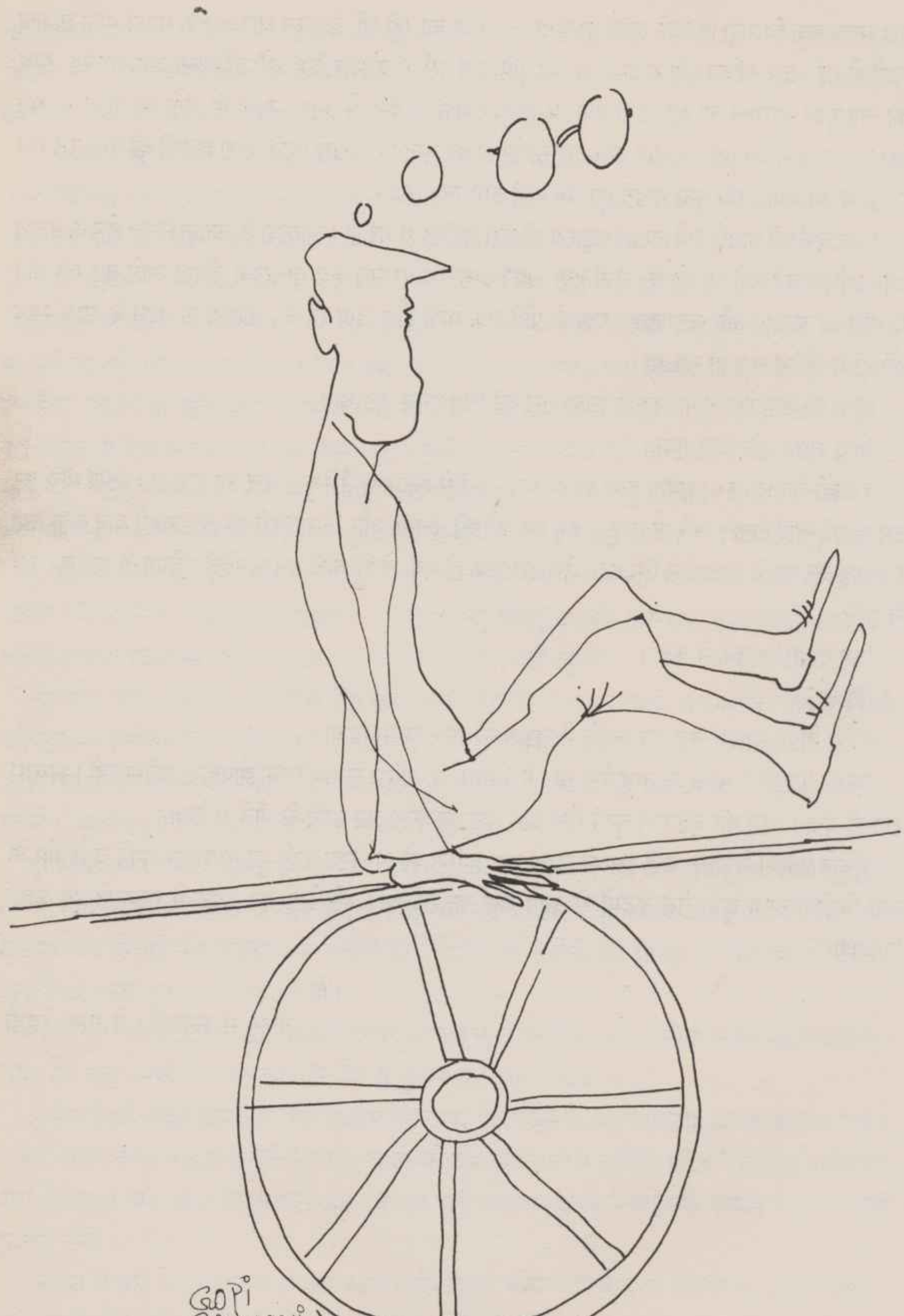
GOPI
GAJWANI

सुनील गंगोपाध्याय

अलविदा

दोपहर के समय एक गीध चीख उठा,
बज उठी विदाई की ध्वनि
प्रतिध्वनि गूँज उठी चारों तरफ़
अलविदा — अलविदा — अलविदा!

धूप जलने लगी ट्राम लाइन के ऊपर
मैं खड़ा रहा पेड़ की छाँव में
ऐसा लगा,
मानों, पृथ्वी ने मुझे बुला कर दिखाया
काँटे से चुभा हुआ
नग्न एक वृक्ष!

सारा रूप रूपांतरित हो गया दर्द में
आकाश एक स्मृति बन कर रह गया,
नींद की गहराई में
किसी की नींद भरी आँखों की रोशनी देख कर
अँधेरे में छुप गया
एक और अँधेरा!

ऐसा लगा कि अचानक
हवा और बादल, धूप और बरसात,
गली के कोने पर बसा वह मकान,
उड़ता हुआ पंछी,
ट्राम से चलती हुई
किसी अनजान की आँखें,
और मोर्चे में आगे बढ़ने वाला
किसी का झुका हुआ सुंदर-सा मुखड़ा
सभी ने एक साथ
एक ही स्वर से मुझे पुकारा और बोल उठा—
'अलविदा, अलविदा, हमेशा के लिए!

अलविदा, अलविदा, अलविदा!'
चारों तरफ़ से गूँज उठी
बस एक ही आवाज़—
अलविदा, अलविदा, अलविदा!

आसान

कितनी आसानी से

मैं ने एक लाख गुल खिलाए
और अचानक ही प्रज्ज्वलित किए
कई सूरज, चाँद और सितारे।

फिर, अपने ही ख़याल से
एक फूँक से मिटा दिया उस चाँदनी को।
तुम्हें याद है, वह कौन-सी चाँदनी थी?

मैं ने मिटाया उस धूप को;
क्या वह भी तुम्हें याद है?

बुरा कहने वाले मेरे बारे में बहुत कुछ कह डालेंगे।
मुझे दिखा कर वे कहेंगे—'इसका यक़ीन न करना।'
शायद यही कहेंगे कि
'यह तो एक बचपना है, यां बेवक़ूफ़ी।
यह बस एक जादूगर की कार्रवाई है—
देख लो,
फटे हुए तंबू के अंदर फटे हुए साज़ के साथ-साथ
तरह-तरह के धागों से सिया हुआ
काले रंग का कुर्ता पहन कर
यह जादूगर क्या खेल दिखा रहा है
उस लड़की की आँखों में आँखें डाल कर!
पर कोई भी दर्शक इस खेल को सच नहीं मानता,
वे तो हँस रहे हैं!

वह ना-समझ लड़की ही
उस के मायाजाल में फँस कर
उसे सच मान रही है,
पर तुम तो उसे सच न मानो!'

बुरा कहने वाले, तू देख ले मेरी तरफ़,
देख ले—कि कितनी आसानी से
मैं ने त्रिभुवन को पकड़ रखा है
अपने बाएँ हाथ की छोटी उँगली से।

प्रकाश, अँधेरा, सागर और पर्वत
सभी देख रहे हैं मुझे
आश्चर्य-दृष्टि से!
केवल तू ही भूल चुका है
चमत्कार का मतलब!

तू मेरे घर आ जा।
देख ले कितना अजीब घर है मेरा—
मेरे सिर के ऊपर छत तो है
पर, देख ले, चारों तरफ़ कोई भी दीवार नहीं।

मेरी दीवारें तो तू ही है,
तू ही दिल में सपने ले कर
रहेगा, हमेशा के लिए,
अपनी उँगलियों पर अपनी-अपनी उम्र गिन कर।

उन दीवारों पर तू चित्र बनाना
अपनी खुशी से।
देख ले, मेरे घर के अंदर
कितनी जाति की हवाएँ खेल रहीं हैं
मेरी परम अनुगत दासी की तरह।

वे छत पर जमी हुई धूल को
साफ़ कर रही हैं
और तरह-तरह के रंगों से
बना रही हैं कार्यरत दिन और रात की तसवीर।

उसी बिना दीवार वाले कमरे के अंदर
मैं बैठा हूँ
मैं तसवीर बना रहा हूँ
उस लड़की की आँखों में।

बाहर की तसवीर से

आँखों में तसवीर बनाना कितना आसान है!

लौट जा, बुरा कहने वाले!
ना-समझ बच्चा तो तू ही है!
तुझे यक़ीन ही नहीं कि
मैं एक सच्चा जादूगर हूँ।

बाङ्ला से अनुवाद : **स्वप्ना दत्त**

के. अय्यप्प पणिक्कर

वीडियो मौत

'दीदी! क्या अमेरिका से 'फोक्स' आया?'
' ''फोक्स?'' लोमड़ी? देखती हूँ क्लिंटन है या कोई और।'

'अरे नहीं, ''क्लिंटन-भैया'' को तो जानती हूँ,
वो कुछ टेलीग्राम जैसा होता है न!'

'अच्छा-अच्छा, देखती हूँ।
ये भाई का लैटर है. . .लो पढ़ो।'

'माई डियर सरो,
हमारी मदर कुछ सीरियस हैं,
लेकिन यहाँ बूँदाबाँदी हो रही है,
अमेरिका की बूँदाबाँदी—
तुम क्या समझ पाओगी,
इसीलिए तो घर नहीं आ पा रहा।
मदर की मौत का वीडियो ज़रूर भेजना।
आख़िरी साँस से ले कर हमारे सारे क्रिया-करम,
''फ्यूनरल'' फ्रेंड्स को बहुत पसंद है।
इंडियन मैरिज़, वेडिंग रिसेप्शन, सुहागरात,
हनीमून, डाइवोर्स, सती—सभी देख चुके हैं,
साँस उखड़ने के बाद के क्रिया-करम,
जैसे शव को नहलाना, नया कपड़ा ओढ़ाना,
चावल मुँह में डालना, बलि,
जलती चिता, हँड़िया फूटना आदि
देख नहीं पाए हैं।
इसीलिए ये भी देखना चाहते हैं।

देखो "ब्लैक एंड व्हाइट" और "कलर"
अलग-अलग लेना।
मर्लिन "ब्लैक एंड व्हाइट" पसंद करती है,
पर जैक्लिन का कहना है कि
कलर के बिना 'चिता-फ़िल्म' में मज़ा ही क्या?

वीडियो वाले को पहले से ही 'बुक' कर लेना,
वीडियो समय पर नहीं मिला या—
अम्मा धोखा दे गई—ऐसा मत कहना,
अच्छा कैसेट चाहिए तो यहीं से भेज दूँगा,
बरसात नहीं होती तो मैं ही आ जाता,
कैसेट बढ़िया बनना चाहिए,
बहुतों को दिखाना है।

"द लास्ट मोमेन्ट्स ऑफ़ एन इंडियन मदर"
यही टाइटिल ठीक रहेगा,
शादी का वीडियो है ऐसा कन्फ़्यूज़न नहीं होना चाहिए।
ग़मी में आए लोगों के चेहरे पर भी
कैमरा घुमा देना,
क्रिसमस पर सभी दोस्त आएँगे—
वीडियो देखने,
उस से पहले ही भेजना।

शेष फिर—वीडियो मिलने पर,
अम्मा को भी ज़रा एडजस्ट करने को कहना,
क्रिसमस से पहले ही. . .
बूँदाबाँदी की बात अम्मा को भी बता देना,
टेक केयर!'

—विलायती भैया

वृद्धजन-प्रयोजनम्?

माई डियर डैडी,
मलयाळम लिखना कितना कठिन है!
आशा है आप अच्छी तरह से होंगे।
यहाँ बॉम्बे में भी सभी ठीक है।
स्मगलिंग में भी कोई दिक़्क़त नहीं,

'एकनॉमिक रिफॉर्म' कहने पर समझ जाएँगे,
अभी तो हम प्राइवेटाइज़ेशन में ही हैं।

एक ख़ास बात है डैडी,
हस्बैंड ने कही है;
वैसे 'सुकु' का ही नहीं, मेरा भी यही विचार है।
मम्मी तो चली गई, डैडी अकेले हैं,
क्या अब भी इतने बड़े घर की ज़रूरत है?
आजकल सर्वेंट भी तो नहीं मिलते,
वैसे भी 'लोअर-क्लास' ख़त्म हो रही है।

इसीलिए तो आप के रहने को एक जगह खोजी है,
आप के जैसे लोगों के रहने की जगह,
'वृद्धजन. . . .समथिंग'
ओल्ड एज़ होम कहने पर,
आप समझ जाएँगे।

हमारे नेबर्स के 'मम्मी-डैडी' भी वहीं रहते हैं,
तीन टाइम खाना और टी.वी. भी,
कभी-कभी चार बजे समोसा भी मिलेगा,
मरने पर ख़बर देने को फ़ोन भी है,
हमारा आना मुश्किल है,
बच्चे तो इंगलिश मीडियम में ही हैं,
मलयाळम सुनना भी पसंद नहीं,
आप के 'होम' में आने पर 'घर ज़मीन' के अच्छे दाम मिलेंगे।

हम ने यहाँ एक 'फ़्लैट' भी देख लिया है।
दो सप्ताह बाद ही 'सुकु' आ कर,
आप को 'होम' में डाल देगा,
बैंक में ज़्यादा पैसा मत रखना!
कल का किसे मालूम!
यहीं 'शेयर' ख़रीद लेंगे,
'बेबी' डैडी की गिफ़्ट पा कर कितनी खुश होगी!
आप को भी 'फ़ील' नहीं होना चाहिए,
मुझे 'इंगलिश-मीडियम' में डालने वाले,
आप ही तो थे।

अब तो मुझे इंगलिश ही 'प-स-न्ध' है

वेरी गुड लैंग्वेज़,
वेरी जल्दी सीख सकते हैं,
ग़ल्ती का भी पता नहीं पड़ता,
अब शॉपिंग के लिए जाना है—
हॉर्न बज रहा है
अच्छा डैडी! फिर 'होम' में ही लिखूँगी!
चियर यू!
बैंक — बेबी — शेयर
बुरा मत मानना।

—आपकी,
सुमि जी. पाल
मलयाळम से अनुवाद : **रति सक्सेना**

के.जी. शंकर पिल्लै

तिरस्कार

एक बार
एक महर्षि ने चूज़े और कौए के बच्चे को निकट बुलाया
और कहा :

पंख हैं ज्ञान
जब तक पंख पक्के न हों, उड़ना नहीं
अंधेर-भरी झीलों के ऊपर
गुलेल-सी आँखों वाले बाज़ार के ऊपर
बंदूक़-सी आँखों वाले शहरों के ऊपर
परिपक्व हुए बग़ैर
उड़ना नहीं।

छोटी मुर्ग़ी
कटहल के पेड़ की छाया में
दाना बीनती रही
समझदार होने के बाद उड़ना बेहतर होगा।

यह कह कर कौए का बच्चा उड़ गया
कि महर्षि का हर शब्द ताबूत जैसा है
वह उड़ चला

फलों की नई वादियों की ओर
बच्चों की जागृति की ओर
सड़ती जूठन की ओर
भिखारिन की तृष्णा के साथ
चबूतरे पर रखे श्राद्ध की ओर
पितृपिण्ड की आँखों के साथ
बारिश की गहराई की ओर
मछली के धर्म के साथ
धूप की दूरियों की ओर
बाण के लक्ष्य के साथ

वह हार गया
मोर से
कोयल से
हंस से।
पर जनतंत्र में जीत कर
रोशनी में आस्थावान बन कर
कालेपन में बढ़ते हुए
वह एक बड़ा-सा कौआ बन गया
धरती और आकाश में
उस के रास्ते ख़त्म नहीं हुए।
कटहल की छाया-तले
मुर्ग़ी जवान और खूबसूरत हो गई
आँगन में
दहलीज़ पर
गलियारे में कमरों में दिन बिताए
घर के व्याकरण में वह मस्त थी
यादों, सपनों और बेबसियों को वह बीनती रही
हिचकती, शर्माती
पर रोबीली बन
वह मोटी होती गई।

पढ़े-लिखे
परिपक्व
अक़्लमंदी की भूख से जो आए, उन्होंने
उसे पकड़ लिया

उस की ख़ूबसूरती को उन्होंने उतार फेंका
और उसे खा लिया।

तरह-तरह के पोज़ के फ़ोटो

साहेब,
आप जैसों के तरह-तरह के पोज़ के फ़ोटो
बहुत ज़रूरी हैं।
झुके हुए, तिरछे खड़े हुए,
खड़े हुए, चलते हुए, हँसते हुए, सोचते हुए
रेखांकन करते हुए, चकित होते हुए
सिगरेट पीते हुए, पढ़ते हुए, लिखते हुए
बीवी-बच्चों के साथ
निकट थे पहले और अब विरोधी बने कॉमरेडों को
गले से लगाते हुए
क़रीब से फिर दूर से
तरह-तरह के पोज़ के फ़ोटो
बहुत ज़रूरी हैं, साहेब!

आज जन्मे किसी बच्चे के साथ
कोणार्क में
बेलूर में
जलती चिता के निकट खड़े हो कर
इस गहन व्यथा में डूब कर
कि जीवन का मोह मत कर मन!
गहरी पीड़ा झेलते हुए

दूर-दराज़ की मंज़िलों को ताकते हुए
तटों को तोड़ कर बहती नदी के समान
अपना देश हड़पने
कुल्हाड़ी चलाते हुए
जुलूस का नेतृत्व करते हुए
शादी-ब्याह के मौक़े पर बधाइयाँ देते हुए
जीत की ख़ुशी में जनता का अभिवादन करते हुए
मनचाहा पाने से फुलझड़ी के समान खिलते हुए
ग़ैर-ज़िम्मेदार हरक़तों पर कुंठित होते हुए

तरह-तरह के पोज़ के फ़ोटो
बहुत ही ज़रूरी हैं, साहेब!

जिन्होंने हमें देखा नहीं
या जो रोज़ ही मिलते हैं
और खुद हम
देख लीजिए
ऋतुओं से हो कर
हम कैसे नाचते-गाते हैं
तरह-तरह से हम न जाने क्या-क्या रचते हैं
और किस-किस का संहार करते हैं
साहेब!
लगातार लोगों से अठखेलियाँ करके ही
सागर इतना विशाल हो गया है
नदियाँ मिथक बनी हैं।

2

वैक्कम मुहम्मद बशीर इस बात को ले कर दुखी हैं
कि फ़ोटो खिंचवाते-खिंचवाते उन का चेहरा घिस गया है।
साहेब, यह एक बात ज़रूर याद रखें
इस के करिश्मे से
हमारे नेता गुलाबी रंग के हो गए हैं
अनजान अँधेरों में
सब के लिए पवित्र ज्योति प्रज्ज्वलित करते हुए
साहेब, ज़्यादा फ़ोटो यानी ज़्यादा ज्योति
हमारी अस्मिता
साहेब, एक स्नैप में समा नहीं पाएगी
कम से कम एक बार जो फ़्लैश की रोशनी में भरमाया नहीं
भीड़ के ग्रुप फ़ोटो में आया नहीं
उस का जीना हराम है
अरूप तिमिर का विस्तार है।

3

कैमरे की तरफ़ देखते वक़्त
मैं बेचैन-सा हो जाता हूँ
उस की वह आँख

उस की जीभ, नाक
संसार का भयावह भँवर
उस के केन्द्र की वह गुहांधकार सुरंग
उस का उछलता-कूदता गतिशील यंत्रचालित शरीर।

कैमरे की तरफ़ देखते समय मेरी आँखें
अपनी आँखों की तरफ़ न आ कर अलग हट जाती हैं
होंठ,
होंठ की तरफ़ न खिल कर झर जाते हैं
लगता है कि किसी और के कान लग गए हैं
कान के ठीक न लग पाने से खुजली-सी हो रही है।

एक मक्खी
नाक के ऊपर बैठी है
नाक को पाताल की ओर धकेल रही है।
एक ही चीज़ को देखते-देखते
मैं अनेक जिन्सों में बँट जाता हूँ
जब नदी को एकता की ज़रूरत है
तो मैं बारिश की भटकन बन जाता हूँ।

4

थैंक यू सर!
साहेब, थोड़ा और चाहिए
धूप के विस्तार में एकमात्र छायादार पेड़
और नदी के किनारे
दीपस्तंभ
ऊटी या कश्मीर में नए-नवेले फूल के संग
बाहरी लोगों के लिए लेनिन बन
पूजा के कमरे में पून्तानम्[1] बन
अगवानी के समय तिडम्ब[2] बन
सींग बन कर, सूँड़ बन कर
तर्क-वितर्क की अँधियारी में
संसार भर को अपने वश में करने के लिए
साहेब
तरह-तरह के पोज़ के फ़ोटो
ज़रूरी हैं साहेब!

बहुत ज़रूरी।

मलयाळम से अनुवाद : **ए. अरविन्दाक्षन**

---

1. मलयाळम के एक प्रसिद्ध भक्त कवि
2. मंदिरों में देवताओं के रूप को एक काठ के तख़्त पर चिपका कर उसे पीतल की मीनाकारी से सजाया जाता है और उस बड़े-से तख़्ते को 'तिडम्ब' कहते हैं। हाथी के ऊपर इसे रख कर देवता की अगवानी की जाती है।

नीलमणि फूकन

यहीं से पानी

यहीं से पानी
दिखाई देता न इस पार न उस पार

तुम्हारे हाथ फैलाते ही केले का पत्ता
हिलता-डुलता
केश खुलते ही बरसात
शरीर भिगो जाती

हृदय-बीच मुझ में कुछ
होता बीज का अंकुरण
मनुष्य का खाया विस्मृत कर चुका
अनखाया एक बीज

एक पक्षी उड़ कर आता है
चोंच में एक दूब ले कर
या गुटि मालि की एक माला

कहीं भी मानो कोई मरा नहीं है
न कोई शिशु
न कोई वृद्ध

यहीं से सूरज को
अस्त होते देखता हूँ
यहीं से चाँद को निकलते देखता हूँ

दरवाज़ा खोलते ही देखता हूँ
नित्य-आवर्तित
प्रेम की पृथ्वी

द पार्वतीया की वे दो लड़कियाँ
जिन के हाथ की मुद्रा आह्वान की

यहीं से पानी
तुम्हारे पाँव के तलवे से पानी

दिखाई देता न इस पार न उस पार

असमिया से अनुवाद : **रत्नेश कुमार**

हरप्रसाद दास

अक्षय

देख, बदलती जा रही है मेरी देह
घास की फुनगी पर मोतियों की ढुलाई
चल रही है अब भी,
कनेर की डांल पर गिलहरी का
खेल चल रहा है
देख, बदल रहा है रंग आसमान का
फिर भी, तारे गिनना जारी है कवि का।

सब कुछ ख़त्म हो जाने पर भी
ढूँढूँगा तुझे क्षय के वलय में,
आशाओं की बची मुस्कान में
बाँधे रखूँगा तेरा विश्वास,

बार-बार लौटूँगा पृथ्वी पर,
सब कुछ ख़त्म हो जाने पर भी
हथेली पर तेरे रख जाने को
अवशेष के अक्षय को।

देह

छू सको तो छुओ।

राख और रेशम के बीच
जितना देख रहे हो सुनहरा संदेह
उतना कोई कम नहीं—

लकड़ी काटने की कुल्हाड़ी से
जितना चाहो काट सकते हो उसे;

चकमक पत्थर की आग से
जला सकते हो उसे जीवन भर;

पिण्ड की तरह बहा सकते हो
केले के तने की नाव में;

पा सकते हो
जहाँ चाहो वहीं,

झूठमूठ के तारे की तरह
छायानिद्रा के जाले में।

नया साल

क़मीज़ का बटन बंद करना मुश्किल
जूते का फ़ीता बाँधना मुश्किल
मुश्किल है रफ़्तार को मना करना
तारों की भीड़ ठेल कर
रात के जुआघर में
घुसना मुश्क़िल,

विदाई की एकतान
बजती है तो बजे,
चाहे न हो कुछ भी पास,
न भेरी, न तुरही, न नारी, न छुरी
न मुँह की प्रवाल-नाव में प्रतिदिन का नाविक।

चुपचाप जा कर गुलदस्ते से
पुरस्कृत गुलाब को
उठाना है हमें,
उठा लेंगे।

रात के बगीचे में
फल पक गए हैं
हम जानेंगे नहीं, ठीक है!
जुए की पल्ली में
पके-दान के
मोक्ष लाभ को भी
गिनेंगे नहीं
सुख में, ठीक है।

ओड़िया से अनुवाद : **राजेन्द्र प्रसाद मिश्र**

मनोरमा महापात्र विश्वाल

किस की प्रतीक्षा करेगी कादंबिनी

किस की प्रतीक्षा करेगी कादंबिनी
जीवन की?
क्या दिया है जीवन ने उस को?
किसी उदास निर्जन दुपहरी में
गुमसुम हो जाती है कादंबिनी कभी-कभी
कैसा है यह जीवन
ओस की बूँद-सा
हर जगह जुड़ा हुआ और
हर जगह अलग-अलग
श्वापद संकुल इस घर के लिए
अकृतज्ञ, स्नेह-रिक्त पति-बेटे के ऑक्टोपस में
डूबती-उतराती है कादंबिनी।

कभी-कभी एक बूँद
तो कभी अविभक्त सत्ता है कादंबिनी
घृणामय असहायता में

छिप जाती है वह कभी-कभी
चुप्पी साध लेती है कभी-कभी।

कादंबिनी तलाश रही है खुद को
सुंदर स्मृति के शैशव को
गिलहरी की पीठ-सा सुंदर शैशव
किसी दुष्ट बच्चे की
फटी पतंग-सा
भविष्य झूल रहा है
दूर आम के पेड़ पर
रेगिस्तान-सा हाहाकर
निष्ठुर वर्तमान

किस की प्रतीक्षा करेगी कादंबिनी
अपनी खोई हुई स्मृतियों की
लेन-देन के भावों की
या मरणासन्न भविष्य की?

ओड़िया से अनुवाद : **राजेन्द्र प्रसाद मिश्र**

अमरेश पटनायक

ठेकेदार

उस जीव की टोह में बैठा ठेकेदार
उस की है शिकायत
जला डालता है जंगल वह जीव
खोदता, विनाश करता
तेल, जल और खनिज संपदा

निगल लेता है
पर्वत, घाटी, स्वच्छ परिवेश
ग़रीबों का प्रदूषण का
जनसंख्या वृद्धि का
एक मात्र कारण है वही

नीति क्या, कैसा वाद समझने का वक़्त ही कहाँ
भूख-प्यास के बारूदी धुएँ में,
इस्पात में तपे अकिंचन जीवन
का मोल-भाव हो चुका है उस के जन्म से पहले
नख से शिख तक
फूलों को जानने से पहले
मर चुकी है
मिट्टी और आकाश

जीव का अपराध—
विश्वास नहीं उसे सिंहासन में
विश्वास नहीं उसे रस्मी भाषणों में
पैठ नहीं उस की ठेकेदार महंतों
की अंदरूनी करामातों में

फिर भी ठेकेदार को है पता
जीता, मरता वह जीव
खेत-खलिहान, कल-कारख़ानों में
कॉलिज, कचहरी, अस्पतालों में
ठेकेदार के परिवार के पालन-पोषण में

फिर भी ठेकेदार को है ठीक-ठाक पता
आदमी से बंदर या मकड़ी
लिखते-लिखते जीव
एक मुट्ठी चावल फेंक मवेशी से
मुँह वाले नंदू को
निश्चिन्त हो लिख कर छापता
ठेकेदार महंतों की गाथा, दर्शन और इतिहास
पार्षदों से घिरे गोपांगनाओं के बीच
परम आराध्य वे, परम नमस्य

फिर भी कैसा चमत्कार
मानव से महात्मा कहलाते
जीभ काट जीव में बदल जाने का दृश्य

क्या रखा है इस में
ठेकेदार है घात लगाए जीव के किस
अंग से काटे गोश्त

बड़ा ही गहरा है
ठग से ठेकेदार और फिर
ईश्वर बनने का राज़

ओड़िया से अनुवाद : **मिहिर पटनायक**

जयशंकर त्रिपाठी

नदी करुणावती

नदी चञ्चला गिरिवने सञ्चरन्ती नाम करुणावती।[१]

उच्छलन्ती गिरौ सम्भ्रमन्ती वने
पथि विहरति क्षणे बालुकाकङ्कणे
विन्ध्य शैलाद् वनाद्
गह्वरान् निःसरन्ती
उद्गिरन्ती जलं सा हि सकल कलम्।. . .

पहाड़ और वन में कभी इधर-कभी उधर तेजगति से नदी
प्रवाहित हो रही है, उस का नाम 'करुणावती' है।[१]

यह नदी पहाड़ की चट्टानों पर ऊपर उछलती है, सघन
वन में खो जाती है, एक क्षण बालू और कंकड़ के रास्ते में
सैर करती है। विन्ध्य पहाड़, वन और गुफा से निकलती
हुई कल-कल शब्द के साथ जल की तेज धार गिराती है।

पुनः टेढ़ी और तिरछी गति का अनुगमन कर आँख खोल
कर फसल से हरियाए खेतों की शोभा का आलिंगन करती है।
इस के बाद श्रम से आकुल हो कर थकावट का अनुभव
कर बालुका के बिस्तर पर सो जाती है, तो क्या वह
भोगावती (पाताल गंगा) है? नहीं, वह नदी, इस का नाम
करुणावती* है।

वह सो गई तो कब जागती है? यह सवाल
तो बड़ा है। किन्तु यह नदी जब जागती है उस के साथ ही
फसलों के खेत, गायों का दूध, वनों के फल, औषधियाँ—ये सभी
संपत्तियाँ जाग जाती हैं।

हम लोग उस के जागरण की बात इस प्रकार सुनते रहे हैं—
पहाड़ पर जब बादल खूब गरजते और बरसते हैं
तब यह लघु सरिता मेरी नदी मरकत-जैसे हरे-भरे वन में
अपनी शयन-भूमि से उठ कर जाग जाती है।

इस के अनंतर हम उस के जागरण की बात इस प्रकार सुनते हैं—
पुनः जब शरद् ऋतु के वन में सायंकाल निकट
होने पर आकाश लाल होने
लगता है, चरवाहे गायों के झुंड ले कर वन से निकलते
हुए अपनी वंशी बजाते हैं तब उन का गीत सुन कर
यह करुणावती नदी जाग जाती है।

इस के बाद हम उस के जागरण की बात इस प्रकार सुनते हैं—
यह नदी सहसा उस समय आँख खोल कर जाग जाती है
जिस समय देश के सम्मान और स्वतंत्रता की रक्षा करने
के लिए तरुण किशोर वीरभाव में आ कर अपने प्राण
हथेली पर तौलने लगते हैं।

पहले के इतिहास में आक्रामक कुषाणों ने गंगा की भूमि को
अपने अधीन कर लिया था, उस समय भारशिव नाग वीरों ने
जिस नदी का अमृत जल पी कर उन को चारों ओर से
विजय कर लिया, क्या वह गंगा नदी है?. नहीं, वह
तो, विन्ध्यवन की औषधियों से जिस का जल अमृत
हो कर बहता है, रसभरी मधुभरी करुणावती नाम की
नदी है।

व्योम में आकाश-गंगा है उस को तारागण जानते हैं,
और हम तो उसे जानते हैं जो हिमालय से निकल कर
प्रवाहित होती है। विन्ध्यवन के वनचर जिस नदी का
संजीवनी भरा अमृत स्वाद वाला जल पी कर उन दोनों
गंगाओं को भूल जाते हैं, वह नदी विन्ध्य के आँगन में
कास-बल्कल-कुशों को धारण कर कठोर तप कर रही है।
उस की अर्चना के लिए उस के तट पर विविध प्रकार के
फूल फूलते हैं—मंदार, किंशुक, मल्लिका, हरसिंगार।
अनेक फल भी फलते हैं—जामुन, आम, बेर। गाएँ
इस का पानी पीती हैं, भैंसें इस के जल में नहाती हैं,
यह नदी सब प्रकार से ग्रामीणों और चरवाहों को
संजीवनी प्रदान करती है।

वर्षा-काल में क्षण-क्षण गरजते-बरसते मेघों से,
किसान की वधुओं के कजली लोकगीतों के गान से
यहाँ बाजरा के खेत बहुत तेजी से बढ़ते और
हरियाते हैं और गायों के चरवाहे गोठ में खूब दूध
दुहते हैं।

इसी समय (शरद् ऋतु में) जिस के तट पर खूब कास
फूलते हैं। जहाँ-तहाँ नागरमोथों से इस का तट श्यामल
हो जाता है। मछलियाँ इस नदी के जल में क्रीड़ा करती
हैं, तब ये नागरमोथे आनंद के क्षण में क्या उस
जल-क्रीड़ा को नहीं देखते हैं?

किन्तु यह नदी तो कंतित जनपद में विन्ध्य की चट्टानों
पर तप और ध्यान में स्थित हो कर जन-जन के कल्याण
और समृद्धि की साधना करती है, इस ने इस प्रकार
कितना समय बिता दिया, शायद हम नहीं जानते।
और इस ने जो इतिहास रचा है निश्चित रूप से वह
ओजस्वी है। इस के तट पर सदा राष्ट्रवीरों ने जन्म लिया।
यह लघु नदी विद्वानों और योगियों की जन्मभूमि हो कर
प्रकाशित होती रही है। इस ने सदा शांति रूपी सैकत
(बालू) तट का विस्तार किया है और फल, दूध, रस,
मधु की समृद्धि प्रदान की है। यह नदी शौर्य और तेज
वाली है, नाम करुणावती है, चंचल गति से विन्ध्य
की धरती पर प्रवाहित हो रही है।

—संस्कृत से कवि द्वारा अनूदित

---

* उत्तर प्रदेश के इलाहाबाद-मिर्जापुर जनपदों में करुणावती नाम की नदी प्रवाहित होती है। यह मांडा के निकट विन्ध्य पर्वत से निकलती है, विन्ध्याचल नगर से पश्चिम क़रीब में ही गंगा नदी से संगम करती है। इस का ऐतिहासिक महत्त्व है। इस के तट पर ही भारशिव नाग क्षत्रियों ने सैन्य बल इकट्ठा कर विदेशी कुषाणों को विजय किया था। तभी भारशिव नागों के नेता सम्राट् वीरसेन ने काशी में दश अश्वमेध यज्ञ किए थे। इस नदी की प्राकृतिक सुषमा का वर्णन करती है—'नदी करुणावती' कविता।

निरुपमा दत्त

सीख लिया है

सीख लिया है
एक शहर से
दूसरे शहर के घावों को छुपाना
शहर बदलते ही
थोड़ा-सा खुद भी बदल जाना
एक शहर में खुल कर हँसना
दूसरे में बस
धीरे-धीरे मुस्कराना
पाँच घंटों में ही
शिवकुमार की हेक से
भीमसेन जोशी के
सुरों तक का
सफ़र तय कर जाना
बस एक गुम हुए गाँव को
भूल जाने की ख़ातिर
सीख लिया है
शहर-दर-शहर
भटकते रहना

कुछ नहीं बदलता

शहर बदलने से
नहीं बदलता कुछ भी
न सलेटी सड़कों
की लंबाई
न दिन की
चीखती चुप्पी
न रात का
ख़ामोश शोर
न खिड़की से झाँकता
आसमान का गर्दीला टुकड़ा

न माँ की दी हुई
काँपती आशीष
बदलता है तो शायद
सिर्फ़ महबूब का नाम

पंजाबी से अनुवाद : **सुखचैन मिस्त्री**

अमरजीत चंदन

किसी भी साज़ का नाम लो

किसी भी साज़ का नाम लो
कोयल, बैल के गले की घंटियाँ, ज़िन्दगी
जाम, सरोद, अँधेरे में दहकते बदन, अलगोज़े

किसी भी साज़ का नाम लो
वृक्ष आराम करना चाहते हैं
पवन को रुमकते रहना है
किसी भी साज़ का नाम लो. . .

याद

मैं तुम्हें याद कर लेता हूँ
कभी-कभार
जैसे मुझे अपने कमरे की याद आती है

अपनी माँ और अपने कमरे को
मैं बिना बताए ही चला आया

कमरे की हर चीज़
मेज़, सात दिनों बाद चाबी लेने वाली घड़ी
पढ़ी-अपढ़ी किताबें
मेरी माँ की हर साँस
मेरे इंतज़ार में है
मगर तुम्हें मेरा इंतज़ार नहीं है

पंजाबी से अनुवाद : **सुखचैन मिस्त्री**

सुखचैन मिस्त्री

गाँव : जंग की एक शाम

सूरज पश्चिम में दम तोड़ गया है
आकाश में तैर रही हैं गुलनार बदलियाँ
अँधेरे में स्याह हो गए हैं पेड़ों के आकार
सितारे उलझ गए हैं उदास चाँदनी में
किसी खेत मज़दूर के हुक्के से बँधा चिमटा खटखटाता है
या सरहद की साँप जैसी जीभ पर आग बरसती है
हवा में दो बोल उदासी तिरती है

युद्ध से अभिशप्त हैं पेड़ों की परछाइयाँ
चाँदनी में अपनी नन्हीं-सी परछाईं प्यारी लगती है
गाँव की 'फिरनी' पे आँसुओं से
भीग जाता है किसी का सुर्ख़ 'सालू'
रेडियो करता है नस्र ख़बरें मौत की
या किसी खेत मज़दूर के हुक्के से बँधा चिमटा खटखटाता है

फ़िज़ा में फैल गई है उन्नबी बारूद की बू
गाँव की भट्ठी पे कुरमुरे दाने नहीं भुनते
बंतू नशेड़ी की सिगरेट सुलगती है न बात चलती है
न किसी गृहिणी के 'टारे' में आग सुलगती है
सहमी हुई सड़क ठिठक कर पानी के कुँओं के नज़दीक से
दूर तक फैल जाती है बंजर धरती के सीने पे

गाँव के आसमान में थाली जित्ता चाँद चढ़ा है
मगर गाँव सो गया है ले अँधेरे का कफ़न
जड़ों वाले बूढ़े बट वृक्ष की फैली पीले पत्तों वाली
टहनियों के नीचे 'मिर्ज़ा' सुनने आई चाँदनी
बुझे अलाव देख कर लौट गई है
रेत के टीलों में भटक रही है
उदराई फ़सलों को दिलासे देती हुई

युद्ध ने सुला दी है चलते रहटों की रीं रीं
और 'कुत्तों' की टक-टक
किसी खेत मज़दूर के हुक्के से बँधा चिमटा खटखटाता है
या साँप की जीभ जैसी सरहद से आग बरसती है
हवा में दो बोल उदासी तिरती है।

पंजाबी से अनुवाद : **कवि द्वारा**

नारायणजी

पृथ्वी ऊँची होती जा रही है

मैं
कुआँ खोद रहा हूँ
खेत में
पृथ्वी से माटी कर रहा हूँ बाहर
पृथ्वी पर

मौसम की इस भयानक घड़ी में
ठग रहे हैं आकाश में उमड़ते बादल
आकाश को विश्वास दिला रहा हूँ
आज भी बादल बसते हैं मेरे हाथों में

पता नहीं
कब चली गई बारह बजे वाली ट्रेन
गुमटी पर खड़ी बस
उस सड़क पर
कुछ वर्षों से चलने लगी हैं बसें
और सब कुछ से अजान
मैं माटी कोड़ रहा हूँ

पृथ्वी के ज्वर में
कलप रही है गाछों की हरियाली
हरियाली मेरी भूख में अटक गई है
मेरे सपने में
उमकने लगी है उत्सर्गित जल-धारा
कुआँ खोदते

अवकाश नहीं है किसी को जानने का
कोई क्यों पृथ्वी पर लाता है नदी
डूबती नहीं है नाव जिस में
पाँख फैला कर नहाती है एक चिड़िया ज़रूर
और किसी के भरोस से निभरोस
अकेले ही, मैं कुआँ खोद रहा हूँ

मेरे चारों ओर ऊँची होती जा रही है पृथ्वी
पृथ्वी मेरे पैरों में समाती जा रही है
स्वयं मैं समाता जा रहा हूँ पृथ्वी में

कच्छप की पीठ तक मैं जाऊँगा
अपनी हथेली पर उठाऊँगा पृथ्वी
पृथ्वी को ऊँचा करूँगा

फ़िलहाल
छोटी होती जा रही है मेरी ऊँचाई

ऊँचाई मेरी छोटी होती जा रही है
पृथ्वी ऊँची होंती जा रही है

मैथिली से अनुवाद : **कवि द्वारा**

नासिर अहमद सिकंदर

इस वक़्त मेरा कहा मानो

अमरूद की एक फाँक
नमक के साथ चुभलाओ
स्वाद जानो

बच्चे से कभी
उस की गेंद माँगो
खेलो, बचपन जानो

अपने को कभी
पेड़ बना लो
हाथों को डालियाँ

मुँह को
चिड़िया की चोंच समझो कभी
पेड़ और चिड़िया का रिश्ता जानो

घुमक्कड़ सैलानी बन
दुनिया मत देखो
दुख-दर्द जानो

इस वक़्त
हाँ इस वक़्त मेरा कहा मानो।

अजय प्रकाश

कविता

मैं बताऊँगा
आख़िर बहती कहाँ है
कविता
कविता की नब्ज़ पकड़ कर
बताऊँगा
कविता बीच में
कैसे मर गई
यह भी बताऊँगा कि मरी या
घोषित कर दी गई थी
अगले युद्ध की तरह
स्थगित कर दी गई थी कविता
डॉक्टरों की सलाह से
बदहज़मी होने लगी जब
किस तरह से मज़ाक़ हुआ
किस तरह से उड़ाया गया
कविता को
नसैनी और सुरती की
फट्ट-फट्ट से
यह बताऊँगा
किस तरह फेंका गया
किस कोने में, अँतरे में

कराहती रही कविता
यह धमनियों को चीर कर
बताऊँगा
आख़िर इतने दिनों तक
कहाँ बहती रही कविता
यह सब आख़िर इस सदी में
किस तरह से हुआ
किसी एक दिन बताऊँगा मैं
अभी तो विचार
कर रहा हूँ
इतिहास के मरोड़ने से
आदमी की गर्दन मरोड़ने तक
की कहानी पर
हवाओं के सिवाय
यहाँ कुछ और भी बहता है
यह सब आख़िर आकाश की लंबी
नाक के नीचे किस तरह से हुआ
क्या अब भी धरती
जमुहाई ले रही है
यह जान लेने के बाद ही
सब कुछ बताऊँगा

विवेक निराला

शब्द

शब्द
बरसात में भीगते हैं
और नम हो जाते हैं

शब्द
धूप सेंकते हैं
और खिल उठते हैं

हवा के साथ
दूर-दूर तक जाते हैं शब्द
वे शीतल हो जाते हैं
और सुगंधित भी

शब्द
फूलों पर बैठते हैं
और तितलियों के पंखों
की तरह
रंगीन हो जाते हैं

बच्चों के साथ
खेलते हैं शब्द
वे मासूम हो जाते हैं
कि तोतले हो जाते हैं शब्द

शब्द
जब कुपित होते हैं
तो भयंकर हो जाते हैं
किसी चट्टान से
टकरा कर लौटने वाली लहरों की तरह

कि कितने अच्छे होते हैं शब्द
कि कुछ-कुछ
आदमी जैसे ही तो होते हैं शब्द

हरिओम राजोरिया

सुरसुरी

उस अगम जंगल से
बच कर निकल आया हूँ
पर एक दरख़्त की जड़ें
फैली हैं मेरे भीतर
इस भूतल से
लुप्त हो गईं शायद?
मेरी जानी-पहचानी आवाज़ें

मैं अपने पायदान से
नीचे गिरा पड़ा हूँ
पीली पड़ गईं
मेरी बीमार आँखें
मेरे स्वप्निल पहाड़ पर
कालिमा छा गई

झूठ के पल्ले में पड़ा
कहाँ मुँह छुपाऊँ?
वह चुपके-से आती है मेरे पास
और माँगती है
मेरे अबोध पापों का हिसाब

भूल गया प्यार की भाषा
एक गढ़े हुए सच पर
लगा दिया मैं ने अँगूठा
शब्द-ब्रह्म की
जड़ी हुई तस्वीर के नीचे
झुकाना पड़ा सिर

रंग भरे नक़्शे में मुझे
नहीं मिल रहे अपने रंग
पाँव थक गए हैं
पर विश्राम के लिए
नहीं दीख पड़ती छाया

पर अभी भी
सुरसुरी-सी है कानों में
कोई कह रहा है जैसे—
'देखो मैं आ गई हूँ'

अंशु मालवीय

यह बच्चा किस पर गया है

किस से मिलती है शकल
यह बच्चा किस पर गया है

यह बच्चा
आसमान पर गया है
मुस्कराता है
तारों की तरह
चमक पड़ती हैं आँखें

यह बच्चा
पूरब पर गया
कैसा दिप-दिप करता है माथा
सूरज

यह बच्चा
चाँद पर गया है
हँसता है
दँतुलियों से टपक पड़ती है चाँदनी

यह बच्चा
नदी पर गया है
लहरों-सा उछलता है कभी
कभी सोचता रहता है
देर तक

यह बच्चा
पेड़ पर गया है
ताकता है चिड़ियों की ओर
निमंत्रण-भरी आँख से

कैसा है यह बच्चा

इस की आँखें रूसियों जैसी हैं
यह कज़ाखों की तरह चोग़ा पहने है

इस के बाल

गोल
भूरे
घुँघराले हैं
जर्मनों जैसे

इस का रंग
चीनी गेहुँआ है

इस की नाक
हिन्दुस्तानी है

क्या कभी सोचा जा सकता है
कि इस के यूरोपीय हाथ
इस के बाङ्लादेशी पैरों का शोषण करेंगे

ऐसा हो सकता है कभी
कि इस की अमेरिकी हथेली
इस की अफ्रीकी छाती पर मूँग दले

इसे बाँटोगे
धरती टुकड़े-टुकड़े हो जाएगी

बहुत खूबसूरत है यह बच्चा
हमारे भविष्य पर गया है

गोविन्द द्विवेदी

आलेख

एक आलेख स्वतः
लिखता है अपने को
नापसंद करता अनुच्छेदों में विभाजित होना
इसीलिए चुनता है वह समास
यहाँ से वहाँ तक सूत्रता
सारे पद और वाक्य एक इकाई में
गढ़ते हुए रेखाएँ
कभी हल्की कभी गाढ़ी
कभी इतनी मद्धिम
कि ओझल लगती रेखाएँ
वाक्य के असमाप्य छोर पर निर्मित शून्य में
सुनतीं महीन ध्वनियाँ उस आलेख की
जो लिखता है स्वयं को
और पसंद नहीं करता अनुच्छेद

रमेश थानवी

बर्फ़

कितनी सर्द थी बर्फ़
कि बस जमी थी ज़मीं पर
बर्फ़ ही बर्फ़

ढके थे
पेड़, पर्वत, घर-बार,
पर भीतर से गरमाए थे
चिमनियाँ कहवाघर 'पब'-'बार'।

हँसा था मैं
बर्फ़ के दर्प पर
कि अपनी ही ठंडक से
ठिठुर गई थी बर्फ़
धरा के इस छोर से उस छोर तक
पसर यूँ गई थी बर्फ़।

रवीन्द्र भारती

दरवाज़ा

पृथ्वी के बाहर खोजती हुई पृथ्वी
नदी के बाहर खोजती हुई नदी
समुद्र के बाहर समुद्र
एक औरत पार कर रही है सड़क।

वह सड़क पार कर रही है
लोग चिल्ला रहे हैं—
कहते हुए पगलिया-पगलिया।
पगलिया
रोज़ जन रही है नए-नए क़िस्से
लोग लेते हुए मज़े
करते हैं बखान

पगलिया ऐसी, कि पगलिया वैसी
पगलिया बस पगलिया. . .

पगलिया इस पृथ्वी से
दूसरी पृथ्वी के लिए ढो रही है
अच्छी-अच्छी रातें
अच्छे-अच्छे दिन
अच्छे-अच्छे लोग।

वह जब इन दिनों है इतनी व्यस्त
कि उस के पीछे पड़ गए हैं अच्छे लोग
बिना यह जाने कि
वह जहाँ खड़ी है यहीं दोनों पृथ्वी के बीच
लगता है दरवाज़ा!

विजय कुमार

ओह ये कमबख़्त लड़कियाँ!

नब्बे लाख की भीड़ में
कुछ लड़कियाँ
लोकल ट्रेन के पायदान पर
एक हैंडल के सहारे लटक रही हैं

छूट रहे प्लेटफ़ॉर्म पर
कुछ लोग मूँगफली खाते हुए
खाते हैं उन पर तरस
एक छोकरे ने सीटी बजाई
आँख मिलते ही किया अश्लील इशारा
एक अधेड़ को
उड़ते दुपट्टे देख कर
एक पुरानी फ़िल्म का गाना याद आया
एक भलामानस
महिलाओं की पत्रिका के लिए कल लिखेगा फ़ीचर—
एक अभूतपूर्व लंबा शीर्षक होगा इस लेख का
'परिस्थितियाँ छीन रही हैं
स्त्रियों से कुछ उन के परंपरागत गुण'

ये लड़कियाँ
किसी भी क्षण गिर सकती हैं चलती ट्रेन से
लेकिन उन के चेहरे पर रह-रह कर आते केश
तब तक उन्हें रूमानी बनाए रखेंगे
हवाओं के बावजूद हैं
उन के चेहरों पर पसीने की
भली-सी लगती बूँदें
ओह! गिरेंगी ये लड़कियाँ चीखते हुए अचानक
उन के बटुओं, रूमाल, टिफ़िन-बॉक्स
चश्मों और
सर्क्युलेटिंग लायब्रेरी से लिए उपन्यासों पर
खून की लकीरें फैल जाएँगी
एक फ़िल्मी दृश्य की तरह

उन के क्षत-विक्षत चेहरों पर
झुके कुछ लोग दर्द में डूब जाएँगे—
और ये कमबख़्त लड़कियाँ
क्या आ नहीं सकती थीं
अगली ट्रेन से?

हेमंत शेष

रात

यह कोई दूसरा नक्षत्र ही है
बहुत सारे प्रयोजनों के लिए।
प्रकाश में हम जिस दुनिया से परिचित थे
यह तो पश्चिम के सूर्यास्त पर ही बुझ गई।

तुम्हारे भीतर इच्छाओं ने अपनी नींद तोड़ी
और अनजाने रंग झिलमिलाने लगे।

रात भी इस बात को समझती है कि हर बार उस के
काले जादू में पृथ्वी का सिर्फ़ आधा हिस्सा ही
डूबता है, पर यह कोई उल्लेखनीय सूचना नहीं।
तर्क और विवेक के विद्रोह के बावजूद मैं इसे
शब्द में समझना चाहूँगा।

कैसे चढ़ता है जूड़ी बुखार और तारीख़ की काया
बदल कर राख हो जाती है।

आँख खुलने पर भी लगता रहता है कोई सिरहाने खड़ा है।
क्या वे पेड़ हैं—पेड़?—
जो बादलों की तरह शक्लें बदल रहे हैं
रेडियम के सहारे शायद कोई बिल्ली मुँडेर पर
चल रही है।
हर आहट को सुन रही है सड़क।
गली में शराब पी कर
लौट रहे आदमी के पदचिह्न छप गए हैं।
बच्चे अपने प्रारंभिक सपनों में
सिर्फ़ रोशनी घास और मैदान देखते हैं।
टपक रहा है खंभों से पीला जलरंग
नींद जाग रही है
ध्वनियाँ खुद को सुन रही हैं
स्पर्श अपने आप को छू रहे हैं
पानी को प्यास लग रही है
भोंकते हुए कुत्तों का रुदन चंद्रमा से आ रहा है
बिस्तरों के गुरुत्वाकर्षण ने
थकी हुई स्त्रियों को खींच लिया है।

कुछ ही घंटों में कितना बदल जाता है चिन्ताओं का केन्द्र
सिर्फ़ जानते हैं तकिए
रात की सैर को रात के समुद्र की तरफ़ जाते हुए
आज तक मैं रात को कभी नहीं समझ पाया
और सचमुच इस बात का मुझे कोई मलाल नहीं
इस रात भी. . . .

लाल्टू

भाषा : एक

बहुत पहले एक शुभाकांक्षी ने कहा यह नाम ठीक नहीं
उस की तनाव-भरी आँखों में चिन्ता थी हँसा था मैं

एक बड़े कवि ने कहा जब देखा मैं ने नाम सोचा
इब्बार रब्बी की तरह कोई खेल है

नाम के साथ भाषा जुड़ी होती है
जैसे होती दाढ़ी के साथ

यह सब हम खुद नहीं जानते
लोग आ-आ कर बतलाते हैं हमें

एक दिन खुद ही सोचने लगते हैं हम
अपने किस नाम की भाषा हिन्दू है और किस की सिख

दस साल हुए वाक़ई डरता हूँ अपने नाम से
कैसे गाया था उस ने ईश्वर अल्लाह तेरो नाम!

भाषा : दो

एक आंदोलन छेड़ो
पापा ममी को
बाबू माँ बना दो

यह छेड़ो आंदोलन
गोलगप्पे की अंग्रेज़ी कोई न पूछे
कोई न कहे हुतात्मा चौक फ़्लोरा फ़ाउंटेन को
परखनली शिशु को टैस्ट-ट्यूब बेंबी बना दो

कहो
नहीं पढ़ेंगे अनुदैर्घ्य या उत्क्रमणीय
विज्ञान घर-घर में बसा दो
शब्दों को तभी छुओ जब वे उलट सकें बाज़ीगरों से
जब नाचता हो कुछ उन में लंबाई के पीछे-पीछे
परी-भाषा बन कर आओ परिभाषा को कहला दो

यह छेड़ो आंदोलन
कि भाषा पंख पसार उड़ चले
शब्दों को बहुत बड़ा आस्मां सजा दो।

श्रीगोपाल जैन

सृजना छंद

हिम गुफ़ा के शीत एकांत में
बैठा हूँ मैं मनु-सा
चिन्ता में डूबा
दूर सुदूर के क्षितिजों से टकराती आँखें
घूम जाती है मन में विज्ञान और
युग संत्रास की भाषा
समझता हूँ मैं अब इन के संकेतों के अर्थ
करता अणु आयुधों की मैं गणना
युद्धोन्मत्त आँखों के पढ़ता मनोभाव
हो जाएगी यह पृथ्वी प्रलयाक्रांत
इन से
कई बार
जीवन रक्षा का भाव जागता मन में
अस्मिता और भविष्य की सोचता बात
क्यों नहीं खुलती है प्रज्ञा की आँख
कर चुका हूँ मैं तो युद्ध संस्कृति का प्रतिकार
मेरी भाषा में तो बोलते हैं सृजना के शब्द
स्वर्णिम भविष्य के देखता मैं स्वप्न
अणु आयुध तो सरजेंगे ही महाविनाश
इसीलिए इन के प्रतिरोध में
उद्घोषित मेरे शब्द
अणु अस्त्रों ने ही दिया है
मुझे
हिम गुफा का बिम्ब
चाहता मैं तो युद्ध मुक्त
भविष्य के
सृजना छंद

मरुधर मृदुल

जन्म दिन

हर वर्ष
आता है जन्म दिन
हर बार उसे जीता हूँ पुनः पुनः
और हर बार जीता है वह
मुझे शनैः शनैः।
इस बेतहाशा दौड़ में
अपने होने का एहसास
होता है दो पल
और उस के बाद का कल
शुरू करता है
अपने आप को दोहराना
जैसे गीत की टेक के बाद अंतरा
'टेक' व 'री-टेक'
सतही रूप से अनेक।
आँकड़ों का उत्कर्ष
पर उम्र की ढलान पर
फिसलता है
हर वर्ष।

न तो मैं ने चुना इसे,
इस ने भी कहाँ चुना मुझे!
मैं उस दिन हुआ था
या यह इस दिन हुआ था
जब मैं ने छुई थी धरती
छुआ था आकाश
छुई थी एक ममता भरी गोद
एक मुट्ठी तनी थी
और सारी सृष्टि ने
मेरे होने की चीख सुनी थी।
जिस की कोख हरी हुई थी

उस ने प्यार से देखा
और उठाया था मुझे
और थमा दी थी
जन्म दिन की अँगुली
उसे पकड़ कर चलता भी रहा
समय को गिनता भी रहा।

हर वर्ष
जन्म दिन की अँगुली
करती रही एक संकेत
अभिप्रेत
के पड़ाव की तरफ़।
जन्म दिन एक हरफ़
जो समेटता है
एक बीते हुए का कलेवर
बीत जाने का एहसास
संधि-स्थल के पास छोड़ कर
हो जाता है गुपचुप
पूरे वर्ष के लिए।
जन्म दिन एक निरास
जो चला गया उस के लिए,
एक आस
जो जगी आने के लिए।
जन्म दिन एक आँसू
उस के लिए जो बीत गया
एक वर्ष उस के लिए
जो जीत गया।
जन्म दिन एक श्रद्धांजलि
बीते हुए कल को
अभ्यर्थना की अंजुरी
आने वाले कल को।

जन्म दिन
होने
न होने का एहसास
एक साथ।
जन्म दिन
एक हाथ
जो गए को करता
आने के साथ।
पुनः होने का परिदृश्य
जीने के पहले दिन का स्पर्श।

अजीत चौधरी

जागरण हो अर्थवान

जागना हो अर्थवान
करूँ आह्वान शब्दों का
थिर हो गई झील से
सो गए पेड़ से
और मैदान पर झुक आए तारे से
फिर करूँ आह्वान शब्दों का
करूँ उच्चारण, वशीकरण मारण चौथे पहर
जागरण हो सफल
इस सन्नाटे से बनाऊँ एकरंग
और लिखूँ इबारत
अंधकार की छाती पर
जागरण हो, अर्थवान!

आँखें जगह लेती हैं

तसवीरें पार करती
आती है उस की स्मृति
अब, धूप है उस की स्मृति
वसंत के अनेक लिबासों के नीचे
दबा है उस का स्पर्श

वहीं कहीं एक टूटा तारा
जुगनू की तरह
दिपदिपा रहा है
रात मेरे विषाद का बिछौना है
जहाँ से आसमान मुझ पर खुलता है
और आँखें
टूटे तारों की जगह लेती हैं।

जहाँ रुकती नहीं रेलगाड़ियाँ

जहाँ रुकती नहीं
हाँफती फुँफकारती रेलगाड़ियाँ
वहाँ के लोग व्यतीत मान लिए गए हैं
गोल चक्कर काटते पेड़ों से भी अर्थहीन
जहाँ चिड़चिड़ा 'स्टेशन मास्टर'
एक औपचारिकता रह गया है
कि जिस पर तरस खा कर
स्टेशन के नीम, पीपल और आम
झंडियाँ हिलाते रहते हैं
मुसाफ़िरख़ाने की विशाल आराम कुर्सियाँ
किस की प्रतीक्षा में
रोज़-रोज़ पोंछी जाती हैं
स्टेशन-मास्टर
क़स्बे में लगी
महापुरुष की अनुपात-हीन
विद्रूप मूर्ति में बदल गया है।

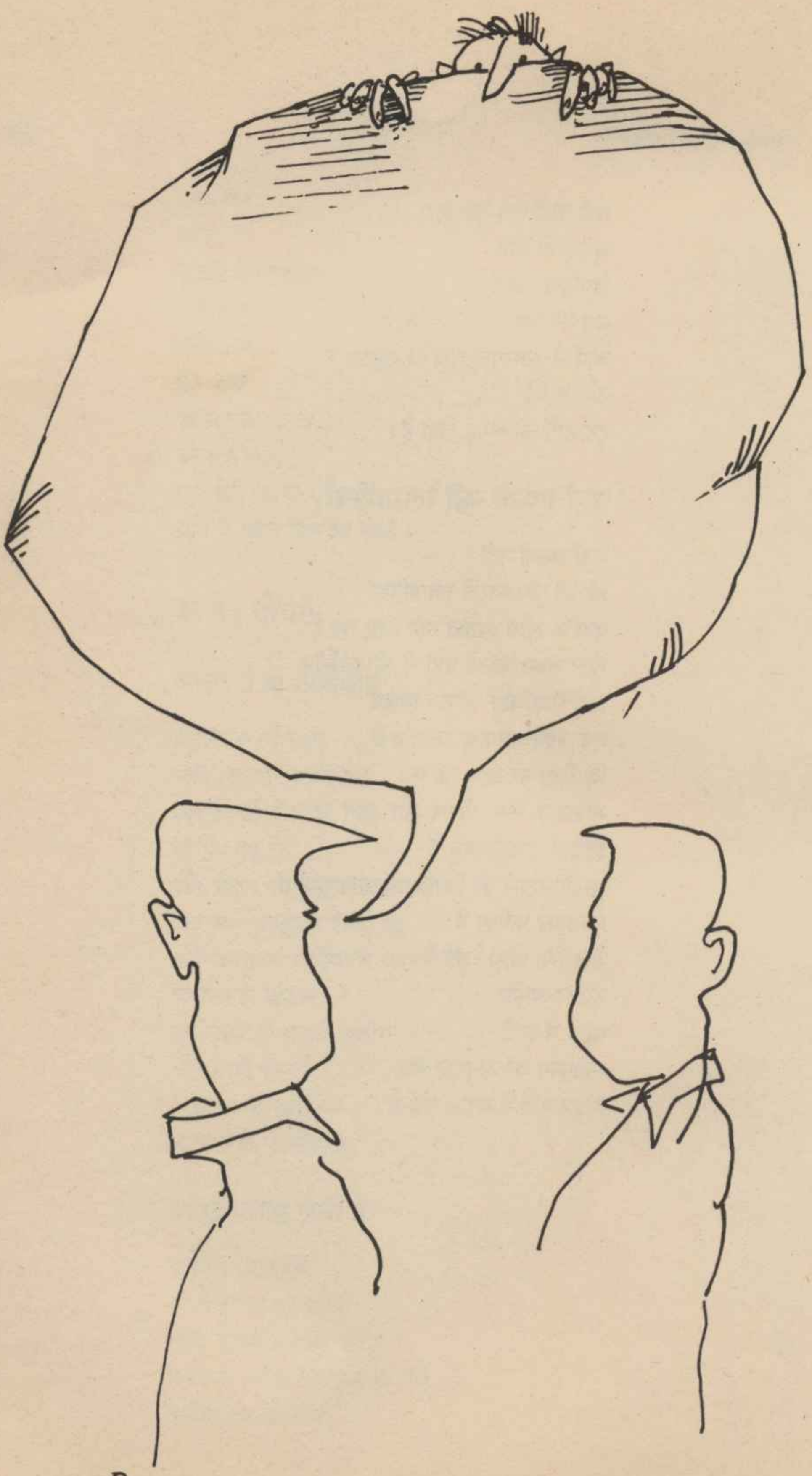

कृष्णा सोबती से रणवीर रांग्रा की बातचीत

सर्वोपरि है लेखकीय ईमानदारी

'दोस्तो, हर लेखक अपने लिए लेखक है। अपने किए लेखक है। वह अपने चाहने से लेखक है। अगर वह संघर्ष में जूझता है, परिस्थितियों से टक्कर लेता है तो एहसान किसी दूसरे पर नहीं, सिर्फ़ उस की अपनी क़लम पर है। कोई भी अच्छी क़लम मूल्यों के लिए लिखती है, मूल्यों के दावेदारों के लिए नहीं। अगर ऐसा नहीं तो लेखक और कलाकार शामियानों और विज्ञान-भवनों की शोभा बन कर रह जाएँगे।' लेखक के निजी दायित्व का यह तीखा अहसास है बेलाग और बेबाक कथाकार कृष्णा सोबती को जिन की रचनाएँ साहित्य और समाज में घटना की तरह प्रकट होती हैं। उन की कथाकृतियाँ *डार से बिछुड़ी* और *बादलों के घेरे* हिन्दी-साहित्य की उसी प्रकार बड़ी घटनाएँ बनीं, जिस प्रकार तीन साल पहले *ऐ लड़की* और अब *दिलो-दानिश* जो मन और मस्तिष्क को झँझोड़ कर रख देती है।

पिछले चार दशकों में *मित्रो मरजानी, यारों के यार, सूरजमुखी अँधेरे के, ज़िन्दगीनामा* और *हम हशमत* ने जो रचनात्मक उद्वेलन, आलोचनात्मक उकसाहट और सामाजिक-नैतिक बहसें छेड़ी हैं, उन की अनुगूँज अभी समाप्त नहीं हुई। कृष्णा सोबती की इन कृतियों में सामाजिक और नैतिक विधि-निषेधों, बंधनों-सीमाओं के उन के धुर अंत तक अन्वेषण की जो आतुरता है, वह सतही स्त्री-चेतनावादियों और लकीर के फ़कीरों को समान रूप से हतप्रभ कर देती है। उन की मित्रो जब नारी-देह की जैविक माँग की मुखर अभिव्यक्ति ले कर आई तो जहाँ रूढ़िवादी तिलमिला उठे, वहाँ नारी-चेतना के किताबी ज्ञानी भी चकित रह गए।

कृष्णा सोबती की मान्यता है कि 'किसी भी रचना की प्रामाणिकता केवल लेखक की जीवन-दृष्टि से ही जुड़ी-बँधी नहीं होती। उस की रचनात्मक उड़ान का सामर्थ्य पात्रों की मांस-मज्जा, मिज़ाज, स्वभाव और हड्डी की मज़बूती में भी छिपा रहता है।' उन की सभी रचनाएँ उन के इस मत की गवाही देती हैं। अपने असंख्य पात्रों को सहज और विश्वसनीय भाषा देते हुए वे उन्हीं की बोली-बानी में ऐसे आयाम दे देती हैं जो गहरी रागात्मक संवेदना के बिना संभव न हो पाता। यथार्थ को गति, स्पंदन और उड़ान दे कर अतियथार्थ की रहस्यभरी सीमाएँ पार करने-कराने में सोबती का भाषा-सामर्थ्य बेजोड़ है।

उन का कृतित्व श्रव्य और दृश्य के भेद को पाटता-सा दीखता है। *मित्रो मरजानी* की 67 नाट्य-प्रस्तुतियाँ, *डार से बिछुड़ी* का नाट्य मंचन और *सिक्का बदल गया* का फिल्मांकन रंगकर्मियों के लिए चुनौती के साथ-साथ

रचनात्मक प्रेरणा का स्रोत भी रहा है। पुरस्कार और सम्मान भी सोबती को ख़ूब मिले हैं, पर इस से उन की सहजता भंग नहीं हुई। सन् 1980 में *ज़िन्दगीनामा* उपन्यास पर उन्हें साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला। इस के अलावा वे शिरोमणि पुरस्कार तथा साहित्य कला परिषद् एवं दिल्ली अकादमी पुरस्कारों से भी सम्मानित हो चुकी हैं।

सोबतीजी से बातचीत का अपना ही आनंद है, विशेषकर उन के अपने कृतित्व पर। यह रही उन से हाल ही में हुई एक भेंटवार्ता :

रणवीर रांग्रा : आप का लेखन कविता से शुरू हुआ, पर ख्याति आप को कथा-रचना से मिली और शायद सृजन-संतुष्टि भी। क्या कविता आप की अभिव्यक्ति के लिए कमज़ोर पड़ रही थी, जो आप ने उसे छोड़ कथा को अपना माध्यम बना लिया?

कृष्णा सोबती : किसी भी जन्मजात कवि को कविता के लिए जो एक सघन ऐन्द्रिक संसार सँजोना और चरितार्थ करना होता है, उसे ले कर मेरे स्वभाव में सीमाएँ और विवशताएँ आड़ी-तिरछी फैल रही थीं। विस्मयकारी कुछ है तो इतना ही कि इसे पहचानने की समझ मुझ में थी।

कविता में अंतर्निहित जो 'इंटेन्सिटी' कवि की उड़ान की पहली शर्त है उसे तीव्र मार्मिक रूप से अर्जित कर सकना मेरे ठंडे सपाट मिज़ाज में मौजूद नहीं रहा। व्यक्तित्व का निजीपन जो गहरे तक अंतरंग में पसरा रहा, उस में से कविता की दोहरी अंतरंगता को झेल पाना मेरे निकट लगभग मुश्किल ही रहा। इसलिए इस का छोटा-सा मौसम अनजाने ही गुज़र भी गया। कुछ बचा तो इतना ही कि गाहे-बगाहे कविता की कुछ अच्छी पंक्तियाँ आसपास मँडराती रहीं। कविता की एक पंक्ति जो आप के समूचे को एक क्षण बना दे, ज़रूरी नहीं कि वह स्वयं आपने ही लिखी हो। जो आप को अपने लिए उद्घाटित करे या अपने से जोड़ दे, वह कविता किसी की भी हो सकती है और नितांत सगेपन से अपने संवेदन-विशेष अंतस को छू सकती है।

किसी भी संवेदनशील कवि की बिम्ब-व्यवस्था मुझ जैसे गद्य-लेखक को, जिस की ज़मीन ही उस का आकाश हो, रास आनी मुश्किल ही थी। एक पंक्ति, शब्दों का गुच्छा, अनुभूति का टुकड़ा, इन सब की सघन संभावना बहुत-सी पहले ही समाप्त हो गई। इस का दुख गद्य-लेखक को कुछ तो है, पर ज़्यादा नहीं। कवि और कविता का अंकुरण मात्र प्रयत्नों से नहीं हो सकता, यह बात तो निश्चित रूप से मानी ही जा सकती है। गद्य की स्पष्टता, उस के वैचारिक और सामाजिक खरेपन ने मुझे लगातार अपनी ओर खींचा है और मेरे रचनाकार के अंतःकरण को अपनी कशिश से उकेरा भी है।

भाषा के तेवर समझने-बूझने और शब्दों के अर्थों के सृजनात्मक सत्य, उन का ताप, सौष्ठव, उदारता, उत्तेजना, ये सब प्रेरित करते हैं मानसिक सघनता और दीप्ति को जो मानवीय अभिव्यक्ति की मूल्यवान धरोहर है। जितनी औकात लेखक की होगी, प्रतिभा के अंश भी उसी अनुपात से उस के हिस्से में आते हैं। इसी से जुड़ी-बँधी है लेखक की संवेदनशीलता, वैचारिक भूमि और उस की दृष्टि की अथाह निर्ममता, जिस के सम्मुख कोई भी अतिरेक बेमानी हो जाता है।

एक-से मुखड़े और तेवर वाली भाषा में सोचना और लिखना मुझे उबाऊ लगता है। लेखक होने के नाते भाषा के रचनात्मक केन्द्र में होने के बावजूद उसे ही अपना अतिक्रमण भी करना होता है। अपने को परे सरका कर पात्रों के अनुरूप भाषा और मुहावरे को ढालना मात्र प्रयोग नहीं, लेखक की सामर्थ्य का एहसास भी देता है। किसी भी रचनाकार में ऐसा कर सकने की सामर्थ्य लेखक और पाठक दोनों के लिए सृजनात्मक संवेदन का विस्तार करती है। लेखकीय आत्मविश्लेषण और आत्मान्वेषण इसी प्रक्रिया में छन कर निपुणता का रूप धारण करता है।

रांग्रा : अपनी कथाकृतियों के पात्रों की रचना-प्रक्रिया के दौरान कई बार आप को आभास मिलता होगा कि आप सत्य के निकट से निकटतर पहुँच रही हैं। इस दृष्टि से कृपया मित्रो या रत्ती के सृजन के विषय में अपनी मनोभूमि के बारे में कुछ बताएँ।

सोबती : अपनी संश्लिष्ट सृजन-प्रक्रिया के दरमियान मैं बाहर से अंदर और अंदर से बाहर आती-जाती आहटों और खराहटों को सुनती और चुनती रहती हूँ। किसी भी अंतर्द्वन्द्व और अंतर्विरोध को पहचानने के लिए स्थितियों के बुनियादी भूगोल और इतिहास मापने-जाँचने ज़रूरी होते हैं। मात्र मनचाही कल्पना की उड़ान से आप उन्हें ज़िन्दा नहीं कर सकते। किसी भी समय को अंकित करने के लिए मात्र कल्पना ही काफ़ी नहीं होती और न वैचारिक अनुमान ही। अपनी बात करूँ तो ऐसा कुछ नहीं लिख पाई जो मात्र कल्पना के आधार पर, बल पर, बुना-सजा हो, जो किसी स्वप्निल संसार से उभरा हो और जीवन के यथार्थ से दूर हो।

किसी भी विशिष्ट रचना के लिए लेखक की जीवन-दृष्टि महत्त्वपूर्ण है। विशेष महत्त्वपूर्ण हो उठता है यह तथ्य भी कि क्या आप अपनी आँख से चीज़ों को देखने-परखने के आदी हैं या अपने से हट कर भी उन की पहचान करते हैं। क्या अपने पर ही लागू संबंधों के ठप्पों से आप अपने बाहर भी देखने और तलाशने के आदी हैं? लेखक होने के नाते क्या जीवन और साहित्य की समग्रता को मात्र स्थितियों से मापते हैं? क्या आप अपनी जिज्ञासाओं को ही मानव-मन की गहराइयाँ समझ कर उन्हें लिखने लगते हैं? लेखक की दौड़ निश्चय ही इन सीमाओं से परे जानी चाहिए। कथन की संप्रेषणीयता ही उस का एक मात्र औचित्य नहीं। मानव-मन किसी भी मोड़ पर, किसी भी क्षणांश में अचंभित हो सकता है, विस्मित कर सकता है।

सपाट, स्थूल अथवा बेहद उलझी स्थितियों-घटनाओं के आर-पार कई उतार-चढ़ाव आते-जाते हैं। इन सब की सतह तले कुछ ऐसा भी बिछा-ठिठका रहता है, जो अपने होने में बहुत कुछ समेटे-सँजोए रहता है, जिसे सिर्फ़ आँख नहीं देखती; डुबकी मार कर गोताख़ोर की तरह गहराई में जा कर आप को कुछ मूल्यवान समेटना होता है, जिसे सत्य कहा जाता है, समझा जाता है। सत्य की प्रतीति सिर्फ़ चातुर्य में नहीं है। विवेकपूर्ण लेखक निज के ज्ञान-अनुभव से अलग एक गर्भगृह समाहूत करता है और रचना से जुड़ी कलात्मक समग्रता को उस की आभ्यंतरिकता में प्रस्तुत करता है। मेरा सत्य ही सब का सत्य है, यह दुराग्रह लेखक को उस प्रतीति से दूर ले जाता, जिस का नाम अंततः सत्य ही है।

देखा जाए तो सत्य हमारी रचना के पात्र-पात्र में सुरक्षित व्यक्ति-नाम और संज्ञा ही नहीं होते, उन के मुखौटे भी होते हैं, जिन्हें अपना अधिकार समझ कर उन्हें ओढ़े भी रहते हैं। इन के बीच की दूरी और नज़दीकी ही वह संधि-स्थल है, जहाँ से लेखक को अपनी दौड़ का भान होता है। लेखक यदि अपने पर हावी है तो पात्र अपने आधे-अधूरे अस्तित्व से सँभलता-सरकता रहता है। आप पात्र की उपस्थिति से अपनी दूरी, अपने से उस की नज़दीकी पर अंकुश लगाते हैं तो आप अपने रचनाकार की मदद करते हैं। रचना की रचनात्मकता मात्र वृत्तांत नहीं। सतर्कता, बौद्धिक जागरूकता, अंतर्दृष्टि रचना के लिए एक बुनियादी माँग है। रचनाकार की मानसिकता का गुण-धर्म मिथ्या साक्ष्य को भी तथाकथित आरोपित सत्य में रूपांतरित करता है।

रांग्रा : मित्रो के उन्मेष के बारे में भी बताइए। आप के मानस में रूपाकार ग्रहण करते उसे काफ़ी समय लगा होगा।

सोबती : आपने मित्रो के बारे में पूछा है। मित्रो व्यक्ति की जिस छटपटाहट की प्रतीक है, वह यौन-उफ़ान ही नहीं, व्यक्ति की अस्मिता का भी अक्स है, जिसे नारी की पारिवारिक महिमा में भुला दिया जाता है। हाथ की मेहनत और देह से सुखदान, इतना-सा ही है उस का यशोगान। मित्रो को लिखने से पहले कुछ मालूम नहीं था कि

वह किस तसवीर का नैगेटिव था या उस नैगेटिव से कौन-सा चेहरा उभर आएगा। डंगर के पास सिर पर बोझा उठाए एक जीती-जागती काया हरियाली क्यारी-सी दीखी थी एक बार। आँखों में ललक, आँचल तले उभार। लहँगा-ओढ़नी में मढ़ा हुआ गेहुआँ गदराया बदन। हाड़-मांस की अनोखी देह रुपहले पानी में कसी हुई। आँखों में ललचाती आदिम दीठ। लौंग से इतराती छुटकी-सी नाक। झाड़ियों की सीध तनिक गर्दन घूमी। ठेकेदार को पास आते देखा तो उठा कर काँकरी मार दी—'इधर तो देखना मत, ठेकेदार जी, लहँगड़ू की माँद में अट गए तो गए काम से।' झेंप ने अधेड़ ठेकेदार का चेहरा लीप दिया। खिसियानी हँसी से उबर कर चुहल की—'आप ही भरमा रही है, कमज़ात। तेरी महामाया बींध दी तो सारा मर्म-धर्म धरा रह जाएगा, पगलाई फिरेगी।' ओढ़नी से संकेत छलकाती पथरीले पठार पर नुकीली बिजली चमक गई—'जाप कर, जाप कर इस शर्बती का, कच्ची-पक्की हौंस से तभी छुटकारा मिलेगा, ठेकेदार।'

लेखक अपने सफ़ेदपोश दिल-दिमाग़ के दंभ में मौन था। वाचालता पर कोई रोक नहीं। जो भी बोला जाएगा हवा में तैरता रहेगा। ठिठका रहेगा। पकड़ लिया जाएगा या दिल के पिछवाड़े गुम हो जाएगा। लेखक की असमंजस को परे ठेल शब्दों की कड़ी गाहे-बगाहे कान में फुसफुसाती रही—'तन बड़ा कि मन?' 'कहने को मन और पाने को तन', इसी अँगियारी नोक पर दुनिया स्थित है।. . .जिस देह से हरसिंगार झरते हैं, उसी द्वारा आत्मा की मूल निधि को उगाया जाता है। उस की वसूली की जाती है। देह में रूह की प्रतिष्ठा होती है तो क्या उस की अवहेलना बदगुमानी नहीं?. . .पुराने पठार को अपने स्पर्श से जगाती-लहराती मिश्रीबाई की चूनर रंगोली झुलाती रही।

एक शाम न जाने किस आगमजानी में लेखक ने ठेकेदार की धुयाँखी निगाह से परे उस लहर को पहचान लिया और उस साक्षात पर विराम लगाने की पेशकश में उस का पीछा-पिछौना देखने की हिमाकत कर डाली। दुविधा से हवा में पत्ते उड़ने लगे और अजन्मी रचना और रचनाकार के बीच लावारिस वक़्त पसर गया।. . .फिर, बरसों बाद, ठिठुरती सर्दी की रात। शहर की पुरानी ख़स्ता बस्ती में से गुज़रते हुए सहसा क़दम ठिठक गए। किसी के झीखने-कलपने की आवाज़ कानों पर ठुक गई, 'अम्मा, अपने बेटे को किसी वैद्य-हकीम के पास ले जा। यह लीला इस के बस की नहीं।' फिर, चटाक-चटाक और उस के बाद वही आवाज़—'मारो, मार कर गाड़ दो मुझे। इस संताप से तो छुट्टी हो।'

लेखक सहम कर सोचने लगा—क्या कोई पुरानी बात दोहराई जा रही है? इस संवाद को पहले भी सुना था कभी। कोई उलाहना, कोई लांछन—कहीं कोई परदा नहीं, जो कहा गया है उतना ही। दोष है तो किस का? काया के बिना कामना। जिस प्यास का यह मंत्र है, उस की तृष्णा से वितृष्णा कैसी?. . .अपने से दूसरे तक, दूसरे से अपने तक—एक ही आदिम लय के दो टुकड़े। दोहरे क्षण की सनसनाहट में दोनों संज्ञाओं के चेहरे सरसरा कर एक हो गए। इस दोहरी टक्कर की सामर्थ्य है क्या? दो अलग-अलग सतहों पर इंकार और स्वीकार। भला इस माँग की भी कितनी बिसात होगी? औक़ात कितनी होगी उस छलकती-धड़कती चाहत की जो पाप और पुण्य से बड़ी है और उन के दावों तक से बाहर है?

किसी भी तरह की रूमानी कल्पना को परे ठेल लेखक की नज़र एक सीधी-सादी गृहस्थी की चौखट पर अटक गई। पहले घर का रोशनदान दीखा, फिर पुराना छाता और प्रकट हो गए गुरुदास बिछौने पर लेटे हुए। चूल्हे के पास बैठी धनवंती और अंदर से झाँकती बहुओं की परछाइयाँ। जितनी आँख की तौफ़ीक है उतना ही तो देखा जाएगा, जितना गहरे पैठोगे उतना छुआ जाएगा।. . .घर-गृहस्थी के कपाट के पीछे से मित्रो झाँक गई, अपने चैतन्य से अपने आसपास को पढ़ती-हँसती, खेलती-तेरती, औरत होने के पुरानेपन को

खोलती-उघाड़ती, अपने में विवेक जगाती। . . .मंच बन उठता है एक परिवार का घर-आँगन—अपने में संपूर्ण संसार। पर कोई भी संसार अपने होने से ही, अपने होने में ही, कब संपूर्ण है! वे सब पाने-जुटाने की उस दहक-महक से जुड़े-बँधे हैं, जो हाड़-मांस के कपड़ों में धड़कते-फड़कते हैं।

रांग्रा : *मित्रो मरजानी* आप का क्लासिक उपन्यास है। अपनी लाख बेअदबियों के बावजूद मित्रो सब को मोह लेती है। वह हाड़-मांस की ऐसी नारी है, जो अपनी पारदर्शिता में बेहद जटिल है, अपनी सहृदयता में भी बेहद निर्दय है। वह किसी को छोड़ती नहीं, किसी को बख़्शती नहीं। हर किसी को उस की औक़ात दिखा देती है। औरों की चुनौतियों का सामना करते-करते वह स्वयं चुनौती बन जाती है सब के लिए। शायद इसीलिए उसे इंसाफ़ नहीं मिला—न अपनी माँ से और न अपनी 'जननी' यानी आप से। पहले तो उस के तन में बेपनाह प्यास भर दी और फिर सामाजिकता के फेर में पड़ कर उस की चाहत के सभी रास्ते रोक कर उसे घर की चारदीवारी में घुट-घुट कर मरने को मज़बूर कर दिया। आप की इस बेबाक कृति मित्रो की बेपनाह प्यास का आख़िर क्या होगा?

सोबती : किसी भी घर-गृहस्थी के आँगन से कहीं भी मित्रो की आदिम महक सूँघी जा सकती है। पर गुरुदास के परिवार की मँझली बहू ही लाड़ से मित्रो मरजानी कहलाने का अधिकार अर्जित कर सकी—लेखकीय चमत्कार से नहीं, बल्कि अपनी संज्ञा से, अपने अधिकार से। मित्रो अपने बूते पर ज़िन्दगी को घूरती है, मसख़री करती है, लड़ती है, टक्कर लेती है और सीनाजोरी भी करती है। . . .एक फुंकारती घड़ी में अपनी माँ की संज्ञा को अलगनी पर टँगते देख कपड़ों और काया में फ़र्क़ करती है और स्वयं ही अपने फरफराते कपड़ों को सहेज-समेट परले सिरे से अपने साथ आ लगती है—अपने को ढूँढ़ लेती है।

लिखते समय लेखक के निकट कुछ भी योजनाबद्ध नहीं था। पर्त-दर-पर्त कहानी खुद-ब-खुद उभरती-उघड़ती चली गई। तन-मन की लहर-लिप, प्यार-मनुहार, लड़ाई-झगड़े गृहस्थी की जुगलबंदी में गुँथते चले गए। यह संयुक्त परिवार की बंदिश थी। मित्रो में दहकती आदिम आग, छोटी-बड़ी और मँझली से ठुनकती बोली-ठोली। बुढ़ापे में भी परिवार को धारण किए गुरुदास और धनवंती, संग-संग बिताई उम्र के ताव-भाव में लीन, कुटुंब-परिवार की सींवनों को टाँकते चले जाने को विवश—एक परिवार, अपने में एक संसार। पर कोई भी परिवार अपने होने में ही संपूर्ण नहीं होता। उस की चौखट के अंदर उस की नींवों और शहतीरों में ज़लज़ले उठते रहते हैं। मित्रो के रूप में एक ज़लज़ला उठ ही आए तो स्वयं बन जाती है मित्रो मरजानी की कहानी।

यह मात्र लेखकीय कौशल और स्थितियों-परिस्थितियों से ही घटित नहीं होती। यह उभरती है विभिन्न सामाजिक मूल्यों के घर्षण से, आपसी खरखराहट से—घर-गृहस्थी की परिक्रमा के ऐन बीचोंबीच।

रचनात्मक स्तर पर कोई भी प्रामाणिकता केवल तथ्यात्मक जानकारी या शिल्प या उस की उड़ान की सामर्थ्य से ही नहीं होती, चरित्र की मांस-मज्जा, स्वभाव-संयम और उस की हड्डी की क़िस्म से भी जुड़ी होती है। उस के न होने पर कोई भी रचना अपने रचाव-संस्कार और सार-सँवार से अनोखी भले लगे, पर उस की सूक्ष्म-स्थूल काया में फुरना नहीं धड़कता, जान नहीं फड़कती है। मित्रो कल्पना की सृष्टि नहीं। इसी से मित्रो के प्राण में जितना खम था, उस की टक्कर में जितना दम था, उतने गहरे अंकुश लेखक पर भी लगते चले गए। मित्रो के रूप में किनारों को उलाँघती-तोड़ती बाढ़ को रोकने के लिए नहीं, उस के उन्मुक्त बहने के लिए ही लेखक ने अपनी भूमिका निभाई।

आदर्श या गुनाह का आग्रह मित्रो को असामाजिक बना देने को काफ़ी था। मित्रो के आगे कुलबुलाते

यौन-प्रसंग और दूरदराज़ की सुरक्षा को किसी भी मूल्य पर एक-दूसरे से बदला नहीं जा सकता, लेखक के लिए इत्ता जानना ज़रूरी था। . . .अपनी जन्मजात चंचलता, शब्दों में स्फुटित मोहकता और दैहिक ऊर्जा के साथ ही चुस्ती और सहज-सुलभ औक़ात के बल पर मित्रो ने लेखक के बिना पूछे ही परिवार की चौखट की ओर क़दम बढ़ा लिया। लेखक को यह न अटपटा लगा, न आश्चर्यजनक और न असंगत ही। एक ओर मित्रो की स्वस्थ-ताज़ा काया की प्यास स्वाभाविक है, दूसरी ओर उसी के चित्त-मन में पारिवारिक गूँथ की सजगता तेज़ हो उठती है। मित्रो ने अपने तईं, अपने प्रति निर्णायक निर्णय से इतना तो प्रमाणित कर दिया कि सोचने के स्तर पर उस के पास वह सहज बुद्धि भी है जो उस की बेअदबियों और शरारतों के साथ भी पाठकों को प्रिय है।

उस की चंचल जटिलता जिस सामाजिक सीमांत से उभरी है, उसी ने उस में एक-साथ नमक और मिश्री घोल दी है जो गुरुदास परिवार की अन्य बहू-बेटियों से अलग है।

याद रखना ज़रूरी होगा कि व्यक्त करना वृत्तांत नहीं है। वह अमूर्त और अव्यक्त को गढ़ना और उद्घाटित करना है। देखें तो दृश्य-जगत की रचना मन की भीतरी दुनिया में होती है। रचनाकार इतने गहरे में स्थित होता है कि सतह पर से लोप हो जाता है। लेखक के अंतर्मन के कोलाहल और सामाजिक शोर में फ़र्क़ करना होगा।

रांग्रा : आप के उपन्यास *सूरजमुखी अँधेरे के* की रत्ती कहीं मित्रो की ही 'एक्स्टेंशन' तो नहीं? यह बात अलग है कि इस बार उस के साथ बचपन से ही एक अपराध-भावना जुड़ गई है। रत्ती के लिए लोकलाज का अवरोध न सही, मनोग्रंथि के रूप में गहरा भीतरी अवरोध तो है ही—और फिर तन की प्यास और माँ बनने की लालसा भी उस की सीमातीत है।

सोबती : रत्ती और मित्रो लेखकीय मनोवैज्ञानिक कुंठाओं का परिणाम नहीं। ये पात्र स्वयं अपनी स्थितियों से जूझते-निपटते हैं। इन की यात्राओं के ऐन बीचोंबीच खड़े रहते हैं वे आक्रामक प्रतिद्वंद्वी हादसे जो अपने होने की क़ीमत उगाहने से गुरेज़ नहीं करते। ज़रूरी तौर पर लेखक वह नहीं जो उस के पात्र हैं और पात्र भी वह नहीं जो लेखक है। जो दृष्टि उन्हें चीह्न रही थी वह ज़रूर लेखक की है। यहीं महत्त्वपूर्ण हो उठती है लेखक की अंतर्दृष्टि। यह याद रखना ज़रूरी होगा कि लेखक अपनी रचनात्मक यात्रा में न सिर्फ़ जीने पर होता है, न मात्र पड़ताल पर। उसे न सिर्फ़ वैचारिक हस्तक्षेप माना जाना चाहिए और न अपने नैतिक मूल्यों का गुंथन ही।

रांग्रा : अपने क्षतविक्षत अतीत से मुक्ति पा लेने की रत्ती की छटपटाहट उस की जीवंतता को व्यक्त करती है। हार मान कर बैठ जाने वाली लड़की वह नहीं है। उस का दमघोंटू एकांत भी असली लगता है और उस से छुटकारे की चाह भी। पर मुक्ति का माध्यम दिवाकर और उस की परोपकारिता निश्चय ही कृत्रिम लगती है और आरोपित भी। रत्ती की इस मुक्ति-प्रक्रिया में वह प्रतिभागी की नहीं, मात्र निमित्त की भूमिका निभाता है। रत्ती-जैसी स्वाभिमानी लड़की को उस की यह भूमिका ग्राह्य कैसे हो गई?

सोबती : अपने घायल देह-धुँधलके से घिरी रत्ती अपने में होते हुए भी अपने से दूर रही। बलात्कार से उपजी तन-मन की व्याधियाँ उस के व्यक्तित्व को विवृत घटाटोप में ले जाने को काफ़ी होतीं, लेकिन रत्ती ने अपने अंदर के वीराने और बाहर की खोज को खोया नहीं, बल्कि चौकस रखा, यह बड़ी बात है। अंतर की सीध को अपने बाहर से साधे रखा, यह बड़ी बात है। अंतर की सीध को अपने बाहर से साधे रखना यह छोटी नहीं, बड़ी बात है। देहधर्म की सब से नाज़ुक और उलझी गुंजल को खंडित रोध्यता पर न्योछावर भी नहीं किया। पूर्ण रूप से निजवाचक हो जाने की स्थिति भी अपने पर लागू नहीं होने दी।

रत्ती का संघर्ष अपनी देह पर छिन्न-भिन्न उस लहर से है जो मन से तन तक और तन से मन तक तरंगित

होती है और व्यक्ति के अस्तित्व का संवेदनात्मक व्याकरण बन जाती है। रत्ती की स्थिति उच्छृंखलता में बदल सकती थी। रत्ती अपने स्वयं समर्थ अनुरागविहीन खिन्नता के भाव से, उलझाव से, मुक्त होने की निपट निरंतर चेष्टा करती है। बलात्कार जैसी घटना और उस की विद्रूप विसंगति उसे कौमार्य के जिस शिलालेखी ठंडी खिन्नता में जकड़ लेते हैं, वह किसी भी बच्ची को आतंक से घेर लेने की नियति प्रस्तुत करते हैं, किशोर और किशोरी दोनों को। कोई भी मनोवैज्ञानिक व्याधि तन-मन के बीच टुकड़ों की उलझाव-भरी बाँट का गणित लागू कर सकती थी, पर रत्ती ने अलगाव में अपने को अपने से विलग नहीं किया, यही उस की जुर्रत रही।

दिवाकर के साथ होने के जिस अंतरंग लीन भाव में वह विलीन होने का क्षण अर्जित कर सकी, उस में दिवाकर निमित्त-भर नहीं थे। उन में भी उन के समतल वैवाहिक जीवन का एक सपाट भाग स्वयं रत्ती का ही जीया हुआ भाग था। इसी से दोनों के दरमियान प्रवाहित संवेदन का शुभ और शुभम। इस तुष्टि में से कुछ अधिक बटोरने की इच्छा रत्ती में क्यों नहीं जगी, यह तथ्य लेखक के निकट भी इतना ही सहज और सरल हो कर उभरा जितना रत्ती के शांत-स्वच्छ 'स्व' में। देह की ही देहरी पर एक पवित्र भाव जो शायद बलात्कार के अमंगल को भूल कर देह की आसक्ति में जगाया-पाया जा सकता है। इस घटित होने में रत्ती की प्यास और दिवाकर का पौरुष नहीं, बल्कि कौशल और समभाव ही रहा होगा। कहानी की दौड़ भी शायद इतनी ही रही होगी।

रांग्रा : आप का महाकाव्यात्मक उपन्यास *ज़िन्दगीनामा : ज़िन्दा रुख* बेजोड़ है। उस की आंचलिकता पाठक को अवरुद्ध नहीं करती, बल्कि उसे गहरी संस्कारिता के प्रति खोलती है और वह उस में डूबता-उबरता अपनी पहचान को तलाशता रहता है। पर उस की भाषा में स्थानीय बोलियों का जो पुट है वह उन पाठकों को कुछ अटका देता है जो उन प्रयोगों से परिचित न हों। आप का ध्यान इस ओर ज़रूर गया होगा!

सोबती : *ज़िन्दगीनामा* की भाषा और उस के संवाद की भावाभिव्यक्ति में *ज़िन्दगीनामा* के वातावरण, काल, धरती और लोक की गंध को, अगोचर और अमूर्त को, उस की समग्रता में सँजोने के लिए वहाँ की 'डिक्शन' को, संवाद को, सुरक्षित रखना ज़रूरी था। लोक के भाषाई संस्कार को अपना कर ही उसे भाषा में बरक़रार रखा जा सकता था। समय और संस्कृति के लोक-संवाद की भंगिमा में विलय हो चुके, जज़्ब हो गए शब्द-विन्यास को उखाड़ने-पछाड़ने का कोई कारण न था। उस शोक को जस का तस रखने का कारण भी शब्दों में ही निहित था। उदाहरणार्थ, 'प्रदक्खिना' को 'प्रदक्षिणा', 'संभाखन' को 'संभाषण', 'जस्स' को 'यश', 'विक्खोभन' को 'विक्षोभन', 'निम्मल' को 'निर्मल', 'तीखन' को 'तीक्षण' करने तथा 'विपच्छी' (विपक्षी), 'खमापन' (क्षमापन), 'खात धम्म' (क्षात्रधर्म), 'गहपति' (गृहपति), 'गहपतानी' (गृहपत्नी), 'रब्बराखा' (रब्बरक्षक)—जैसे असंख्य शब्दों का बहिष्कार या संशोधन करना लेखक के अधिकार के बाहर था। शब्दों की देशज सत्ता जो उस ग्रामीण समाज के मौखिक संवाद में घुली-मिली थी, लेखक के निकट वही मान्य थी। नागर-मुद्रा में अनूदित भाषा अपने सुथरेपन और संप्रेषण में वातावरण के घनत्व को छिछला करती या उस खेतीहर जीवन को और संस्कृति को अपनी टेक से बाहर करती और कृत्रिम भाषा का आविष्कार करती। 'बड़ी बेला', 'सिखरदुपहर', 'त्रिकाल-बेला'—जैसे शब्दों को बदलने का कारण भला कहाँ था? पुत्र, दोहित्र, दोहिता—जैसे शब्दों की ध्वनि स्वयं उन्हें उजागर करती है। 'पुत्र' को 'पुत्तर' कहने से या 'दुग्ध' को 'दुद्ध' के प्रयोग से भाषाई अस्मिता कहाँ तक घायल होती है, यह लेखक की कसौटी पर से हो कर ही प्रमाणित होगा। *ज़िन्दगीनामा* में यह प्रयोग कहाँ तक सफल हुआ, इसे ठोंक-पीट कर देखने का ज़िम्मा आलोचक का है, पाठक का है।

रांग्रा : आप ने एक बार ज़िक्र किया था कि *ज़िन्दगीनामा* के लेखन, पुनर्लेखन और प्रकाशन का एक लंबा इतिहास है। उस के विषय में कुछ बताइए।

सोबती : सन् 1953 में यह उपन्यास पहली बार *चन्ना* नाम से लिखा गया। पांडुलिपि प्रस्तुत की गई भारती भंडार, इलाहाबाद को। जवाब तुरंत आया। 'आपकी पांडुलिपि देख ली गई है, उपन्यास अच्छा बन पाया है। बधाई। भारती भंडार इसे जल्दी ही प्रकाशित करेगा।' वाचस्पति साहब का यह ख़त बहुत देर से फलीभूत हुआ—लगभग 25 बरसों बाद।

हुआ यह कि भारती भंडार ने लेखक को बिना प्रूफ़ दिखाए उपन्यास छापना शुरू कर दिया। दर्जनों शब्द सुधार दिए गए। 'शाहनी' को 'शाहपत्नी', 'काका' को 'लल्लू', 'रुक्ख' को 'वृक्ष', 'छाँह' को 'छाया'—सारे सुधार इसी तरह के थे। फ़ॉर्म आया तो देख कर लेखकीय चिन्ता शुरू हो गई। उन दिनों भारती भंडार विशिष्ट प्रकाशन-गृह था। नौसिखिए लेखक की पांडुलिपि को सही साहित्यिक रूप देना कुछ भी असाधारण नहीं था। पहले उपन्यास का लेखक होने के नाते लेखक ने अपनी जाँच-पड़ताल शुरू कर दी और पाया कि भाषा के इन बदले हुए रूपों को स्वीकार करना मुश्किल था। लेखक ने अपनी क़ीमत पर मामला निपटा दिया। फ़ॉर्म नष्ट कर दिए गए और लेखक को प्रूफ़रीडर के निर्णय का ख़मियाज़ा भुगतना पड़ा।

उपन्यास वापस ले लिया गया। पांडुलिपि संदूक में बंद कर दी गई और दशकों बाद इस उपन्यास को दुबारा लिखा गया जो सन् 1979 में *ज़िन्दगीनामा* के नाम से प्रकाशित हुआ।

इस उपन्यास की पहली पांडुलिपि जो *चन्ना* के नाम से लिखी गई थी, सब से पहले अज्ञेयजी ने देखी, अश्क और कमलेश्वर ने कृपापूर्वक इस की प्रेस कॉपी देखी। नवीन प्रेस से छपने के सब इंतज़ाम भारती भंडार के बी.पी. ठाकुर ने दुबारा कर दिए। फिर भी यह उपन्यास दुबारा प्रकाशित न हुआ।

राजकमल प्रकाशन की श्रीमती शीला संधु की कोशिशों के बाद इस पांडुलिपि को दुबारा निकाला गया और लेखक की मेज़ पर से वह कुछ ही घंटों में वापस बक्से में बंद हो गई। लेखक द्वारा फ़ैसला किया गया कि पुरानी पांडुलिपि बिना देखे इसे नया रूप देना होगा।

इस प्रसंग में श्री वाचस्पति पाठक के सन् 1978 के पत्र का यह अंश दिलचस्प है : 'सोबती जी, हशमत ने मुझे उस किताब की याद दिलाई जिसे मैं अपने अनजाने मूर्खता से चौपट कर रहा था। मैं चाहता हूँ आप इसे मुक्त कर दें। वह छप जाए तो मुझे संतोष हो। यह बात मुझे सालती रहती है। मेरी हार्दिक इच्छा है कि आप इसे लोक भारती को दे दें। वह शीघ्र सुंदर रूप में छाप दें और मेरे मन का काँटा निकल जाए।'

रांग्रा : यदि आप 'कृष्णा' (सोबती) न हो कर 'कृष्ण' होतीं तो क्या आप की मित्रो, रत्ती और महक का वही रूप प्रकाश में आता जो अब हमारे सामने है?

सोबती : अगर 'कृष्ण' और 'कृष्णा' एक ही बात नहीं तो सोबती के यहाँ दोनों मौजूद हैं। विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि नाम की एक मात्रा कम-ज़्यादा होने पर भी जीने और जीने के चैतन्य को बदला नहीं जा सकता।

अनुभव-एहसास और समझने-परखने की लिपि जीवन को जिस संस्कार से उद्‌भासित करती है उस में व्याकरण के स्त्रीलिंग और पुल्लिंग का ही समूचा योगदान नहीं, मानवीय संवेदन के उस कार्यकारी अनुशासन की क्रमबद्धता भी है जो नारी हो या पुरुष, दोनों के अपने-अपने मानसिक पर्यावरण के स्रोत-बिन्दु से विस्तार पाता है, विस्तृत होता है।

आसपास फैली जीवन की रचनात्मकता को एक ख़ास लेखकीय अंदाज़ में जीने और पड़तालने के लिए

कड़ा वैचारिक संयम, अनुभव की सरलता, ठंडी-गर्म तटस्थता, न मात्र किसी 'कृष्ण' के हिस्से में आती है और न किसी 'कृष्णा' के ही। कौन क्या है, क्या जी रहा है, क्या टटोल रहा है, क्या समेट रहा है, अपने से ले कर अपने तक को रचने में क्या गूँथ रहा है, क्या छान रहा है—'अ' हो या 'ई' उन के अस्तित्व और संज्ञा का व्याकरण उस की समग्र सृजनात्मक क्षमता को तय नहीं करता।

इस विषय को ले कर बराबर बहस हो सकती है, तर्क दिए और काटे जा सकते हैं, लेकिन लेखन के स्तर पर कुछ पाया-उपजाया नहीं जा सकता। मानवीय संवाद और संवेदन शारीरिक सीमाओं और उस के स्वभाव की दुर्बलताओं-क्षमताओं को अबूर करते हैं, उन का अतिक्रमण करते हैं। यदि मात्र नारी और पुरुष के नामों का सहारा ले कर प्रखरता का विवेचन किया जाए तो रचनात्मक संदर्भ पूर्ण रूप से हमेशा सही नहीं बैठेंगे। हम सभी जानते हैं कि पुरुष-लेखन का औसत भाग भी ज़रूरी तौर पर अच्छे और खरे मापदंडों पर पूरा नहीं उतरता। वहाँ भी वह उतना ही भावुक, छिछला और सतही देखा जा सकता है। बुनियादी तौर पर श्रेणियों की बाँट उतनी ही सही और ग़लत होती है, जितनी उसे प्रभावित करती है, उस की व्यक्तिगत सोच, संस्कार और अपने आसपास के सामाजिक और बौद्धिक पर्यावरण की जलवायु को भी।

रांग्रा : आप का नया उपन्यास *दिलो-दानिश* संयुक्त परिवार के संदर्भ में रखैल महक और उस के मालिक के आपसी संबंधों का गहरा और जीवंत चित्र प्रस्तुत करता है और उन का संतुलन बिगड़ने नहीं देता। संतुलन के बने रहने का मुख्य कारण, मुझे लगता है, यह है कि महक का मालिक एक ख़ानदानी संयुक्त परिवार का कर्ता है और अपने सब बंधुओं का ख़याल रखना उस की प्रकृति का अंग बन चुका है, भले ही इस के लिए उसे कितना ही संताप सहना पड़े। एक भरा-पूरा संयुक्त परिवार *मित्रो मरजानी* और *ज़िन्दगीनामा* में भी बराबर धड़कता रहता है। इसलिए आप से पूछने को मन होता है कि आप के निकट संयुक्त परिवार का क्या महत्त्व है, उस की क्या महत्ता है?

सोबती : *दिलो-दानिश* के संयुक्त परिवार के कर्ता के रूप में कृपानारायण साहब को इतने सपाट आदर्शवादी भोलेपन से तो देखा नहीं ही जा सकता। उन का परिवार का कर्ता होना और वकील होना दोनों ही जिस अनुपात से एक-दूसरे से गुँथे हैं, वह अपने आप एक मनोवैज्ञानिक पहेली नहीं तो स्थिति ज़रूर है। अपने हक में जिस मर्यादा से पत्नी-कुटुंब का सहृदय शोषण करते हैं, उसी मर्यादा के तहत अधिकारों का पोषण करने को महक की अवहेलना भी करते हैं। मर्दाना नीति और कौशल से आमने-सामने से नहीं, आगे-पीछे के विपरीत को कभी उकसाते हैं, कभी निपटाते हैं और कभी निहायत अक्लमंदी और समझदारी से नैतिक मूल्यों के नाम पर अपने तनाव को कम करने के लिए तरकीब से हथियार डाल देते हैं। इस के बावजूद वकील साहब में जो भी ख़ूबियाँ-ख़ामियाँ हैं, वे ऐसे ढंग से सतह के ऊपर और नीचे सिधाई गई हैं कि उस में किसी गुण-अवगुण की थिगलियाँ अलग से आसानी से देखी नहीं जा सकतीं।

वकील साहब के रूप में उभरता है एक सक्षम व्यक्तित्व। क्षमताओं और दुर्बलताओं के विभ्रम और औचित्य, उस की तार्किकता और तर्कहीनता, समानांतर चलते हैं और समय रहते ही एक-दूसरे से बच कर निकल भी जाते हैं। वकील साहब में वकालत की खोजबीनी और दूरदर्शिता, स्थितियों को निपुणता से सुलझाने की प्रेरक शक्तियाँ भी हैं। कृपानारायण साहब के कर्ता होने की हैसियत ही उन की अपनी निज की अदालत है। वह स्वयं अपने वकील हैं और बख़ूबी दिल-दिमाग़ के पक्ष-विपक्ष की दलीलों को निपुणता से भुगताते हैं। गवाह भी खुद और गवाही भी खुद। गुनाह की तफ़सील भी स्वयं और बेगुनाही का सबूत भी खुद। उन्हीं की आँख में बैठी है यह ख़ामख़याली भी कि वह जब भी चाहें किसी के दिल के चोर की धर-पकड़

की ही जा सकती है। वह गृहस्थी का विधि-निषेध और आसक्ति—सब क़ायदे से चलाते-निभाते हैं, अपने विशेषाधिकारों का इस्तेमाल करते हैं। व्यक्तित्व के स्तर पर शुद्ध आवेग और उस की प्रतीति उन मूक स्थितियों का अतिक्रमण किए बिना जीती है। संयुक्त परिवार के अस्तित्व को सुरक्षा देने वाली बाड़ हावी रहती है और शिष्ट मुद्रा में निवाले निगल जाती है। इसे शायद संयुक्त परिवार के कर्ता का धर्म या आत्मधर्म कहा जा सकता है।

महक के लिए उन्होंने लगभग कोई पुरुषार्थ नहीं किया। इसी से गृहस्थी के बाहर की गृहस्थी गौण रही। इसी के ज़रिए परिवार के मूलधन में जुड़े हैं महक और वकील साहब के बेटे बदरु। महक के गहनों की संदूकची जिस कारण पारिवारिक निधि के बाहर थी उसी कारण एक बार फिर बाहर ही रहने को थी। लेकिन महक का वह क़दम जो ज़िद की शक्ल में उभरा, कृपानारायण साहब की जन्मजात सत्ता पर प्रश्नचिह्न लगा गया।

व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण परिवार के बाहर ही नहीं, परिवार के अंदर भी होता है। दरअसल वह परिवार से ही शुरू होता है। परिवार एक रीढ़ है, जिस में सारा परिवार लगभग एक संसार में धड़कता-कुलबुलाता लगता है, पर एक होता नहीं है। विपरीत कोलाहल, कुलीनता, शालीनता, शिष्टता और भर्त्सना, अपमान, वर्जना—कमज़ोर आदमी घेर लिया जाता है। संयुक्त परिवार की जटिलताओं के तनाव और दबाव ही उस के विघटन का कारण रहे।

रांग्रा : आप की बहु-आयामी रचना *ऐ लड़की* खूब चर्चित हुई है, अनेक दृष्टियों से। उस के विषय में जो पहली बात मेरे मन में आती है, वह यह है कि इस पूर्णतः संवादात्मक रचना को कहानी की संज्ञा देना कहाँ तक उचित होगा!

सोबती : मेरी ओर से कोई आग्रह नहीं कि *ऐ लड़की* को कहानी कहा जाए। संवादात्मक होते हुए भी इस वृत्तांत में कहीं कुछ ऐसा है जो इसे लंबी कहानी का रूप देता है। ग़लत यह भी नहीं कि इसे यदि नाटक में रचा जाता तो शायद यह कहीं ज़्यादा उपयुक्त होता। संवाद इस साधारण और असाधारण मुखड़े वाली स्थिति की माँग थी।

लेखक की सीमाएँ इसे नाटक की तरतीब न दे सकीं, यह स्वयं मेरे लिए चिन्ता का विषय रहा। किसी भी गद्य-लेखक की यह महत्त्वाकांक्षा होती है कि वह अपनी रचनात्मक अवधि में एक नाटक तो प्रस्तुत कर सके। ऐसा नहीं हो पाया, इस के लिए अपनी असमर्थता स्वीकार करनी होगी।

ज़िन्दगी को जीने का यह जो रोज़मर्रा का अभ्यास है इसे हम निरंतरता नहीं कहते। बीमारी की उपस्थिति जो कि 'टर्मिनल' हो अपने में एक नाटकीय अंश सँजोए रहती है जो मानवीय तन और मन का अंतिम अध्याय है, और जब यह मौजूद हो तो कुछ नाटकीय स्थितियाँ ऐसी घटती हैं जो आम तौर पर रोज़मर्रा की ज़िन्दगी के बाहर होती हैं। जब मैं ने इसे लिखना चाहा तो लगा कि क्योंकि वहाँ नाटक था, ऐसा नाटक जो नाटक नहीं था और था भी, तो क्यों न इसे नाटक में ही लिखूँ। पर बाद में यह सोच कर कि मुझ में शायद इस बात की क्षमता नहीं है इसे नाटक में समेटने की, मैं ने इसे कहानी के रूप में उतार लिया, यह मान कर कि मैं अपनी चीज़ को अपनी सीमाओं के कारण क्यों बिगाड़ूँ।

रांग्रा : आप की यह कृति मुख्य रूप से दो स्तरों पर चलती है। माँ-बेटी के इस गहन संवाद में, मुझे लगता है, बेटी की भूमिका एक कुशल मनोविश्लेषक की रही है जो माँ को बार-बार उकसा कर उसे उस स्थिति में ले आती है जिसे मनोविज्ञान की भाषा में 'फ़्री एसोसिएशन' कहते हैं, और फिर अनुभवसिद्ध माँ की अंतश्चेतना

का मुक्त प्रवाह चल पड़ता है। उस चेतना-प्रवाह में वह अपने को ही नहीं, बल्कि नारी-मात्र के माँ, बेटी, बहन, पत्नी आदि के विभिन्न जीवनों को फिर से जीने लगती है—परिवार और समाज में नारी की अनिवार्य भूमिकाओं को उजागर करते हुए और पीढ़ियों के अंतराल को पाटते हुए।

सोबती : *ऐ लड़की* के बीज मंत्र की ओर लौटें तो कहना होगा कि जिन शब्दों ने इस कहानी की पहली आहट मुझे दी थी वे तो कहनी के बाहर ही खड़े रह गए। वे शब्द थे—'चिराग जलता रहेगा—चिराग जलता रहेगा—चिराग जलता रहेगा।' लेखक शब्दों से सरसरी तौर पर काम नहीं लेता। वह शब्दों और संवेदनाओं को एक-साथ चाहता है। शब्द ऐसे जो न भारी, न हल्के-न गहरे, न सतही-न मूक, न मुखर-न वज़नी, न हवा में लहराते—भाषा गूँथती है, जिसे लेखक अपने अंतर में महसूसता है और अपने बाहर को सोखता है, अपने में जज़्ब करता है, गोचर और अगोचर को शब्दों में साधता है। इस में निपुणता न लेखक की और न शिल्प के कौशल की ही। जाती हुई, विदा देती और विदा लेती स्त्री पुरानी है, पर उस में की आहट नई है। उस की नए की आहट है। स्त्री न मात्र बेटी है, न पत्नी, न सिर्फ़ माँ। वह इन सब में गुँथा एक व्यक्तित्व है जो उस के गुण और उपयोगिता से, उस के वैयक्तिक मूल्यों से, परे उस के निज़ के आत्मधर्म से गुँथा है और उस की काया के नीचे छिपा है अपनी पूरी उपस्थिति के साथ। यही स्त्री का भविष्य है। संबंधों की सघनता के पार अब यही उस का वक्तव्य है। जीवन और मृत्यु के प्रतिपक्ष में, यही उस की नई चेतना की खोज है : बदलो—अपने देह-तंत्र के पार देखो, नई चेतना को स्वीकारो। अपने संस्कार की चेता तुम्हें स्वयं होना है। स्त्री के जैविक स्वभाव को मात्र माँ का अक्स समझना, उसे अधूरा करके देखना हैं। उस के व्यक्तित्व की पहचान उस की आर्थिक स्वतंत्रता से जुड़ी है।

गद्य की स्पष्टता और उस के वैचारिक और सामाजिक खरेपन ने मुझे लगातार अपनी ओर खींचा है। अपनी कशिश विशेष से उकेरा भी है। एक ही मुखड़े और तेवर वाली भाषा में सोचना और लिखना मुझे उबाऊ लगता है। रचना के रचनात्मक केन्द्र में लेखक के संवेदन के साथ-साथ भाषा ही उस की सीमाओं का अतिक्रमण कर रचना को व्यापक बनाती है। अपने को अपनी बँधी-बँधाई चौखट से परे सरका कर पात्रों के अनुरूप भाषा, मुहावरे और संवाद को ढालना मुझे मात्र प्रयोग नहीं, लेखकीय सामर्थ्य का अहसास भी करवाता है, नई भाषा गढ़ने का साहस भी देता है।

महत्त्वपूर्ण हो उठती है रचनाकार की बौद्धिक ईमानदारी जो उसे आग्रह और दुराग्रह से आज़ाद करती है।

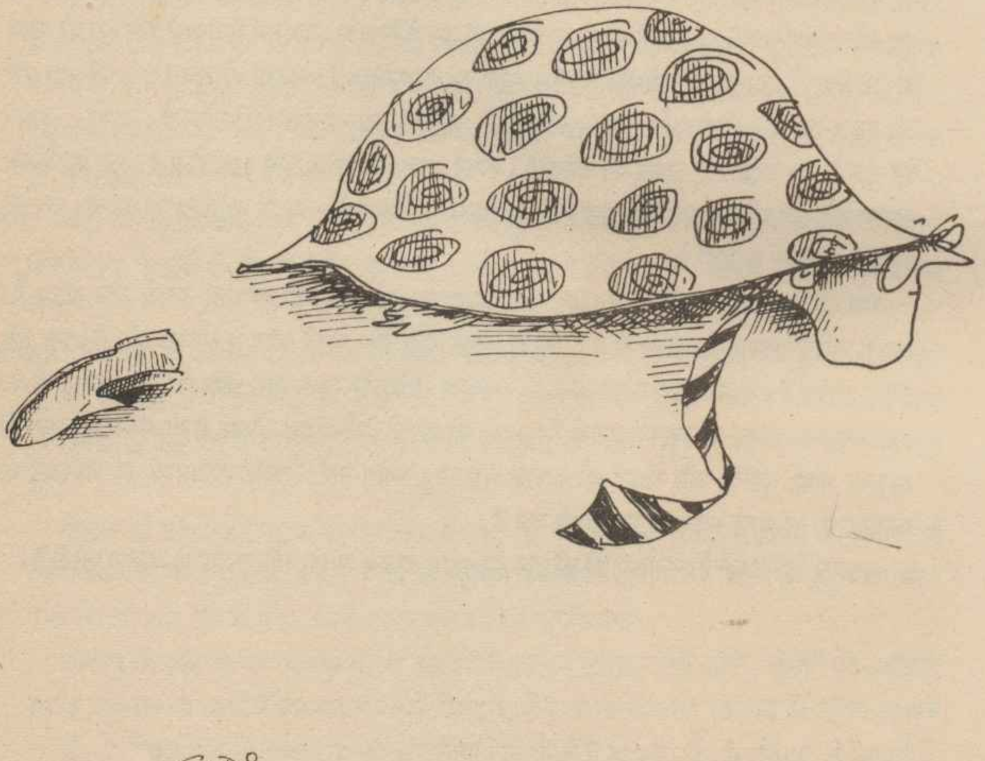
GOPI
GAJWANI

किताबें—1

ललित कार्तिकेय

'एतद् वै तत' के 'नेति-नेति' होने पर. . .

'जानने से जान जाती है।' —*हरिया हरक्यूलीज़ की हैरानी*

हमारे समय के हिन्दी उपन्यास साहित्य में मुख्यतः एक जिज्ञासाहीन अलसमानसता की थुलथुल व्याप्ति है। ऐसी कूढ़-रूढ़-मग़ज़ी जो एक ऊँघती-सी निगाह अपने बाहर-भीतर डालती है लेकिन उसे 'देखती' नहीं और सामाजिक क्रांतियों या महीन आंतरिक भ्रांतियों की जड़सूत्र प्रसूता सरल निद्रा में लौट चीखती कि बड़बड़ाती है—'एतद् वै तत।' यही है वह! सत्य! इस परिदृश्य में मनोहर श्याम जोशी की विशिष्ट और बिल्कुल भिन्न उपस्थिति पहले ही रेखांकित की जा चुकी है। इस विशिष्टता और भिन्नता का स्रोत क्या है? *कुरु-कुरु स्वाहा* की चरम रहस्यमयी नायिका पहुँचेली के बारे में एक पात्र रथिजित दादा कहते हैं—'ए पागलपन थोरोली जानने का, पूरा तरह जानने अउर समझने अउर करने का पागलपन। बूझे चो आलो! थोरोली—यही अमारा हीरोइन का चाबी।' और यही शायद मनोहर श्याम जोशी के रचनात्मक व्यक्तित्व की भी चाबी है। उन की विशिष्टता और भिन्नता का स्रोत।

यह एक ख़ास क़िस्म की, बिल्कुल बेलिहाज़, श्रद्धा-भक्ति रहित निर्मम जिज्ञासा है जो हिन्दी के ख्यात फक्कड़ कवि बाबा नागार्जुन का साक्षात्कार लेने से पहले सोचती है—'मैं इसे ऐसे तो जानता हूँ, पर वैसे नहीं।' (बातों-बातों में) साक्षात्कार के दौरान बाबा को 'वैसे' जानने की भरपूर कोशिश करती है। दरअसल इस जिज्ञासा के पास 'वैसी' इतनी जानकारियाँ हैं सब कुछ के बारे में कि उन से जो 'जानावस्था' या 'ज्ञानावस्था' बनती है उसे पारंपरिक भाषा में 'अनास्थावादी' या 'सिनिकल' की संज्ञा दी जा सकती है, जिसे 'हर किसी को फ्रॉड सिद्ध करने में विशेष आनंद आता है।' लेकिन इस जिज्ञासा की यह विशिष्टता किसी स्वयंभू दुष्टता के कारण नहीं, बल्कि यह एक यथार्थावस्था और समाजावस्था का ही विदग्ध बोध है।

इस विदग्ध बोध को निर्मित करने वाली यह यथार्थावस्था या समाजावस्था क्या है? आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी से साक्षात्कार लेने के दौरान स्वयं मनोहर श्याम जोशी के कुछ वाक्य—'आप लोगों का वह समन्वयवाद, मानवधर्मवाद, विश्वबंधुत्ववाद तो धराशायी हो चुका है। उसकी विफलता ने ही सामाजिक क्षोभ को जन्म दिया है।' आगे वे द्विवेदी जी की पीढ़ी द्वारा भ्रष्ट सत्ता-तंत्र से किए गए समझौतों को 'सिनिसिज़्म बढ़ाने वाले समझौते'

की संज्ञा देते हुए कहते हैं—'अगर आप रेले के संग-संग भटकने को विवश थे। और अब जो हमारे बाद आ रहे हैं वे यह मानने को विवश हैं कि हमारे मूल्य ही पाखण्डपूर्ण हैं। उनकी नीतिहीनता का उत्साह, हमारी नीति की असफलता में ढूँढ़ना ग़लत न होगा।' आचार्य द्विवेदी उसी साक्षात्कार में एक नए समन्वयवादी यूटोपिया के पैदा होने की संभावना पर आस्था जताते हैं। इस पर म.शा. जोशी की टिप्पणी है—'हजारीप्रसाद जी की यह आस्था मुझ जैसे अनास्थावानों की निगाहों में शायद किसी-न-किसी स्तर पर संदिग्ध ही ठहरेगी। किसी हद तक हम उसे अतिसरलीकृत मानने को मजबूर होंगे।'

इस जिज्ञासा में एक ग़ैर-दब्बू बौद्धिक प्रखरता और ईमानदारी है जो विगत मूल्यों के ध्वंस और पाखंड को जानती है और किसी भावी यूटोपिया के पैदा होने की संभावना या उस में आँखमूँदू क़िस्म की आस्था रखने की संभावना में आस्था नहीं रख पाती है।

कुरु-कुरु स्वाहा की पहुँचेली एक जगह नायक से कहती है—'क्या तुम भी उन में से हो जो हर चीज़ में ढोल की पोल देख चुके हैं और अब पोल का ही ढोल बजाए जा रहे हैं।' और—'बहुत सोच समझ कर बुना था यह झाँसा तुम्हारे लिए। नहीं फँसे! अद्‌भुत हो। मार्क्स वाले क्रांतिकारी झाँसे में तो क्या फँसते? ई इज इकुअल टू एम सी स्क्वायर और एंट्रापी वाले वैज्ञानिक झाँसे में भी क्यों आते?' हर कहीं सिनिसिज़्म बढ़ाने वाले समझौते, मूल्य-ध्वंस, मुखौटों, पाखंड, झाँसों और फ्रॉड से बने हमारे समय के यथार्थ की पोल पहचानने वाली यह जिज्ञासा लेकिन 'सिनिकल' इसलिए नहीं कही जा सकती कि खूब टटोलने पर भी जब कहीं 'पोल' की जगह ईमानदारी दिखती है तो यह हैरान भले होती हो, असहमत भी, लेकिन 'श्रद्धालु' भी होती है। मसलन जो जोशी द्विवेदीजी से पहली बार मिलने जाते हुए कोई विशेष आदरभाव अपने साथ ले कर नहीं गए थे, विदा लेते समय विधिवत पायलागन करके आते हैं, बिना किसी पाखंड के। इसी तरह नागार्जुन की आत्मा की भली-भाँति जासूसी कर चुकने के बाद खुद से पूछते हैं—'याकि बाबा उन लोगों में से हैं जो ऐसे ही होते हैं, "वैसे" नहीं।'

यह जिज्ञासा संशयात्मा के विश्वास न कर सकने की रुग्ण असमर्थता से नहीं, बल्कि कुछ भी विश्वसनीय न बचने के त्रास से विदग्ध है। यह मूलतः यथार्थ, सत्य, मनुष्य के अवमूल्यन, विखंडन और विलोपन पर गहरी क्षोभ-ग्रस्त जिज्ञासा है जो हर चीज़ की जासूसी शायद इसीलिए करती है कि 'नेति-नेति' के कष्टदायी मंत्र से कहीं छुटकारा मिल सके। अनिकेत की अंतहीन 'ओडेसी' कहीं ख़त्म हो और आस्था का निकेत बने। इसीलिए म.शा. जोशी के लेखन में जगह-जगह ऐसे ढेर वाक्य बिखरे हैं—'जानने से जान जाती है।' 'जिज्ञासा जानलेवा होती है।' 'क्यूरियसिटी किल्ड द कैट।' पहुँचेली को जानने के फेर में ही *कुरु-कुरु स्वाहा* का तिमंज़िला नायक नर्वस ब्रेकडाउन का शिकार होता है। *हरिया हरक्यूलीज़ की हैरानी* का हरिया तो जिज्ञासा जागने पर आईने यानी जीवन के परे मृत्यु ही में चला जाता है। बल्कि उपन्यास के एकदम शुरू में ही कुछ 'चेतावनी' नुमा पंक्तियाँ हैं—'अद्‌भुत का बहुत ज़्यादा आस्वादन निषिद्ध था, क्योंकि समझा जाता था कि उससे व्यक्ति को अद्‌भुत के प्रति वितृष्णा हो जाती है और वह अत्यन्त साधारण यथार्थ की ओर दौड़ता है या फिर यथार्थ से ऊपर उठ कर अद्‌भुत में ही लीन हो जाता है।'

लेकिन तमाम 'चेतावनियों' के बावजूद यह अनिकेत जिज्ञासा है, यह जानती है कि तमाम श्रद्धाओं का श्राद्ध हो चुका है और सारी शुचिताएँ शौच हो चुकी हैं। क्या ऋत्विक घटक इसी बोध को आधुनिक सभ्यता से 'भयंकर साक्षात' कहते थे? इस जानकार जिज्ञासा के इसी विदग्ध बोध से म.शा. जोशी की 'खिलंदड़ी' जन्म लेती है। इस भयंकर साक्षात की 'नीच ट्रेजेडी' को यदि साहसपूर्ण खिलंदड़ेपन से न देखा-कहा जाए तो यह एक गाढ़े, काले कीचड़-अवसाद में बदल जाए। यह खिलंदड़ापन इस ख़ास जिज्ञासा की अद्‌भुत सिद्धि है।

'शिखर पर पहुँचाओ और फिर वहाँ से एक यादगार धक्का दो।' —*कुरु-कुरु स्वाहा*

यह खिलंदड़ापन 'सत्यं-शिवं-सुंदरम् का धवल कौशेय उत्तरीय' पहने हिन्दी की 'गरिमापूर्ण साहित्यिकता की ऐसी की तैसी' फेरता है। आख्यान, कथा-प्रविधियों और शिल्प के स्तर पर कैसे पैदा होता है यह खिलंदड़ापन जो दरअसल दुर्निवार जबर-जिज्ञासा के भयंकर साक्षात ही का कलानुवाद है, मात्र शिल्प-कौशल नहीं?

कुरु-कुरु स्वाहा में एक जगह 'मजाज़-भुवनेश्वर तकनीक' का ज़िक्र है। 'शिखर पर पहुँचाओ और फिर वहाँ से एक यादगार धक्का दो।' इसी उपन्यास में जम कर लिखने के लिए जोशी का एक 'फ़ार्मूला 99' है। 'इसके अंतर्गत जोशी जी एक आध्यात्मिक एक किसी शास्त्र विज्ञान संबंधी और एक हल्की या अश्लील तीन पुस्तकों का लगातार समांतर पारायण करते हैं।' ख़लीक के महाकाव्य की प्रशंसा उस में निहित 'भदेस और भावविह्वल की अनूठी जुगलबंदी' के कारण करते हैं। 'कौन है जो नहीं है हाजतमंद' नामक अध्याय में नायक अचानक और असहाय करने वाली हाजत के दबाव में ऐन उस जगह बिना लोटा लिए हगने जाता है, जहाँ वह एक दिन परम सुंदरी पहुँचेली की पकी मांसलता पर लोटा था। इस हालत में श्याम सोचता है—'मैंने जानना चाहा कि क्या जोशी जी में वह क्लासिकी दृष्टि है, जो पटकथा में उस प्रसंग के शॉट इस आने वाले प्रसंग के शॉटों के साथ रख सके।'

दरअसल यही म.शा. जोशी की ख़ास कथा-प्रविधि है जिस से वह 'खिलंदड़ी बकवास' (विजयमोहन सिंह) पैदा होती है जो अपनी इंगिति में सार्थक और परिणति में मार्मिक है। गहरे से देखने पर यह कथा-प्रविधि एक बहुत पैनी बौद्धिक रणनीति है जिस के जरिये न केवल लेखक ही विभिन्न प्रचलित पाखंडों को तोड़ता है और झाँसों से बाहर निकलता है, बल्कि अपने पाठक को भी सफलतापूर्वक इन अनुभवों से गुज़ारता है। इस तरह यह जिज्ञासा स्वयं को दूसरे तक संक्रमित करती है। इस कथा-प्रविधि से हिन्दी कथाख्यान में एक नितांत नया, जटिल और सही अर्थों में समकालीन कथा-रस पैदा हुआ है! *कुरु-कुरु स्वाहा* में धर्मवीर भारती की एक 'गरिमामयी' कविता की भदेस पैरोडी करते हुए श्याम इस 'रस' के बारे में जोशी से पूछते हैं—'तो बताइए प्रभु इस नये रस को क्या कहते हैं जो आपको न फ़्लाइट के लिए प्रेरित कर रहा है, न फ़ाइट के लिए?' यह नया रस हिन्दी साहित्य में ली गई आध्यात्मिक फ़्लाइटों और की गई क्रांतिकारी फ़ाइटों यानी भाव-विह्वल भूतपूर्व ढोलों की पोलों का ढोल भी है—पिछले ढेर श्रद्धास्पद साहित्यिक प्रसंगों, संदर्भों और संवेदना-प्रवृत्तियों को हास्यास्पद बनाता। यानी सभ्यता-समीक्षा होने के साथ-साथ यह साहित्य-समीक्षा भी है।

इस सर्व-संश्लेषी विडंबना रस में भदेस और भाव-विह्वल, अत्यंत साधारण और अद्भुत उदात्त का विचित्र विडंबनात्मक मेल है। प्रेम, पाख़ाना और परम-सत्य की यह अनूठी जुगलबंदी है। यही 'गू' और 'लिंग' के साथ 'इलियट का दा, दत्ता, दयध्वम्, दम्यताम् टाईप आध्यात्मिक आयाम-वायाम' भी है यानी 'गुमालिंग'। पाठक इसे आध्यात्मिकता भी समझ सकते हैं, लेकिन यह ठग-व्यावसायिक आध्यात्मिकता के फ़ैशनेबल क्लीशों का आलोचनात्मक 'कैरिकेच्यर' है। हिन्दी के बौद्धिक जगत में कई हैं जो 'ई इज इकुअल टू एम सी स्क्वायर' की वैज्ञानिकता और पौर्वात्य रहस्यवाद का गठबंधन कर 'मौलिक चिन्तक' बने हैं। यह डॉ. पॉल ब्रंटन, काप्रा और प[illegible]स तथा अन्यों की बेस्ट-सेलर्स का उल्था भर है। लेकिन म.शा. जोशी इस पश्चिमी झाँसे में नहीं फँसते, बल्कि उन की जिज्ञासा इन्हें फाँसती है और हर चीज़ की तरह इन का विद्रूपीकरण करती इन के परे और पार चली जाती है। हमेशा की तरह एक नया रस रचती हुई, क्योंकि गुमालिंग एक 'खुफ़िया ऑपरेशन' भी निकलता है और गरबैंग

ख्यांग के लामा के मुताबिक 'न गुमालिंग जैसा कोई शब्द है; न कोई देवता। *हरिया हरक्यूलिज़ की हैरानी* तक आते-आते इस आख्यान की खिलंदड़ी और क्षुब्ध उद्विग्नता स्वयं आख्यान में कम हो गई है (उस में बल्कि एक नए क़िस्म की 'सिरेनिटि' पैदा हुई है।) । वह उपन्यास की घटना-संरचना में स्थानांतरित हो गई है।

'ये परस्पर-विरुद्ध सूचनाएँ हमें काफ़ी हैरान कर गयीं।' —*हरिया हरक्यूलीज़ की हैरानी*

कुरु-कुरु स्वाहा में जोशी अपना पटकथा-सार रथिजित दादा को सुनाता है तो अंत में वे कहते हैं—'सेक्स हुआ, मिस्टिसिज्म हुआ, लिटरेचर हुआ, अभी क्राईम एण्ड वायलेंस।' यह सब कुछ *कुरु-कुरु स्वाहा* और *हरिया हरक्यूलीज़ की हैरानी* दोनों में है। प्लस गू भी। तो क्या म.शा. जोशी उपरोक्त मसालों और कुछ उत्तर-आधुनिक अवधारणाओं का सफल कथा-मिश्रण कर बॉक्स-ऑफ़िस हिट उपन्यास 'बनाने' में महारत हासिल किए हुए हैं, बस और उन का मामला 'गंभीर-उंभीर' नहीं है? सात्विक, सरल, सतह पर ही समझ आ जाने वाला साहित्य 'बनाने' वालों को ऐसा लग सकता है, क्योंकि वे स्वयं अपनी चेतना और सामाजिक यथार्थ के अनेक-परतीपन, बहुलता और विडंबनात्मकता से 'भयंकर साक्षात' करने की जगह सरल स्वप्न-प्रसूता सुख निद्रा में हैं। मनोहर श्याम जोशी की मल्ल ('मल' नहीं) जिज्ञासा व्यक्ति, यथार्थ और सत्य के समकालीन विखंडन से साक्षात करती है। इस विखंडन को रचना में एकजुट करने की कोशिश ही के कारण उन के उपन्यासों की जटिल, बहुमंज़िली संरचना बनती है।

कुरु-कुरु स्वाहा के नायक के भीतर तीन व्यक्ति यानी तीन दृष्टिकोण और संवेदनाएँ मौजूद हैं—'इंफेंटाइल' मनोहर, व्यवहारवादी श्याम और 'बौद्धिक सिनिक' जोशी। और नायिका पहुँचेली कौन है? क्या है उस का सत्य? उपन्यास का जोशी उस से कहता है—'मैं तो यह तक नहीं जानता कि तुम हो कौन? तांत्रिक—जैसा कि तुम खुद कहती हो? रंडी—जैसा कि बाबू ने बताया? लेखिका—जैसा कि ख़लीक ने बताया? क्रान्तिकारी—जैसा कि रथिजित भट्टाचार्य का अनुमान है? व्यापारी—जैसा कि डोभानवाला कह रहा है? और तुम इतने झूठ बोलती हो, अपने बारे में, दूसरों के बारे में कि तुम्हारा सच इस गोरखधंधे में छिप जाता है। मुझे दिलचस्पी है झूठ के गोरखधंधे में छिपे तुम्हारे सत्य से।' ठीक इसी तरह हरिया के व्यक्तित्व का सच क्या है? वह परम मूढ़ है कि चरम गूढ़ है? बुद्धू है कि बुद्ध है कि दोनों? गुमालिंग क्या है? हरिया की ओडेसी में वास्तव में क्या घटित हुआ? पिरुली कैंजा कौन है? कुछ सत्य है भी या बस 'होने' और 'हुए' की अपने ज्ञान, निहित स्वार्थ, दमित इच्छाओं और इच्छा चिन्तन द्वारा की गई अनेक व्याख्याएँ मात्र हैं और है उन का परस्पर द्वंद्व और साथ ही उत्तर-आधुनिक 'लोकतांत्रिक सह-अस्तित्व'?

इकहरे पात्र, इकहरी स्थितियाँ, सत्य और अंत दरअसल वास्तविक यथार्थ की बहुलता और जटिलता के सरलीकरणों का ही परिणाम होते हैं। म.शा. जोशी ऐसा नहीं करते। *कुरु-कुरु स्वाहा* में रथिजित कहता है—'जटिल क्या नहीं है, शे बताओ? क्या है जिसको तुम्हारा आधुनिक मेधा कह सकते कि ए बिल्कुल सिम्पल है? जटिल से डरना क्यों?' और आगे जिस 'सादगी' की बात वे करते हैं वह इकहरेपन और सरलीकरण का विलोम है। 'सादगी, जोसी, एलिमिनेशन से नहीं आते, रिदम से आते। कुछ छोड़ दिया, कुछ रख लिया सो अब पुरानी सेंसीबिलिटी। मॉडर्न माईंड सब रखेगा, फिर में संभ्रम में पड़ेगा नेई। तुम कांपिलिकेशन का चिन्ता मत करो। अपना रिदम में, लय ताल से अम इसे बना देगा, समथिंग विच इज ब्यूटिफुली सिंपल एण्ड सिम्पली ब्यूटीफुल।' म.शा. जोशी समकालीन बहुलता को, बिना किसी 'एलिमिनेशन' के लयबद्ध करते हैं।

लेकिन क्या वे व्याख्याओं की बहुलता को प्रस्तुत भर करते हैं? तब यह पुराने दर्पणवाद का एक नया संस्करण भर होगा। 'मॉडर्न माईंड सब्र रखेगा, फिर में संभ्रम में पड़ेगा नेई।' म.शा. जोशी की सतत जाग्रत जिज्ञासा किसी एक व्याख्या के चबूतरे पर आलथी-पालथी मार प्रवचन देने के बाद पिछवाड़े के मठ में सुख-निद्रा में नहीं चली जाती है। विशेषकर *हरिया हरक्यूलीज़ की हैरानी* में यह तमाम व्याख्याओं का अंतर्ग्रथंन करती है तो उन की सीमाओं, संदिग्धताओं, विमूढ़ताओं और नीचताओं के साथ। इन सब के होने को सिर्फ़ बताती नहीं, एक स्तर पर इन सबों को खारिज़ करती इन के परे चली जाती है। स्वयं को यानी 'हैरानी' को बरक़रार, बेक़रार रखती हुई। आत्म-निष्ठ व्याख्याओं के 'लोकतंत्र' में यही उस की वस्तु-निष्ठता है कि वह किसी एक व्याख्या के लिए 'एतद् वै तत' नहीं कहती और 'नेति-नेति' का अपना विशेषाधिकार बनाए ररखती है।

हमारे यहाँ 'कला का जोख़िम' (जो दरअसल जिज्ञासा का ही जोख़िम है) के बारे में बातें बहुत हुई हैं लेकिन अब के हिन्दी उपन्यास में मनोहर श्याम जोशी ने उसे व्यावहारिक स्तर पर उठाया है।

चर्चित किताबें :

कुरु-कुरु स्वाहा : मनोहर श्याम जोशी; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 8, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली 110002; मूल्य 75 रुपए

हरिया हरक्यूलीज़ की हैरानी : मनोहर श्याम जोशी; किताबघर, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002; मूल्य 50 रुपए

किताबें—3

जयदेव तनेजा

नेमिचंद्र जैन की रंग-दृष्टि

यह सुखद संयोग है कि 1993 में हिन्दी के वरिष्ठ समीक्षक-संपादक और नाट्य-चिन्तक नेमिचंद्र जैन की चार पुस्तकें लगभग साथ-साथ प्रकाशित हुई हैं। *रंगदर्शन* के संशोधित एवं परिवर्धित तीसरे संस्करण *भारतीय नाट्य परंपरा* के अंग्रेज़ी रूप, *दृश्य अदृश्य* और *मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक* (संपादित) को एक साथ देखने से नेमिजी के बहुआयामी नाट्य-व्यक्तित्व और उन की मौलिक रंग-दृष्टि की पूरी तस्वीर उभर कर सामने आती है।

1941 में अंग्रेज़ी साहित्य में एम.ए. करने के बाद 1944 में *तार सप्तक* के कवि के रूप में नेमिजी ने अपने रचनाधर्मी जीवन की शुरुआत की थी। 1947 में कुछ समय तक *प्रतीक* का संपादन करने के अलावा आपने 1966 में *अधूरे साक्षात्कार* (उपन्यास समीक्षा), 1968 में *बदलते परिप्रेक्ष्य* (कविता और आलोचना संबंधी निबंध), 1973 में *एकांत* (कविता संग्रह), 1981 में *जनांतिक* (आलोचनात्क लेख) के लेखन-प्रकाशन तथा 1980 में *मुक्तिबोध रचनावली* (छह खंड) के संपादन से अनेक विषयों तथा विधाओं में योगदान किया ही था; पर अपनी मौलिक, आधुनिक और संतुलित रंग-दृष्टि एवं उत्प्रेरक व्यक्तित्व से समकालीन हिन्दी, विशेषतः नाट्य-समीक्षा और रंगचिन्तन को आप ने जैसा समृद्ध किया है, वह अद्वितीय है।

शंभु मित्र और 'इप्टा' के निकट संपर्क में रहे नेमिजी ने 1959 से 1976 तक राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय में वरिष्ठ प्राध्यापक के रूप में अनेक रंगकर्मियों को नाटक के गहन अध्ययन, सूक्ष्म विश्लेषण और रंगकर्म के विविध पहलुओं की गंभीर व्यावहारिक-सैद्धांतिक दीक्षा दी। अध्यापन के इसी दौर में संभवतः आप को यह अनुभव हुआ कि हिन्दी नाट्याध्यापकों तथा रंगकर्मियों के लिए, संस्कृत और अंग्रेज़ी की कुछ पुस्तकों को छोड़ कर, नाट्य-कला और उस के विभिन्न पक्षों का गंभीर विवेचन-विश्लेषण करने वाली हिन्दी में एक भी उल्लेखनीय पुस्तक उपलब्ध नहीं है। यही नहीं, रंगकला को नए भारतीय रंग-परिदृश्य और आधुनिक रंग-दृष्टि के संदर्भ में गहराई से समझने-समझाने वाली कोई महत्त्वपूर्ण पुस्तक शायद किसी भी भारतीय भाषा में नहीं थी। साठ के दशक से नया भारतीय रंगांदोलन ज़ोर-शोर से शुरू हो चुका था। विभिन्न भाषा-क्षेत्रों के प्रतिभावान रंगकर्मी अपने-अपने प्रदेशों में आधुनिक भारतीय रंग-शैली की तलाश में नए-नए मौलिक रंग-प्रयोग कर रहे थे। परंतु उन के रंगान्वेषण और उन की उपलब्धियों की जानकारी के आदान-प्रदान का कोई व्यापक मंच या माध्यम नहीं था। इन्हीं देशव्यापी

अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं बुनियादी ज़रूरतों को पूरा करने के उद्देश्य से नेमिजी ने 1965 में *नटरंग* (त्रैमासिक नाट्य पत्रिका) का संपादन आरंभ किया और 1967 में *रंगदर्शन* नामक नाट्यकला संबंधी गंभीर चिन्तनपरक मौलिक ग्रंथ का लेखन-प्रकाशन हुआ।

रंगदर्शन में नेमिजी ने नए भारतीय रंग-परिप्रेक्ष्य में रंगकला के विभिन्न पक्षों और उस के अंतर्विरोधों के तल में जा कर उन्हें विवेचित-विश्लेषित करने के साथ-साथ उस की सार्थकता, जीवंतता एवं रचनात्मक उपलब्धियों को रेखांकित करने की गंभीर कोशिश की। भारतीय और पाश्चात्य नाट्य-चिन्तन के व्यापक अध्ययन और अध्यापन तथा रंगकर्म के व्यावहारिक पक्ष से प्रत्यक्ष निकट संबंध एवं अनुभव से नेमिजी ने जो मौलिक रंग-दृष्टि अर्जित की उसी का तर्कसंगत उद्घाटन इस पुस्तक में हुआ है।

इस पुस्तक के कई लेख या अंश चूँकि पूर्वलिखित थे और कई पत्र-पत्रिकाओं में पहले ही छप चुके थे; इसलिए *रंगदर्शन* में विचारों का वह क्रम और तारतम्य दिखाई नहीं देता जो सामान्यतः इस प्रकार के सैद्धांतिक अथवा शास्त्रीय ग्रंथों में होता है। परंतु इस से एक बड़ा लाभ यह तो हुआ ही कि इसी कारण यह पुस्तक पिष्टपेषण, दुरूहता तथा बोझिलता से बच गई। स्थापनाओं को रंगकला के विविध पक्षों के संदर्भ में अलग-अलग रूपों में देखा-परखा और उदाहरणों के साथ सहज-सरल ढंग से प्रस्तुत किया जा सका। 'नाटक का अध्ययन', 'नाटक की रचना-प्रक्रिया और अभिनेयता' तथा 'नाट्यालोचन' जैसे अपेक्षाकृत सैद्धांतिक निबंधों के अंतर्गत नेमिजी ने साहित्य की अन्य विधाओं और दूसरे कला-अभिव्यक्ति-रूपों से नाटक के मूल अंतर को समझने और नाटक को अनिवार्यतः उस के रंगमंचीय आयाम में प्रतिष्ठित करके देखने-समझने की ज़रूरत पर बल दिया। नाटक को केवल एक संवादबद्ध शाब्दिक संरचना मान कर मूल्यांकित करने वाली हिन्दी नाट्य-समीक्षा और अध्यापन-पद्धति के संदर्भ में यह एक बेहद ज़रूरी स्थापना थी। नाटक और रंगमंच से संयुक्त इस रंग-दृष्टि ने नाटक के मूल तत्त्वों में नाट्यालेख के अभिनय-प्रदर्शन और दर्शक-वर्ग को अनिवार्यतः जोड़ कर नाटक के अध्ययन-अध्यापन और मूल्यांकन की कसौटियों पर फिर से विचार करने को बाध्य कर दिया। उन्होंने बलपूर्वक कहा कि 'जब तक हिन्दी नाटक के अध्येता नाटक को एक व्यावहारिक कला के रूप में, उसे अभिनय-प्रदर्शन तथा दर्शक-वर्ग से प्रत्यक्षतः संबद्ध अभिव्यक्ति माध्यम के रूप में नहीं समझेंगे, तब तक हिन्दी के साहित्यकार और रंगकर्मी के बीच मौजूद दूरी कम नहीं हो सकेगी।' और हिन्दी क्षेत्र के लिए यह एक दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति ही है कि पिछले लगभग ढाई-तीन दशकों में की गई लगातार कोशिशों से आई नई रंग-चेतना के बावजूद यह दूरी थोड़ी-बहुत कम भले ही हुई हो, ख़त्म नहीं हो पाई है।

जयशंकर प्रसाद के सांस्कृतिक नाटकों की प्रतिक्रिया और यूरोपीय यथार्थवाद के ह्रासकाल की यथातथ्यवादी रंग-चेतना के प्रभाव से उद्भूत लक्ष्मी नारायण मिश्र इत्यादि के नाटकों और उन पर विश्वविद्यालयों में की गई शोध एवं समालोचना के कारण हिन्दी नाटक और नाट्य-समीक्षा का जो भयंकर नुकसान हुआ, उस का सब से ज़्यादा गहरा और गंभीर असर नाट्य-भाषा को भुगतना पड़ा। संस्कृत के 'दृश्य-काव्य' से प्रेरित हो कर नेमिजी ने नाट्यात्मक अनुभूति को तीव्रतम काव्यात्मक अनुभूति का ही एक विशेष प्रकार मानते हुए बहुत ज़ोर दे कर कहा कि 'नाटक मूलतः काव्य का ही एक प्रकार है जिस में सार्थक और महत्त्वपूर्ण अनुभूति की सूक्ष्म, संवेदनशील और गहन अभिव्यक्ति की आवश्यकता है, निरी रोचक अथवा सनसनीपूर्ण, स्थूल और तथाकथित 'नाटकीय' घटनाओं के समाचारपत्रीय रिपोर्ताज जैसे चित्रण की नहीं।' यथार्थवादी नाटकों की अभिनयात्मिका-वृत्ति से रहित, व्यंजनहीन और एकायामी सपाट भाषा का तीव्र विरोध करते हुए नेमिजी ने आग्रहपूर्वक कहा कि 'नाटक की भाषा में एक साथ ही काव्य जैसी गहन लाक्षणिकता, सूक्ष्मता, चित्रवत्ता और बोलचाल की भाषा की-सी मूर्तता, प्रवाह

और सरलता आवश्यक होती है। उस में पात्रानुकूल विविधता और लचीलापन भी होता है और समर्थ भाषा की शैली-परकता, विशिष्टता और साहित्यिकता भी।' नाट्य-भाषा संबंधी इसी सम्यक् रंग-दृष्टि के कारण ही *कोणार्क*, *अंधायुग* और विशेषतः *आषाढ़ का एक दिन* जैसे श्रेष्ठ हिन्दी नाटकों का सही मूल्यांकन संभव हो सका। स्पंदनशील नाट्य-भाषा की सृजनात्मकता के अतिरिक्त नाट्य अनुभूति के सामाजिक एवं सामूहिक पक्ष से आत्यंतिक संबंध का रेखांकन नेमिजी की रंग-दृष्टि की महत्त्वपूर्ण विशेषता है। इसी प्रकार नाटक के कथानक, चरित्रांकन, संवाद और उद्देश्य के बारे में भी इन्होंने कई प्रचलित भ्रमों को तोड़ कर नई और संगत स्थापनाएँ कीं।

अपेक्षाकृत व्यावहारिक पक्षों से जुड़े निबंधों में नेमिजी ने निर्देशन, अभिनय, रंगशिल्प, प्रेक्षागृह, नाट्य-संस्थाओं और प्रेक्षकों आदि के स्वरूप तथा नाट्यकला पर पड़ने वाले उन के निर्णायक प्रभाव का कई पहलुओं से अत्यंत गंभीर विवेचन किया है। उदाहरण के तौर पर, दर्शक-वर्ग के प्रभाव के उलझे हुए नाज़ुक सवाल का कोई सरलीकृत समाधान देने के बजाय वह स्पष्टतः कहते हैं कि 'दर्शक-वर्ग की उपेक्षा करके, उस की ओर से बेख़बर हो कर सफल नाटक नहीं लिखा जा सकता। पर दर्शक-वर्ग के पीछे दौड़ कर भी किसी कलात्मक नाटक की सृष्टि संभव नहीं। लोकप्रियता और व्यावसायिकता के दबावों तथा लोक-रुचि के परिष्कार की परस्पर लगभग विरोधी अपेक्षाओं को एक साथ पूरा करना रंगकला की सचमुच एक कठिन किन्तु ज़रूरी शर्त है।'

बदले हुए और लगातार बदल रहे भारतीय और हिन्दी रंग-परिदृश्य के संदर्भ में यह ज़रूरी था कि *रंगदर्शन* के नए संस्करण में संशोधन और परिवर्द्धन होता। विषय की समन्विति एवं एकाग्रता की दृष्टि से अब 'नाट्य प्रदर्शन के कुछ विशिष्ट प्रकार' और परिशिष्ट के पाँच में से चार निबंध छोड़ दिए गए। परिशिष्ट के 'नाटक का अनुवाद' नामक निबंध को अब 'नाटक का अनुवादः नाट्य-रूप और भाषा की कुछ समस्याएँ' शीर्षक से एक स्वतंत्र अध्याय के रूप में मूल पुस्तक में ही रख लिया गया। 'लोक नाट्य' को 'पारंपरिक नाट्य' के नाम से दिया गया है तथा 'संस्कृत और पश्चिमी नाटकों का प्रदर्शन' में से संस्कृत वाले अंश का पुनर्लेखन करके 'संस्कृत नाट्य परंपरा की प्रासंगिकता' के रूप में अलग अध्याय बना दिया गया है। संभवतः ब्रैंडर मैथ्यूज़ की प्रायः पाठ्य-पुस्तक की तरह पढ़ी-पढ़ाई जाने वाली बहुचर्चित पुस्तक *द स्टडी ऑफ़ ड्रामा* की देखा-देखी *रंगदर्शन* के नए संस्करण में 'रंगशाला' और 'दर्शक-वर्ग' नामक दो ज़रूरी अध्यायों को और जोड़ दिया गया। तस्वीरें भी बदली गईं और वास्तव में सचमुच अब यह लगभग एक नई पुस्तक हो गई है। इस ग्रंथ की मूल्यवत्ता और उपयोगिता तथा इस के लेखक की गहन-सूक्ष्म अंतर्दृष्टि का इस से बड़ा और क्या प्रमाण हो सकता है कि छब्बीस वर्षों और तीन संस्करणों के बावजूद *रंगदर्शन* की अधिकांश मूलभूत स्थापनाएँ आज भी प्रासंगिक बनी हुई हैं।

रंगदर्शन के अंतिम अध्याय 'भारतीय रंग-दृष्टि की खोज' में नेमिजी ने संस्कृत नाट्य, लोक नाट्य, और पश्चिमी रंगमंच को भारतीय रंग-परंपरा के तीन स्तर मानते हुए सृजनशील कर्मी को उस से जीवित संबंध स्थापित करने की आवश्यकता पर बल देते हुए अंत में कहा था कि 'परंपरा के प्रश्न से निर्भीक साक्षात्कार आज के हमारे रंगमंच का एक अत्यंत ही मूलभूत और अनिवार्य प्रश्न है जिस का समाधान खोज कर ही हम वह रंग-दृष्टि पा सकेंगे जिसे हम अपनी कह सकें, जिस में हमारी अपनी पहचान हो, हमारा अपना व्यक्तित्त्व, अपनी पूरी सृजनशीलता में वर्तमान हो।' और यह देख कर क़तई आश्चर्य नहीं होता कि 1989 में प्रकाशित इस दूरदर्शी रंग-चिन्तक की अगली पुस्तक *भारतीय नाट्य परंपरा* इस मूलभूत और अनिवार्य प्रश्न का समाधान खोजने का आधिकारिक प्रयास करती है। भारतीय नाट्य परंपरा में निरंतरता और बदलाव के सूत्रों की पहचान एवं पड़ताल करती इस अत्यंत महत्त्वपूर्ण किन्तु छोटी-सी पुस्तक में मध्य प्रदेश उच्च शिक्षा अनुदान द्वारा आयोजित सम्मानित भाषण माला के अंतर्गत नेमिजी द्वारा दिए गए तीन व्याख्यानों को संकलित किया गया है। 'उदय और उत्कर्ष का पहला' चरण में लेखक ने

आदिम अनुष्ठानों या अनुष्ठानमूलक गीत-नृत्य, कथागायन और विशेष अवसरों पर निकाली जाने वाली झाँकियों से भारतीय जीवन में रंगमूलक कार्यकलाप की शुरुआत मानते हुए, संक्षेप में किन्तु बड़ी गहराई और स्पष्टता से, संस्कृत नाटक और रंगमंच के लगभग एक-डेढ़ हज़ार वर्ष के इतिहास के साथ-साथ उस के मूलभूत एवं जीवंत रंग-तत्त्वों का सूक्ष्म सर्वेक्षण किया है। भरत के *नाट्यशास्त्र* और उस पर परवर्ती आचार्यों की टीकाओं तथा उपलब्ध संस्कृत नाटकों की संरचना या नाट्य-निर्देशों के आंतरिक साक्ष्य के गहन अध्ययन एवं दक्षिण भारत की प्रादेशिक भाषाओं में आज भी मौजूद संस्कृत नाट्य-पद्धतियों के आधार पर निकाला गया नेमिजी का यह निष्कर्ष बहुत सही और संगत प्रतीत होता है : 'संस्कृत रंगमंच पर प्रयोग या प्रदर्शन के अन्वेषण से एक ऐसी लचीली और कल्पनाशील रंगशैली का अता-पता मिलता है जो दिखावटी टीमटाम पर नहीं, अभिनेता द्वारा एक जादुई दुनिया रच सकने की क्षमता और कुशलता पर बल देती है। अभिनेता की कला और शक्ति की ऐसी स्वीकृति संसार की किसी रंग-संस्कृति में नहीं मिलती। इस में कोई संदेह नहीं कि संस्कृत नाट्य परंपरा मानवीय सृजनशीलता की उत्कृष्टतम उपलब्धियों को सूचित करती है।'

'मध्यकालीन रंगकर्म-परंपरा का विस्तार' में संस्कृत रंगमंच के अंतिम दौर में, विभिन्न प्रदेशों तथा भाषाओं में किसी न किसी स्तर पर पहले से मौजूद, पारंपरिक रंगमंच के उभार और उस के लगभग एक हज़ार वर्ष के वैविध्यपूर्ण एवं बहुरूपी-बहुरंगी नाट्य-कर्म का विशद विवेचन किया गया है। इस खंड में नेमिजी ने पारंपरिक रंगमंच में नाट्यालेखों के अभाव, गीत, संगीत-नृत्य की प्रधानता और भक्ति आंदोलन के प्रभाव के कारणों और स्वरूप का विश्लेषण किया है। कुछ नाट्यरूप पूर्णतः भक्तिमूलक हैं, जैसे अंकियानाट, भागवतमेल, कृष्णाट्टम, कुचिपुड़ी, दशावतार, रासलीला और रामलीला। कुछ अर्द्धधार्मिक हैं जैसे जात्रा, तेरूकुत्तु, वीथिनाटक, यक्षगान। कुछ पौराणिक तथा लोक कथाओं के प्रेमाख्यानकों के साथ सामाजिक-राजनैतिक कथानकों वाले लौकिक नाट्यरूप हैं, जैसे तमाशा, भवई, माच, ख्याल, साँग, स्वांग, नौटंकी, नक़ल, भाँडपाथ; करियाला। इन के विश्लेषण के साथ उन्होंने लोक-नाट्य-रूपों के सामान्य तत्त्वों, अलग-अलग विशेषताओं और प्रदर्शन-शैलियों के विशिष्ट अंगों का सहज-सरल और दिलचस्प प्रस्तुतीकरण किया है। आम तौर से असुसंस्कृत और अकलात्मक कहे जाने वाले इस लोक रंगमंच को नेमिजी इस की शिल्पगत निपुणता, लोक-संलग्नता, प्राणवत्ता, मौलिकता और कल्पनाशीलता जैसे गुणों के कारण, संस्कृत रंगमंच की तुलना में कलात्मक सूक्ष्मता और उत्कृष्टता की कमी के बावजूद, उस से कहीं अधिक सार्थक और प्रासंगिक मानते हैं। और संभवतः इसीलिए, सामान्य धारणा के विपरीत, उन्हें इस पारंपरिक रंगमंच को भारतीय रंगमंच का ह्रास मानने की बजाय विकास मानना अधिक संगत प्रतीत होता है।

'आधुनिक युग-संघर्ष और अन्वेषण की दिशाएँ' शीर्षक लेख में 19वीं सदी में भारतीय जीवन, कला और साहित्य पर पश्चिमी संस्कृति के व्यापक प्रभाव से भारतीय रंगमंच के रूप, रंग, सौन्दर्य-बोध और आस्वाद में आए परिवर्तनों की चर्चा है। यहाँ नेमिजी ने पश्चिम-प्रेरित बाङ्ला, मराठी, कन्नड, गुजराती और व्यावसायिक पारसी रंगमंच के ऐतिहासिक रंग-परिदृश्य में 1943-44 में 'इप्टा' के उदय और पाँचवे दशक से नए भारतीय रंगांदोलन के उद्भव से आए टकरावों एवं बदलावों का अच्छा विश्लेषण किया है। छठे दशक से ले कर अब तक देश के विभिन्न भाषा-क्षेत्रों के प्रतिभावान एवं कल्पनाशील रंगकर्मियों ने पाश्चात्य, संस्कृत और पारंपरिक रंगमंच के सार्थक एवं जीवंत रंग-तत्त्वों के रचनात्मक समन्वय से आधुनिक भारतीय रंग-शैली की तलाश के बहुसंख्य और महत्त्वपूर्ण रंग-प्रयोग किए हैं। इस निबंध के उत्तरार्द्ध में उन का प्रामाणिक और अंतर्दृष्टिपूर्ण लेखा-जोखा है।

इन्हीं तीन शोध-पत्रों के किंचित संशोधित एवं संवर्धित रूप का स्वयं लेखक द्वारा किया गया अंग्रेज़ी अनुवाद *इंडियन थिएटर : ट्रैडीशन, कॉन्टिन्युइटी ऐण्ड चेंज* नाम से 1993 में प्रकाशित हुआ है। यह पुस्तक नेमिजी के

बहुआयामी व्यक्तित्व के अनुवादक रूप को भी उजागर करती है। इस बहुभाषाविद्, नाट्य-मर्मज्ञ ने इस से पहले बाङ्ला से माइकेल मधुसूदन दत्त के *क्या यही सभ्यता है?*, शंभु मित्र एवं अमित मित्र के *कांचन रंग*, विजन भट्टाचार्य के *नवान्न* और बादल सरकार के *बाक़ी इतिहास* के अलावा कन्नड से आद्य रंगाचार्य के *सुनो जनमेजय*, गुजराती से लाभशंकर ठाकर के *वृक्ष*, संस्कृत से बोधायन के *भगवज्जुकम*, महेन्द्र विक्रम के *मत्तविलास* तथा अंग्रेज़ी से इब्सन के *प्रेत* और जापानी काबुकी नाटक *इबारागी* जैसे श्रेष्ठ एवं बहुमंचित नाटकों का उत्कृष्ट अनुवाद करके समकालीन हिन्दी रंगकर्म को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

वरिष्ठ नाट्य-पत्रकार, समीक्षक और स्तंभकार के रूप में पत्र-पत्रिकाओं में नियमित नाट्य समीक्षाओं के अलावा एक जागरूक संस्कृतिकर्मी के रूप में नेमिजी संस्कृति के विविध पक्षों और रंग-सृष्टि के अलग-अलग पहलुओं एवं ज्वलंत प्रश्नों पर छोटे-बड़े लेख और टिप्पणियाँ लिखते रहे हैं। हिन्दी में लिखी गई ऐसी रचनाओं में से ख़ास दृष्टि से चुने गए लेखों और टिप्पणियों का संग्रह पिछले दिनों *दृश्य-अदृश्य* नाम से प्रकाशित हुआ है। विषय की दृष्टि से इस में संस्कृति, नए संचार साधन और कलाएँ, लोकप्रियता और रचनाशीलता, नाट्य-भाषा, परंपरा और प्रयोग, आधुनिकता, निर्देशक, अभिनेता और नाटककार, रंग-प्रशिक्षण, नाट्य विद्यालय और रंगमंडल, मौलिक और अनूदित नाटक, व्यावसायिक रंगमंच, जन नाट्य संघ, दर्शक, व्यवस्था बनाम रंगकर्म, पूर्वी एवं पश्चिमी रंगमंच के अंतः-संबंध, यूरोपीय रंग-जगत और नाट्यालोचन से संबंधित 57 टिप्पणियाँ शामिल की गई हैं। रंगकर्म की सामयिक समस्याओं और उस के विविध पक्षों पर प्रायः तात्कालिक प्रतिक्रिया के रूप में लिखी गई *दृश्य अदृश्य* की इन अख़बारी टिप्पणियों को भी नेमिजी ने अपनी संतुलित-सुचिन्तित दृष्टि, सहज-सरल भाषा और विश्लेषणपरक तार्किक शैली से गंभीरता और गरिमा प्रदान की है। *दृश्य अदृश्य* एक प्रकार से *रंगदर्शन* की सैद्धांतिक मान्यताओं एवं कसौटियों को व्यवहार और समय के धरातल पर जाँचती-परखती और अंततः सही सिद्ध करती है।

मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक 1993 का प्रमुख प्रकाशन होने के साथ-साथ अपनी अनूठी संपादकीय परिकल्पना की दृष्टि से अपनी तरह का पहला और अकेला ग्रंथ है। इस में आधुनिक हिन्दी एवं भारतीय रंगकर्म की युगांतरकारी रचनात्मक नाट्य-प्रतिभा मोहन राकेश के चारों संपूर्ण नाटक— *आषाढ़ का एक दिन*, *लहरों के राजहंस*, *आधे अधूरे* और (मोहन राकेश के मरणोपरांत उन के अभिन्न मित्र कमलेश्वर द्वारा पूरा किया गया) *पैर तले की ज़मीन* शामिल हैं। उन के सभी संस्करणों की लेखकीय भूमिकाओं तथा इन नाटकों की सृजन-प्रक्रिया से संबद्ध स्वयं मोहन राकेश की डायरी के कुछ महत्त्वपूर्ण अंश और उद्धरण भी नाटकों के साथ प्रकाशित किए गए हैं। इन नाटकों पर प्रखर समीक्षक-संपादक नेमिजी की एक विस्तृत मूल्यांकनपरक समीक्षात्मक भूमिका के अतिरिक्त राकेश के प्रमुख निर्देशकों, कलाकारों और समालोचकों के छोटे-बड़े आलेख तथा वक्तव्य भी शामिल किए गए हैं। मोहन राकेश के नाटकों की देश-विदेश में हुई उल्लेखनीय बहुभाषी प्रस्तुतियों की सूचियों तथा *कुछ और सामग्री* के अंतर्गत पुस्तक के अंतिम खंड में प्रकाशित, जयदेव तनेजा के 'हिन्दी रंगांदोलन में राकेश का योगदान', जगदीश शर्मा के 'अन्तस्सूत्र' एवं प्रतिभा अग्रवाल के 'तीनों नाटक एक

साथ' जैसे समीक्षात्मक लेखों ने इस ग्रंथ को समग्रता का नया आयाम प्रदान किया है। इन के अलावा, राकेश के नाटकों की बहुरंगी दृश्यात्मकता को रेखांकित करते हुए बहुसंख्य छायाचित्रों और सुरुचि-संपन्न, साफ़-सुथरे और आकर्षक प्रकाशन ने इस संग्रह को सचमुच एक यादगार और संग्रहणीय ग्रंथ बना दिया है।

चर्चित किताबें :.

रंगदर्शन : नेमिचंद्र जैन; राधाकृष्ण प्रकाशन, 2/38, अंसारी मार्ग, नई दिल्ली 110002; मूल्य 100 रुपए

इंडियन थिएटर : ट्रैडीशन, कॉन्टिन्यूइटी एण्ड चेंज : नेमिचंद्र जैन; विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा. लिमिटेड, 576, मस्जिद रोड, जंगपुरा, नई दिल्ली 110014; मूल्य 150 रुपए

दृश्य अदृश्य : नेमिचंद्र जैन; वाणी प्रकाशन, 4697/5, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली 110002; मूल्य 190 रुपए

मोहन राकेश के संपूर्ण नाटक : नेमिचंद्र जैन (सं.); राजपाल एण्ड संस, कश्मीरी गेट, दिल्ली 110006; मूल्य 300 रुपए

मोहन थपलियाल

नई भूमियों की खोज : तीन हिन्दी उपन्यास

युवा हिन्दी कथाकार अखिलेश का उपन्यास *अन्वेषण* यूनिवर्सिटी से पढ़-लिख कर एम.ए. कर चुकने के बाद बेरोज़गार एक ऐसे युवक की संघर्षपूर्ण कहानी है, जो शहर और गाँव के बीच भटकता है और नौकरी उसे मिल नहीं पाती। वह उनत्तीस साल का हो गया है। वह महसूस करता है कि 'उस के भीतर कुछ भी नहीं रह गया है—अँतड़ियाँ, फेफड़े, सारे अंग खो गए हैं। रक्त भी नहीं। सिर्फ़ नसें ही नसें बिछी हैं।'

इस के बावजूद *अन्वेषण* का यह बेरोज़गार युवक एकदम आशाहीन भी नहीं है। आशा-निराशा के बीच झूलता हुआ वह निरंतर संघर्ष कर रहा है। अखिलेश का यह उपन्यास इसी मायने में बेहतर बन पड़ा है कि उस ने एक बेरोज़गार युवक की कहानी को पारंपरिक ऊब, कुंठा, हताशा और अवसाद की जकड़ से बाहर निकाल कर, इस युवक को काफ़ी हद तक अड़ियल, ज़िद्दी, कर्मठ, आत्माभिमानी और आत्मान्वेषी ही नहीं बनाया है, बल्कि बाहर की दुनिया के साथ मिल कर उस जिजीविषा की तलाश में भी लगाया है जिस के चलते वह भूखी-नंगी-प्यासी और दुखी दुनिया को अन्न-वस्त्र-जल और सुख दे सके।

अखिलेश ने पूरे उपन्यास में सरल और छोटे-छोटे वाक्यों में जिस चुटीली भाषा का प्रयोग किया है, उस से हिन्दी गद्य को एक नई जान मिली है। मसलन 'दोस्ती की बूँदाबाँदी', 'मेरा जीवन हमेशा इसी तरह रेत नहीं था', 'सवाल अलग-अलग हैं, मगर जवाब एक है, रूप अलग-अलग हैं, मगर ईश्वर एक है' और 'इतना मुस्कराया कि लगभग हँस पड़ा'। इस तरह के छोटे, चुटीले और व्यंग्यात्मक वाक्यों की बौछार अंत तक क़ायम रहती है।

उपन्यास की कहानी में नायक की एक पूर्व-प्रेमिका विनीता भी है, जो अब एक अफ़सर की बीवी है। इसी प्रसंग में इलाहाबाद विश्वविद्यालय, शहर और अफ़सरों की बस्ती चैथम लाइंस का माहौल भी लेखक ने छुआ पकड़ा है। गाँव में एक दूसरे का दुख बाँटते हुए नायक के माता-पिता हैं। रिटायर होने पर पिता अपने जीवन की गाढ़ी कमाई का एक अच्छा-ख़ासा हिस्सा (27 हज़ार) लड़के की नौकरी की ख़ातिर घूस देने को तैयार हैं, लेकिन नायक ऐसा नहीं होने देता। पिता रिटायर होने के बाद परिवार की जीविका चलाने के लिए कोई दूसरा काम पकड़ चुके हैं। नायक जैसे-तैसे शहर में ट्यूशन करके अपना गुज़ारा चलाता है। उस की पूर्व-प्रेमिका का पति सुरेन्द्र (एस.डी.एम.) नायक के राघव नाम के एक पुराने मित्र से बुरी तरह आतंकित है। राघव किसी आंदोलन से जुड़ा है। राघव इस उपन्यास में दरअसल जुलूस, नारों, आंदोलन, नेतृत्व-क्षमता और बिना उल्लेख किए क्रांति का प्रती

भी है। उपन्यास का नायक महसूस करता है कि राघव गाँव, क़स्बे, शहर और महानगर तक छाया हुआ है, लेकिन हक़ीक़त में कोई उस तक अभी पहुँच नहीं पाया है। यह बेरोज़गार नायक भी उसी 'राघव' नाम के व्यक्ति को खोज रहा है, जो क्रांति का प्रतीक है और उसे उम्मीद है कि किसी न किसी दिन वह राघव को पा जाएगा।

डोगरी (और हिन्दी) भाषा की सुप्रसिद्ध कवयित्री और लेखिका पद्मा सचदेव का हिन्दी में लिखा पहला उपन्यास है, *अब न बनेगी देहरी*। इस की भाषा में सरल-सुबोध प्रवाह, सरसता और कथा-तत्त्व की मज़बूत बुनावट है। कथा का परिवेश आंचलिक होने के बावजूद इस उपन्यास में अंचल विशेष के शब्दों की भरमार नहीं है, और जहाँ थोड़े-बहुत हैं, उन के अर्थ हिन्दी में दिए गए हैं। हाँ, कहानी के लोकगुण को समेटते हुए लेखिका ने इसे एक ऐसी शैली में ढाला है कि पाठक इस की काव्यमय हिन्दी को पढ़ने में काफ़ी लुत्फ़ उठा सकता है।

कहानी एक ऐसी खूबसूरत युवती रेवती की जीवनगाथा है जो कम उम्र में ही विधवा हो गई है। दरअसल रेवती का श्वसुर जानता था कि उस के पुत्र सुंदर को दिल का रोग है, फिर भी वंश-परंपरा बढ़ाने के लालच में उस ने सुंदर की शादी रेवती से करा दी थी। सुंदर शादी के कुछ ही महीनों बाद मर गया। अब रेवती अकेली हो जाती है, उस के माँ-बाप भी तीर्थ पर चले जाते हैं। मुसीबत की मारी रेवती एक रात घबरा कर आत्महत्या के इरादे से शिवमंदिर की बावड़ी में कूद जाती है, लेकिन इत्तफ़ाक से मंदिर के महंत गिरीबाबा उसे बचा लेते हैं। इस के बाद रेवती और गिरीबाबा एक दूसरे से आत्मिक प्रेम करने लगते हैं। ससुराल की प्रताड़ना से बचने की ख़ातिर एक दिन रेवती मंदिर में आ कर ही एक कुटिया में रहने लगती है। यह कुटिया गिरीबाबा के सेवक मुकद्दम चाचा की है, जो रेवती को बिटिया की तरह सँभालते हैं।

रेवती और गिरीबाबा का आत्मिक प्रेम धीरे-धीरे प्रगाढ़ हो कर शारीरिक भी हो गया है और अंततः वह इसीलिए जीवित समाधि ले लेते हैं।

रेवती को पता है कि उस की एक बुआ भी एक महंत के प्रेमजाल में पड़ी थी और उस की बुआ की इसी कारण दहरी (समाधि) बनी थी, लेकिन अब वह प्रण करती है कि लोकलाज के भय से अपनी समाधि नहीं बनने देगी। रेवती मंदिर छोड़ कर अपनी नई डगर पर चल पड़ती है, सचमुच अपने संघर्ष की राह खुद तय करने और समाज से लोहा लेने के लिए भी।

इस प्रकार यह उपन्यास औरत की जीत पर ख़त्म होता है और यही इस उपन्यास का एक बड़ा अर्थ भी खोलता है। महंत चाहे कितना ही पवित्र, भला और उदार चित्त का क्यों न रहा हो, आख़िरकार अपनी मर्यादा बचाने के स्वार्थ में वह कायर ही सिद्ध होता है और इस कायरता को छुपाने के लिए जीवित समाधि की शरण ले कर लोगों की श्रद्धा का प्रतीक बना रहता है। समाधि लेने के वक्त जहाँ गाँव-जहान के सब लोग दर्शन करने उमड़ रहे हैं, रेवती उधर न जा कर अपना दूसरा रास्ता पकड़ती है, जहाँ उसे अपनी लड़ाई खुद लड़ कर अपना और अपने होने वाले बच्चे का पेट पालना है।

उ*गते सूरज की किरन* शैलेश मटियानी का एक ऐसा उपन्यास है, जिस में कुमाऊँ के लोकगाथा शिल्प को उन्होंने मूल रूप में ज़िन्दा रखा है। यह उपन्यास कुमाऊँ की प्राचीन मल्ल परंपरा (रणबाँकुरे वीरों) पर केन्द्रित है, जिस में बेहरीकोट के रणजीत बौर और चंदरी बौर इन दो भाइयों की वीरगाथा है। नायिका और खलनायिका के

बतौर सुमंगला सरुली बौरी (चंदरी बौर की पत्नी) और जयमाला बौरी (रणजीत बौर की पत्नी) है। खलनायकों के रूप में करैती कोट के बाईस करैत भाई हैं, जिन्हें जयमाला बौरी में आसक्ति है और अपने कुटिल चरित्र के कारण जयमोला भी इन्हीं बाईस भाइयों को चाहती है। उत्तराखंड से दूर इंद्रप्रस्थ नगरी के राजा विक्रमभानु के दरबार को तहस-नहस करने के इरादे से आए काबुली पठान शेर ख़ाँ व शमशेर ख़ाँ दो भाई हैं। ये दोनों पठान जब राजा विक्रमभानु को परेशान कर देते हैं तो इन्हें पराजित करने वाला वीर मल्ल भी रणजीत बौर ही है।

एक चरित्रहीन छबीली औरत (जयमाला) अपने परिवार के ऊपर विपत्ति के क्या-क्या क़हर ढा सकती है और एक सच्चरित्र स्त्री (सरुली) किस प्रकार अपनी मर्यादा पर क़ायम रहते हुए अपने परिवार को सुख-समृद्धि और शांति दिला सकती है—मूलतः इसी का निरूपण इस लोक-गाथा में तमाम चारित्रिक भंगिमाओं एवं बारीक़ियों के साथ किया गया है। शैलेश मटियानी की इस रचना से हिन्दी की लोक-कथा शैली का जो समृद्ध रूप उभर कर सामने आता है उस से यह स्पष्ट होता है कि लोक-कथा गायकों की भाषा का रूप-विन्यास, अलंकार-विधान, शब्द चयन, बिम्ब, प्रतीक एवं उपमाओं की प्रस्तुति का ढंग अनूठा ही नहीं, अद्‌भुत भी होता था। एक प्रकार से यह एक ऐसा जड़ाऊ क़िस्म का रचना-विधान होता था जैसा कि एक स्वर्णकार कलात्मक आभूषणों की गढ़ाई में उपयोग करता है। शैलेश मटियानी की ख़ूबी इसी में है कि उन्होंने इस रचना-विधान को हू-ब-हू हिन्दी में रूपांतरित करने की सफल और सार्थक चेष्टा की है। ठेठ आंचलिक शब्दों के हिन्दी अर्थ भी फुट नोट्स में दे दिए गए हैं। लेखक ने अपने वक्तव्य में कहा भी है कि उन्होंने लोकगाथाओं के मूल शिल्प में ही इस कथाकृति को प्रस्तुत करने का प्रयत्न इसी इरादे से किया है कि सुदूर अंचलों में व्याप्त सांस्कृतिक रुचि और लोक-मानस की सौन्दर्य-प्रियता का अहसास सामान्य हिन्दी पाठक तक भी पहुँच सके।

चर्चित किताबें :

अन्वेषण : अखिलेश; राधाकृष्ण प्रकाशन, 2/38, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002; मूल्य 45 रुपए

अब न बनेगी देहरी : पद्‌मा सचदेव; हिन्द पॉकेट बुक्स, जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली 110032; मूल्य 45 रुपए

उगते सूरज की किरन : शैलेश मटियानी; आशु प्रकाशन, 1143/31, पुराना कटरा, इलाहाबाद; मूल्य 50 रुपए

किताबें—4

धर्मपाल अकेला

विदेशी अनुवाद : हमारी अपेक्षाएँ

हिन्दी में छपने वाला अधिकांश साहित्य बिक्री को प्रमुखता देने वाला 'पॉपुलर' साहित्य है। प्रकाशक चाहने लगे हैं कि लेखक उन की माँग पर उन की मंशा के अनुरूप साहित्य लिखें। यदि हिन्दी के लेखक उन की कसौटी पर खरा उतरने वाला साहित्य न दे पाएँ तो वे विदेशी अनुवाद छापने लग जाते हैं—कि यह विश्व साहित्य है। बड़े-बड़े नाम और बड़ी-बड़ी टिप्पणियाँ पुस्तकों पर देख कर पाठक मानने लगता है कि वह महान साहित्य पढ़ रहा है।

अभी कुछ अनुवादित पुस्तकें *कूप और काल, नाच के बाद, इंसान या शैतान, हीरे का हार, एक अनजान औरत का ख़त* और *राशोमोन* हिन्दी में आई हैं। उन के लेखक एडगर एलन पो (अमेरिका), लियो टॉलस्टॉय (रूस), आर.एल. स्टीवेन्सन (इंग्लैंड), मोपासां (फ्रांस), स्टीफ़न ज़्विग (स्टेफ़ान त्स्वाइग) (जर्मनी) और राईनोसुके आकुतागावा (जापान) हैं जिन की ख्याति विपुल लेखन के लिए है, और सिवाय टॉलस्टॉय के सभी 'पॉपुलर' लेखक हैं।

ये सारे लेखक प्रायः पिछली शताब्दी के हैं, जब अमेरिका, रूस, इंग्लैंड, जर्मनी, फ्रांस और जापान में मान्यताओं में व्यापक फेर-बदल, पारिवारिक विघटन और नैतिक अवमूल्यन की स्थितियाँ पैदा हो रही थीं। औद्योगिक विकास से सौदागरों का एक नया वर्ग उदित हो रहा था। समाज में समृद्धि आई, साथ ही असंतोष और अस्थिरता का भाव भी पैदा हुआ। निराशा, घुटन और ऊब पैदा हुई। बड़े-बड़े नगर व्यावसायिक केन्द्र बने और गंदी बस्तियाँ भी इतस्ततः उगने लगीं। सस्ते श्रमिक पाने के लालच में अल्प वयस्क बालक-बालिकाओं को काम में जोता जाने लगा। शोषण शुरू हुआ तो सामाजिक न्याय की माँग भी उठाई जाने लगी।

विज्ञान और तकनालॉजी के बल पर समृद्ध होता समाज अपनी ही बुनियादों के प्रति शंकित हो कर उन्हें जाँचने-परखने लगा। विज्ञान से अपार शक्ति पा कर मनुष्य जहाँ इतराने लगा, वहीं विनाश की कल्पना उसे बेचैन भी करने लगी। इस युग में चर्च में घंटे ज़रूर ज़्यादा बजाए गए, लेकिन उस अनुपात में व्यक्तियों में दया-भावना विकसित नहीं हुई। व्यक्ति की औक़ात, ख़ास तौर से बुद्धिजीवियों एवं लेखकों की, संगठनों (चर्च) के मुक़ाबले कम करके कूती जाने लगी। उस दौर में साक्षरता के प्रसार के कारण नवसाक्षरों की बौद्धिक क्षुधा-पूर्ति के लिए लेखकों ने समय और श्रम लगा कर ढेर सारा साहित्य लिखा। लेकिन बड़े लेखक तो वे ही होते हैं, और उन्हीं की रचनाएँ कालजयी होती हैं, जिन के विचार समाज की कला-चेतना को प्रभावित करते हों, नई पीढ़ियों के सामाजिक

जीवन के सृजनात्मक विकास में सहायक हों।

इन लेखकों में स्टीवेन्सन आजन्म अस्वस्थ रहे, पो और मोपासां ने आत्महत्या की चेष्टाएँ कीं; ज़्विग और आकुतागावा ने आत्महत्या कर जीवन का अंत किया; टॉलस्टॉय विक्षुब्ध हो कर घर से भाग गए तथा उस अभिनिष्क्रमण के दौरान ही उन की मृत्यु हुई। लेकिन इन की इन रचनाओं में उन के जीवन की (या युग की) उन परिस्थितियों का आवेग नहीं है जिन में इन लेखकों के लिए सामान्य जीवन दुःसह हो गया था। इन कृतियों में इन लेखकों का शिल्प नैपुण्य भले ही चरम पर है, लेकिन ये कृतियाँ उन की 'अमर कृतियाँ' या बहुमूल्य दस्तावेज़ कैसे मानी जा सकती हैं?

मन के भीतर ऐसा बहुत कुछ है जो अव्याख्येय है, जिस का संबंध रहस्यमय लोक से है, लेकिन उस सब को विस्मृत करके हम अपने परिचित लोक से ही संबंध रखते हैं। एडगर एलन पो मनुष्य के मन के भीतर के रहस्यागारों में प्रविष्ट होता है। वहीं की उथल-पुथल उस की कला का उपजीव्य है। व्यक्ति विशेष के मन में समय-समय पर जो सूक्ष्म अनुभव उदित होते हैं, भंग की तरंग में जो हिलोरें उठती हैं, अर्धजागृतावस्था में स्वप्न की तरह जो विचार तरंग उठती हैं, वैसा ही कुछ उस की कहानी 'कूप और काल' में है। 'बोतल में मिली पांडुलिपि', 'जब हत्या सिर चढ़ कर बोली', 'पेरिस की भीषण हत्याएँ', 'शराब का पीपा' आदि कहानियों में भय, अपराध, रहस्य और आतंक आदि हैं। 'सुनहरा खटमल' में ख़ज़ाना खोजने की कहानी है, 'और फिर हवेली ढह गई' में अस्पष्ट शब्द-संकेतों द्वारा एक असंतुलित व्यक्ति की मानसिक स्थिति का वर्णन है। 'विलियम विल्सन' में व्यक्ति के भीतरी और बाहरी रूपों में वैषम्य दिखाया गया है। कहा जाता है कि वह मानव मन के सीमांत का लेखक है, लेकिन उस में करुणा नहीं, आतंक के अंकन की ललक है। उस के पास इतना समर्थ शब्द जाल है जिस में पाठक अंत तक कुछ पाने की आशा में उलझा रहता है, पर मिलता कुछ नहीं है। शायद उस की रचनाएँ देख कर ही फ्रॉयड ने 'स्वप्नों की व्याख्या' का काम हाथ में लिया होगा।

पो की रचनाओं के समान कुछ रचनाएँ रवीन्द्रनाथ ने भी लिखीं—'क्षुधित पाषाण', 'निशीथे' और 'मणिहारा'। लेकिन मनुष्य के मनस्तत्व के विश्लेषण में पो से रवीन्द्रनाथ बहुत आगे हैं। कोमलता और भयंकरता को ले कर मनुष्यों में जो खींचतान रहती है उसी का विशद अंकन 'क्षुधित पाषाण' में है। कंकाल के निशाभ्रमण को संभाव्यता की सीमा तक पहुँचाने का कमाल दिखाते हुए 'मणिहारा' में भय और विस्मय के भावों का उद्रेक किया गया है। 'निशीथे' में जीर्ण प्रासाद चित्रित कर नायक के मन पर भय का प्रभाव इतनी कुशलता से उकेरा गया है कि पो के 'हाउस ऑफ़ अशर' का असर फीका पड़ जाता है। रवीन्द्रनाथ की खूबी यह है कि कहानियों में गूँथा गया रहस्य जाल क्षण-स्थायी है। इस मायाजाल को तोड़ने में रवीन्द्रनाथ का मुख्य अस्त्र हास्य रस है। 'क्षुधित पाषाण' का आरंभ और अंत व्यंग्य में हुआ है।

रवीन्द्रनाथ कैसा भी जाल रचें, उस का लोक से संबंध उन्होंने टूटने नहीं दिया, जबकि पो के यहाँ सर्वत्र भय और आतंक ही है। चरित्रांकन और इतिहास-भूगोल की तथ्यात्मक भूलों के बावजूद वह पाठक को भरमाने में सफल रहता है। उस के एक पात्र ने कहा तो है कि 'मैं दिवास्वप्न देखने का आदी नहीं हूँ', लेकिन उस के लेखन में ऐसी कोई बाधा भी नहीं है जो पाठक को दिवास्वप्नों में खो जाने से बरज सके।

पो के पात्र 'स्किज़ोफ्रेनिक' (विभाजित मानस वाले) लगते हैं। रहस्यमय लोक की सृष्टि उस के अस्वस्थ चित्त से ही हुई है। अपने आप को संसार में 'मिसफ़िट' समझने वाला व्यक्ति अपनी कल्पना में ऐसा घर बना लेता है, जिस में सारा सब कुछ उसी की मर्ज़ी से हो। पो की 'हवेली फिर ढह गई' और आकुतागावा की 'काप्पा' ऐसी ही मतिविभ्रमता की कहानियाँ हैं। मन की ऐसी अस्वस्थ-चित्तता रवीन्द्रनाथ में क्षणिक है—पो के यहाँ वह स्थायी है।

पुस्तक में टिप्पणी है कि पो की कहानियाँ 'आज भी वैसी ही ताज़ादम हैं क्योंकि ये आज के संदर्भों में भी जीवन के सत्यों का उद्घाटन करती हैं।' पूछा जा सकता है कि कहीं पठनीयता को ही तो प्रासंगिकता नहीं मान लिया गया है? ये कहानियाँ सांप्रतिक जीवन के कौन-से सत्यों का उद्घाटन करती हैं?

टिप्पणी में एक और संदिग्ध बात यह कही गई है कि पो के कथा-साहित्य के बाद विदेशों में रहस्य-रोमांच को साहित्य की गंभीर श्रेणी में रखा जाने लगा। साहित्य के पाठक जानते हैं कि अंग्रेज़ी साहित्य में रहस्य-रोमांच की परंपरा पो के जन्म के बहुत पहले से ही चली आ रही थी जो जेन ऑस्टिन के आगमन के बाद क्षीण हुई। पो ने जब अमेरिका में रहस्य-रोमांच की कथाएँ लिखनी शुरू कीं, तब तक इंग्लैंड में उस परंपरा पर ख़ाक़ भी डाली जा चुकी थी। गोथिक (भयपरक) उपन्यासों की परंपरा में पहला नाम होरेस वॉल्पोल का था, जिस ने मध्यकालीन इटली के पापाचार पूर्ण वातावरण का अंकन करने के लिए द *कैसल ऑफ़ ओटेन्टो* नामक उपन्यास लिखा था। वॉल्पोल ने अभिजात-कुलीय समृद्धि के वातावरण में 'हिप्पोक्रेट्स' को भरपूर नंगई करते देखा था। व्यापार आदि से आई समृद्धि से वहाँ एक ऐसा वर्ग उदित हुआ था जिस के पास असीमित अवकाश था। उन निठल्लों को वक़्त-कटी के लिए साहित्य देना था। उस काल में लोगों का प्रेम पुरातत्व के लिए भी उमड़ा था, वॉल्पोल पुरातत्वविद् था। उन की ज़मीन्दारियों में खड़े ध्वस्त गिरजे और हवेलियाँ उन की रोमैन्टिक तुष्टि का आधार बने। लोक रंजकता की इसी परंपरा में द *मंक, टेल्स ऑफ़ वंडर, टेल्स ऑफ़ हॉरर, द हिस्ट्री ऑफ़ कालिफ़ वार्थेक,* द *मिस्ट्रीज़ ऑफ़ उडोल्फी, दी इटैलियन मेल मोथ* द *वांडरर* और *फ्रैकेंस्टीन* आदि अनेक उपन्यास हैं। जेन ऑस्टिन ने *नार्थेगर अबे* लिख कर इन लोमहर्षक उपन्यासों पर क़रारी चोट की थी। इन उपन्यासों की बड़ी खूबी और कमी यही थी कि ये नैतिकता के विचार से एकदम शून्य थे। रहस्य-रोमांच और अतीन्द्रिय विषयों पर हमारे यहाँ पर्याप्त लेखन होता रहा है। देव गंधर्व, सर्प, पशु-पक्षी, प्रेत आदि *पंचतंत्र, बैताल पच्चीसी, रामायण* और *महाभारत* में भी तो हैं!

नाच के बाद में टॉलस्टाय की तीन कहानियाँ संग्रहीत हैं—'नाच के बाद', 'दो हुस्सार' और 'इवान इल्यीच की मौत'। 'नाच के बाद' में स्त्री-पुरुषों के सहजाकर्षण, पारस्परिक संबंधों और प्रेम में तल्लीनता की रस-पगी कहानी है। 'दो हुस्सार' में पिता-पुत्र के माध्यम से दो पीढ़ियों की आर्थिक एवं व्यावहारिक सोच में अंतर दिखाते हुए स्त्री के प्रति समान लोभ किन्तु नई पीढ़ी की साहसहीन लालसा का अंकन हुआ है। बाह्य आडंबरों के पीछे छिपी यथार्थपरकता को खोज निकालने की पटुता 'इवान इल्यीच की मौत' में चित्रित हुई है। इस में टॉलस्टॉय के मृत्यु-बोध और आध्यात्मिक उत्थान के मध्य उन के वैचारिक संघर्ष को उजागर करती उन की हताशा की कहानी है। इवान की मृत्यु के बाद उस के सहकर्मियों और परिवारजनों की प्रतिक्रियाएँ और मृत्यु से हुई रिक्ति के बहाने उन्होंने दरअसल बदलते हुए जीवन मूल्यों को निरीह दृष्टि से देखा है। यह जानना दिलचस्प होगा कि सॉमरसेट मॉम ने *विश्वप्रसिद्ध उपन्यास और उपन्यासकार* पुस्तक में *युद्ध और शांति* को विश्व का महान उपन्यास बताते हुए भी, महान उपन्यासकार बाल्ज़ाक को माना, टॉलस्टॉय को नहीं!

भारतीय पाठकों के लिए उन की किताब *रिसरेक्सन* (पुनरुत्थान) का प्रकाशन अधिक अच्छा रहता। *रिसरेक्सन* का अनुवाद हिन्दी में लगभग पचास वर्ष पहले रुद्रनारायण अग्रवाल ने किया था जिस की उन दिनों बहुत प्रशंसा हुई थी। शरतचंद्र तो उस किताब पर मुग्ध ही हो गए थे और इसी से उन की जीवनी *आवारा मसीहा* (विष्णु प्रभाकर) में उस की चर्चा कई बार हुई है। (*रिसरेक्शन* का भीष्म साहनी का अनुवाद बाद में मास्को से भी छपा है।)

भीष्म साहनी द्वारा अनूदित टॉल्सटॉय की ये कहानियाँ मास्को से बहुत पहले छप चुकी हैं। इसी शीर्षक से एक किताब हिन्द पॉकेट बुक्स पहले भी निकाल चुके हैं, फिर भी यह पहला संस्करण बताया गया है। अनुवाद की भाषा भीष्म साहनी की साहित्यिक प्रतिभा के अनुरूप नहीं बन पड़ी है और कहीं-कहीं अटपटी लगती है।

लंबे-लंबे उपन्यासों से पाठकों को ऊबता पा कर प्रकाशकों ने जब छोटी-छोटी रचनाएँ छापने की मुहिम शुरू की, तब उन की माँग पर लिखने वाले लेखकों में आर.एल. स्टीवेन्सन सब से आगे थे। पो की कथा 'विलयम विलसन', जिस में व्यक्ति के भीतरी और बाहरी रूपों की कशमकश है, स्टीवेन्सन के उस वक़्त बहुत काम आई, जब उस ने *द स्ट्रैन्ज केस ऑफ़ डॉ. जैकिल एंड मिस्टर हाईड* (इंसान या शैतान) तथा 'मार्खीम' लिखी। *इंसान या शैतान* में व्यक्ति के दुहरे व्यक्तित्व की चर्चा है। मार्खीम एक खूनी है और अंत तक यही पता नहीं चलता कि वह खूनी क्रूर दानव है या देवता। इस में दोस्तोएव्स्की की *क्राइम एंड पनिशमैन्ट* के समान विपरीत भावों की अभिव्यक्ति हुई है। यदि हम उसे हत्यारा मानें तो भी वह पाठकों की सहानुभूति का हक़दार है। जार्ज मेरेडिथ के उपन्यास *दई गोईस्ट* में भी नायक का चरित्र ऐसा ही है।

स्टीवेन्सन भाव-भोगवादी लेखक है। कला-नैपुण्य के बावजूद उस की कृतियों की मौलिकता संदेह की छायाओं से मुक्त नहीं रही। वह अपनी अनूठी अंग्रेज़ियत और लेखकीय श्रमनिष्ठता तथा लोकरंजन की अपनी प्रतिबद्धता के कारण पृथ्वी पर दूर-दूर तक, जहाँ-जहाँ अंग्रेज़ कारकुन पहुँचे, जाना और पढ़ा गया।

स्टीवेन्सन की कृतियों में कथानक की रोचकता और बिक्री के रिकार्ड से आकर्षित हो कर अनेक प्रकाशकों ने उस की कृतियों के हिन्दी अनुवाद छापे और बेचे थे। यह पुस्तक भी पहले हिन्द पॉकेट बुक्स से ही छप चुकी है। एक 'पॉपुलर' भारतीय लेखक ने उस की *ट्रैवल विथ डंकी* की स्पर्धा में *गधे की आत्म-कथा* भी लिखी थी।

स्टीवेन्सन को लेखन से धनार्जन करते देख कई अन्य लोग लेखन में उतरे लेकिन उन में से कोई भी 'सही लेखक' नहीं माना जा सका। राइडर हैगर्ड, ऑर्थर कॉनन डॉयल, मिसेज़ हम्फ्रीवार्ड, मेरी कोरेली, ग्रांट ऐलन, एडगर वालेस, पी.जी. वुडहाउस और हाल्केन ऐसे ही लोगों में थे, यद्यपि इन की कृतियों के हिन्दी अनुवाद भी खूब बिके हैं। हॉल्केन के संबंध में एक उल्लेखनीय बात यह है कि उस की कृति *इटर्नल सिटी* की लोकप्रियता से प्रलोभित हो कर प्रेमचंद ने उस का कथासार अपनी कहानी 'विश्वास' में टीप लिया था। यह 'विश्वास' उन के गल्पसंग्रह *प्रेमप्रमोद* की पहली कहानी है। *इटर्नल सिटी* के आधार पर गिरजादत्त शुक्ल 'गिरीश' ने *संदेह* नामक उपन्यास लिखा था। श्रीकृष्णदत्त पालीवाल ने *इटर्नल सिटी* का अनुवाद किया था। *विश्वास* को ले कर जब प्रेमचंद जी की आलोचना *सुधा* पत्रिका में शिलीमुख ने की, तो विवश प्रेमचंद को स्वीकार कर लेना पड़ा था कि पालीवाल-कृत अनुवाद को पढ़ कर उन के मस्तिष्क पर जो असर हुआ था, 'विश्वास' उस की विकृत छाया थी।

अनुवादों की विकृत छाया प्रस्तुत करने का लोभ कई लेखकों को हुआ है। रांगेय राघव ने भी अपने उपन्यास *अँधेरे की भूख* में राइडर हैगर्ड के उपन्यास *शी* का सहारा लिया था। हिन्दी के कई होनहार लेखक पैसा कमाने के लिए ऑर्थर कॉनन डॉयल के पथ पर चलते-चलते खो गए हैं।

जर्मन साहित्य विश्व में एक प्रौढ़ साहित्य माना गया है लेकिन चलताऊ उपन्यास जर्मन भाषा में भी बहुत लिखे गए हैं। स्टीफेन ज़्विग (स्तेफ़ान त्स्वाइग) का *एक अनजान औरत का ख़त* उसी श्रेणी का उपन्यास है। यह अतिशय भावुकता-पूर्ण रचना है। अल्पायु में प्रेमरस में परिपक्व लड़की अपने प्रेमी को कभी रू-ब-रू यह नहीं बता पाई कि वह है कौन और अंत में जब वह उसे पत्र लिखती है तो नायक-लेखक कुछ भी याद नहीं कर पाता

और उस पत्र को सपना मान लेता है। ज़्विग अद्भुत चरित्रकार था। 'शतरंज' और 'बीते दिन' कहानियाँ उस की अद्भुत शैली और चरित्रांकन की क्षमता के साक्ष्य हैं। लेकिन इन्हें बार-बार नहीं पढ़ा जा सकता, क्योंकि नायक-नायिका और उन के बीच तीसरा आदमी अब हिन्दी के लिए बहुत पुराना विषय हो चुका है।

ज़्विग की ये रचनाएँ हिन्दी में पहले भी कई बार आ चुकी हैं। ज़्विग को दरअसल उन के लिखे जीवन-चरित्रों या युद्ध-विरोधी नाटक *येरेमिआस* के लिए ख्याति मिली थी। ज़्विग ऑस्ट्रिया का सब से अल्पायु लेखन-जीवी था। नात्सी जर्मनी से पलायन कर ब्राज़ील में उस के निवास और वहीं आत्महत्या के बाद उस की आत्मकथा *विगत कल का विश्व* ('द वर्ल्ड ऑफ़ यस्टरडे') से पता चलता है कि वह अत्यंत संवेदनशील व्यक्ति था।

मोपासां ने कई उपन्यास लिखे लेकिन फ्रांस में उसे केवल लघु कथाकार के रूप में ही जाना गया है। वह भाषा के निखार और शैली की स्पष्टता के लिए प्रसिद्ध है। उस की कहानियाँ शब्दों की किफ़ायतसारी का नमूना हैं। जिन महत्त्वपूर्ण पहलुओं के प्रकाशन पर सामाजिकता और भाषा ने रोक लगा दी है, मोपासां उन को अपनी रचना का विषय बनाने में नहीं झिझकता। लेकिन वास्तविकता का अंकन करते समय वह कई बार श्लीलता की सीमा भी लाँघ सकता है। वह ज़ोला और फ़्लावेयर का अनुवर्ती है।

कहानी 'एक औरत की ज़िन्दगी' उस के निराशापूर्ण प्रकृतिवाद का साधारण-सा नमूना भर है। अपनी मोहग्रस्तता और स्मृतियों से जुड़ा कुछ भी न छोड़ सकने की आदत के कारण पति और बेटे को खो देने वाली जीन अंत में बेटे की बेटी को गोद में उठाए हुए आशान्वित है कि एक दिन उस का बेटा भी लौट आएगा। उस के पास पुराने सामान के साथ ही स्मृतियों का एक बड़ा भंडार है जिस से पाठक ऊब जाता है। साधारण-सी यह कहानी हिन्दी में इस के पूर्व भी कई बार भिन्न-भिन्न शीर्षकों से आ चुकी है। इस बार प्रकाशक ने मोपासां की एक अन्य अति प्रचलित कहानी 'नैकलेस' भी इस के साथ जोड़ कर पुस्तक को उसी के नाम से प्रकाशित किया है।

'हीरे का हार' में लोकप्रिय तत्त्वों की प्रधानता से आकर्षित हो कर कभी स्वामी सत्यदेव ने इस कहानी का अनुवाद 'माला' शीर्षक से, अपने संग्रह *आश्चर्यजनक घंटी* में प्रकाशित किया था। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने भी 'हार' नाम से इस कहानी का अक्स उतार दिया था और *विशाल भारत* में उन की बहुत आलोचना हुई थी। प्रेमचंद ने भी 'नैकलेस' से प्रभावित हो कर एक गल्प लिखी थी, 'कौशल', वह भी उन के संग्रह *प्रेम प्रमोद* में है।

'नैकलेस' और 'कौशल' दोनों का आरंभ एक हार से हुआ है। नैकलेस की स्त्री का पति एक साधारण-सा नौकर है। एक दिन एक निमंत्रण में जाने के लिए उस ने अपनी पड़ोसन से उस का हार माँग लिया। हार खो गया और फिर उसे लौटाने के लिए दूसरा हार ख़रीदने में जो ऋण हुआ उस से मुक्ति पाने के लिए पति-पत्नी को घोर मशक़्क़त करनी पड़ी, जिस से दोनों असमय बुढ़ा गए। एक दिन एकाएक पड़ोसन से भेंट हो जाने पर पता चला कि हार तो नक़ली जवाहरात का था। प्रेमचंद जी की गल्प में और इस में अंतर यह था कि हार खो नहीं गया था, धूर्ता स्त्री ने हार चोरी जाने का बहाना इसलिए गढ़ा था कि वैसा ही हार अपने लिए बनवा सके। उस के पति का भी धन कमाने में कचूमर निकल गया था।

'नैकलेस' की नायिका मैटिल्डा हार का मूल्य चुकाने के लिए पति के साथ-साथ खटी। अपनी असावधानी का उसे मलाल भी रहा। लेकिन 'कौशल' में स्त्री की लोभवृत्ति दिखा कर स्त्री के गौरव को क्षीण किया गया।

राईनोसुके आकुतागावा यद्यपि पिछली शताब्दी का है लेकिन उस की ख्याति का नवीनीकरण फ़िल्म 'राशोमोन' के कारण हुआ।

'राशोमोन' आकुतागावा की एक जटिल और अस्पष्ट छोटी-सी कहानी है जिस में विग बनाने के लिए मृत स्त्रियों के सिर से बाल उखेड़ती एक जर्जर बुढ़िया को लूटने वाले की आत्मतुष्टता अंकित की गई है। उस के आत्मतोष से हमारी अभिजात सौन्दर्य-चेतना को और जीवन के लिए आवश्यक उदात्तता को एक झटका-सा लगता है।

राशोमोन में एक अन्य कहानी है 'काप्पा'। पागलखाने के वार्ड नं. 23 में ये एक मरीज़ है जो हरेक को अपनी गाथा सुनाता है। 'कुंज के भीतर' कहानी में एक हत्या के तीन अलग-अलग वर्णन हैं। फ़िल्म राशोमोन में यह कथा जोड़ी गई थी—बल्कि एक सत्य के अलग-अलग पक्ष या वृत्तांत दिखाना ही उस की मूल चेष्टा थी। एक और कहानी इस संग्रह में है, 'शहीद'।

आकुतागावा की कहानियाँ पुरानी कथाओं की पुनः प्रस्तुतियाँ हैं। उस ने बहुत-सा विदेशी साहित्य पढ़ा था, लेकिन जापानियों की विशिष्टता है कि वे विदेशियों से प्रभावित होते हुए भी प्रभावित दीखते नहीं हैं। उस ने पो के बजाय जुनीचिरों का प्रभाव ग्रहण किया। जुनिचिरों के लेखन को आलोचकों ने 'पिशाची लेखन' की संज्ञा दी है जिस में अस्फुट, गुप्त, गूढ़ और शांति भंग करने वाले विषय ही होते हैं। आकुतागावा की विशिष्टता है शब्द-चयन और प्रस्तुतीकरण। लेकिन उस के सारे लेखन में भरपूर जुगुप्सा भी है। घूम-फिर कर उस के पात्र कुछ-न-कुछ घृणास्पद कार्य कर ही डालते हैं।

उद्देश्य की अस्पष्टता के बावजूद उस की रचनाएँ भाषा की जिस शक्ति के कारण महत्त्वपूर्ण बनीं, वह प्राणवत्ता इस अनुवाद में नहीं आ पाई है। उस की कहानी 'केसा और मारितो' का एक अनुवाद कांसाई विश्वविद्यालय के सहयोग से हिन्दी में लगभग बीस वर्ष पहले आया था जो इस अनुवाद से काफी भिन्न है। आकुतागावा की कहानी पढ़ते-पढ़ते हृदय में धुकड़-पुकड़ मची रहती है लेकिन किसी भी पात्र से अंततः हमारा कोई जुड़ाव पैदा नहीं हो पाता।

हेर्मन हेसे को *डैस ग्लापरलेनश्पील* के लिए 1946 में साहित्य का नोबल पुरस्कार मिला था। वह 'आत्मावादी' लेखक है और उस की कृति *डेमिआन* में भले-बुरे जीवन-संघर्ष को बहुत शालीनता से प्रस्तुत किया गया है। पात्र अपने-अपने आंतरिक संवेगों को जीवन-व्यवहार के आमने-सामने हो कर टटोलते हैं। धर्म, आध्यात्मिकता और नैतिकता की रूढ़ होती मान्यताओं का उन के निकट कोई महत्त्व या मूल्य नहीं है। मौत और ज़िन्दगी उन के लिए समतुल्य है।

डेमिआन के माध्यम से हेसे जर्मन 'नवजागरण' (रेनेसां), से उत्पन्न उन स्थितियों की, जिस से बाद में नात्सीवाद उदित हुआ, और उन की नग्न कठोरता से आतंकित जर्मन युवा पीढ़ी की पीड़ा, शिक्षा-पद्धति और सामाजिक विचारधारा के बारे में अपनी सोच से अवगत कराते हुए नया मार्ग सुझाता है—स्वयं को नियति के भरोसे छोड़ कर निर्द्वन्द्व हो कर कर्म करो। यह आकर्षक तो लगता है पर शायद सहज साध्य नहीं है।

श्टेपानवुल्फ़ एवं *सिद्धार्थ* उस के अन्य विख्यात उपन्यास हैं। कुल मिलाकर *डेमिआन* रोचक है और भारतीय पाठकों को यह अपने कथ्य, भाषा-शैली और दार्शनिक अंतर्दृष्टि के कारण अवश्य ही मोहित करेगा, क्योंकि अपने प्रभाव में यह थोड़ा-बहुत भारतीय ज़रूर लगता है। यदि कुछ पाठकों को हेर्मन हेसे के उपन्यास (ग्लापर्लेनश्पील और डेमिआन) पढ़ते हुए अज्ञेय के *अपने-अपने अज़नबी* और *शेखर एक जीवनी* स्मरण हो आएँ तो यह अस्वाभाविक क़तई नहीं होगा, यद्यपि अपने प्रभाव, लक्ष्य और भाषा-शैली में उन में पर्याप्त भिन्नता मौजूद है।

डेमिआन के साथ एक सच्चाई और भी जुड़ी हुई है कि अनुवादक ने इसे सीधे जर्मन भाषा से उतारा है, लेकिन *सिद्धार्थ* से प्रभावित हो कर जर्मन भाषा सीखने वाले अनुवादक ने बहुत पीछे जा कर *डेमिआन* को चुना, *ग्लापरलेनश्पील* को नहीं, यह किंचित् आश्चर्यजनक भी है। कौन जाने, इस के पीछे अनुवादक की अपनी कोई सीमा रही हो?

इन सातों पुस्तकों से गुज़रते हुए यह स्पष्ट हुआ कि विदेशी साहित्य के अनुवादक से हमारी क्या अपेक्षाएँ रहती हैं। श्रेष्ठ अनुवादक वही हो सकता है जो अपनी भाषा की परंपरा, संस्कृति और सामर्थ्य से परिचित होने के साथ-साथ स्वयं भी समर्थ रचनाकार और सचेत समीक्षक-सी प्रतिभा से संपन्न हो। तभी वह अन्य भाषाओं से ऐसा कुछ खोज कर ला सकेगा जो पाठक में सुरुचि और रचनाकारों में नए रचनात्मक क्षितिज पाने की आकांक्षाएँ जागृत कर सके।

इन पुस्तकों को देख कर एक जिज्ञासा भी जागी। क्या यह मात्र एक संयोग ही रहा कि एक ही कालखंड के इतने सारे विदेशी लेखकों की कृतियों का अनुवाद एक साथ आया, जो अपने प्रभाव में भी समान है। इन का प्रकाशन क्या यह सिद्ध करने की मंशा से हुआ है कि भारतीय कथा साहित्य वस्तुतः बहुत पिछड़ा हुआ है और इन विदेशियों की इतनी पुरानी रचनाओं को पढ़ना उस के विकास में सहायक रहेगा।

चर्चित किताबें :

कूप और काल : एडगर एलन पो; हिन्द पॉकेट बुक्स (प्रा.) लिमिटेड; जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली 110 032; मूल्य 45 रुपए

नाच के बाद : लियो टॉलस्टॉय; हि.पॉ.बु.; मूल्य 45 रुपए

इंसान और शैतान : रॉबर्ट लुई स्टीवेन्सन; हि.पॉ.बु.; मूल्य 45 रुपए

एक अनजान औरत का ख़त : स्टीफ़ेन ज़्विस; हि.पॉ.बु.; मूल्य 45 रुपए

हीरे का हार : मोपासां; हि.पॉ.बु.; मूल्य 50 रुपए

राशोमोन : राईनोसुके आकुतागावा; हि.पॉ.बु.; मूल्य 45 रुपए

डेमिआन : हेर्मन हेसे; राधाकृष्ण प्रकाशन (प्रा.) लिमिटेड; अंसारी रोड, नई दिल्ली 110 002; मूल्य 65 रुपए

डॉ. माहेश्वर

रचना का सच और सच को रचना

दरअसल 'सच' को रचना ही रचना का 'सच' नहीं है, रचना इस 'सच' (जीवन-यथार्थ) की चुनौतियों को स्वीकार करते हुए भी एक बेहतर मानव, एक नए मानव-मूल्य की परिकल्पना के माध्यम से एक अकाट्य तर्क के रूप में उभरती मानव नियति के साथ तकरार भी करती है। श्रवण कुमार की 'विरोध' कहानी का एक पात्र जब कहता है कि 'आशा का संदेश जो पहुँचाना है मुझे लोगों तक, भले मेरे मन में कोई आशा न हो।' तब संभवतः वह मानव नियति से रचनाकार के तकरार करने या मानव नियति के अकाट्य तर्क को चुनौती देने की रचनाकार की इसी क्षमता अथवा मजबूरी की ओर इशारा कर रहा होता है।

महीप सिंह के कहानी-संग्रह *धूप की उँगलियों के निशान* में संकलित कहानियों के बारे में लिखते हुए मानव-नियति की इसी क्रूरता और जीवन-यथार्थ की इसी निरुपायता की ओर इशारा किया गया है : 'इस देश का आम आदमी बाहरी और भीतरी तौर पर जिन स्थितियों को जी, झेल रहा है, वे चिलचिलाती हुई धूप की तरह उस की जीवनी-शक्ति को सोखती जा रही हैं। वह इन की तेज़ धूप में महज़ छटपटा रहा है। इन से निकलने का कोई रास्ता न तो उसे सूझ रहा है, न ही उसे कोई सुझा रहा है।'

आज आम आदमी बौखलाहट, लगभग विक्षिप्तता की स्थिति तक पहुँच गया है, फिर भी उस ने अपनी मानवीय करुणा पूरी तौर पर नहीं खोई है। यही मानवीय करुणा रचनाकार को मानव-नियति की हताशा और जीवन-यथार्थ की क्रूरता के विरुद्ध हस्तक्षेप करने और उसे चुनौती देने की शक्ति देती है।

रचनाकार का यह संघर्ष अत्यंत यातनाप्रद और बहुमुखी होता है : जीवन-यथार्थ को चित्रित करने और उस की विडंबनाओं को उभार कर नए जीवन-मूल्यों की ओर संकेत करने, अपने 'स्व' को तलाशने और इसी क्रम में अपनी निजी रचनाशैली विकसित करने और मानव-नियति की क्रूरता, हताशा और निरुपायता को चुनौती देने के क्रम में मानवीय करुणा के स्रोतों की तलाश के माध्यम से रचनाकार रचना का एक प्रति-संसार खड़ा करता है, जो अपने मूल्यगत तथा वैचारिक शक्ति से मानवीय संवेदना को संस्कारित तथा प्रभावित करता है। इस प्रकार मानव-नियति को चुनौती देता है। इस प्रकार रचना का 'सच' एक स्तर पर जीवन-यथार्थ के बदले हुए भावी 'सच' को रेखांकित और निर्धारित करता है। यही रचना का 'सच' है।

महीप सिंह की कहानियों के बारे में उक्त संग्रह में जब कहा गया कि 'हालात की सारी तल्ख़ी के बावजूद आम

आदमी पर लेखक की आस्था इन कहानियों में झाँकती हुई दिखायी देती है।' तो संकेत मानवीय करुणा के उन्हीं स्रोतों की तलाश की ओर है, जो मानव-नियति की निरुपायता के विरुद्ध रचनात्मक हस्तक्षेप का एकमात्र हथियार है।

हबीब कैफ़ी की कहानियों में भी समकालीन जीवन-यथार्थ की भयावहता को चित्रित करते हुए मानवीय करुणा के उन्हीं स्रोतों की तलाश है, जो इन तीनों कथाकारों को रचनाशीलता के प्रायः समान धरातल पर खड़ी करती है, यद्यपि इन कथाकारों ने भाषा और शिल्प के धरातल पर अपनी निजी शैली विकसित की है।

इन तीन कथाकारों को जो चीज़ एक धरातल पर खड़ा करती है, वह है जीवन और जगत को ले कर इन की रचनाओं में उभरे सरोकार। ये तीनों कथाकार निम्न वर्ग तथा निम्न मध्यवर्ग का नियति को एक मानते हुए भी इन दोनों वर्गों के विचलनों और अंतःसंबंधों पर भी रोशनी डालते हैं, वहीं हबीब कैफ़ी निम्न वर्ग पर अपनी निग़ाह ज़्यादा गहराई तक गड़ाते हैं और उन के जीवन की त्रासदी को ज़्यादा निकट से पड़तालते प्रतीत होते हैं। महीप सिंह की दुनिया शुद्ध मध्यवर्गीय दुनिया है, जो अपनी तमाम विरूपताओं, तुच्छताओं और मानवीय करुणा के साथ गहरे रंगों में उन की कहानियों में उभरती है। इन तीनों कहानीकारों की रचनाओं में प्रसंगवश उच्च वर्ग भी आता है, पर हबीब कैफ़ी और श्रवण कुमार में जहाँ वह प्रतीकवत् है, महीप सिंह उस वर्ग को नज़दीक से देखते हैं और उस के वर्गचरित्र को बारीकी से उभारते हैं।

कथ्य की दृष्टि से इन में कई समानताएँ हैं। इन सभी के यहाँ भयंकर आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक दबावों से विक्षिप्त होते आम आदमी की दुनिया आकार लेती है। इन सभी के यहाँ करुणा के स्रोत औरतें, बच्चे और मेहनतकश वर्ग हैं। कहीं-कहीं इक्का-दुक्का पुरुष भी मानवीय करुणा का उदाहरण बनता दीख जाता है, पर महीप सिंह श्रवण कुमार के यहाँ आम तौर पर (श्रवण कुमार के यहाँ ज़्यादा स्पष्टता के साथ) वह लेखक का प्रतिरूप या लेखक स्वयं होता है।

ये तीनों कथाकार मध्यवर्ग के आर्थिक और नैतिक खोखलेपन और तुच्छता पर समान आक्रोश के साथ चोट करते हैं, पर यहाँ भी एक अंतर है। हबीब का आक्रोश ज़्यादा कटु और प्रतीकात्मक है, जबकि महीप और श्रवण कुमार मध्यंवर्ग की प्रामाणिक यातना से भी साक्षात्कार करते हैं और उच्च तथा निम्न वर्गों के बीच उन की त्रिशंकु जैसी निरुपाय स्थिति को गहरी संपृक्तता से चित्रित करते हैं। इसीलिए हबीब की तुलना में ये ज़्यादा विश्वसनीय लगते हैं। महीप और श्रवण कुमार एक तरह से मध्यवर्ग के प्रवक्ता हैं, जबकि हबीब निम्न मध्यवर्ग के, इसीलिए जितनी संपृक्तता और लगाव से महीप और श्रवण मध्यवर्ग को रचते हैं, हबीब उतनी ही संपृक्तता के साथ निम्न मध्यवर्ग को।

इन कथाकारों में विषयवस्तु की समानता भी लक्ष्य करने योग्य है। उपभोक्ता संस्कृति के दबाव में बढ़ती हुई संवेदनहीनता और अर्थलोलुपता की थीम पर तीनों कहानीकारों ने कहानी लिखी है, पर तीनों ने नए आयाम लिए हैं। श्रवण कुमार ने अपनी 'डायन' कहानी में एक संपन्न परिवार में बूढ़ी माँ की निरंतर कम होती प्रतिष्ठा और इस के साथ समझौता करने की उस की प्रवृत्ति को गहरी मानवीय करुणा के साथ कहा है। बहू द्वारा 'काली डायन' घोषित वचनों को और कुछ नहीं चाहिए, बस इतना चाहती है कि बेटे-बहू उसे अपनी खुशी में शरीक़ रखें। उसे डायन कहे जाने पर भी एतराज़ नहीं, क्योंकि वह सोचती है, 'डायन भी अपने कुछ घर छोड़ कर ही वार करती है।' (संदन, पृ. 96)

हबीब कैफ़ी ने इसी थीम को अपनी 'तमाशा' शीर्षक कहानी में उठाया है। हबीब ने, जैसा कि उन की शैली है, बात को सीधे-सीधे उठाया है। निस्संतान ताऊ की गंभीर बीमारी के समय उन के दो भतीजे उन से मिलने आते

हैं। अपेक्षाकृत संपन्न बड़ा भतीजा उन की मृत्यु की प्रतीक्षा कर रहा है और चाहता है ताया मरने के पहले उस का हिस्सा उसे दे जाय। मगर ताया की तबीयत सँभल जाती है। फिर भी जाने के पहले वह ताया से अपने हिस्से की माँग कर ही बैठता है, मगर ताया के पास देने को कुछ भी नहीं है। हबीब बड़े ही निस्संग भाव से सीधी कहानी कह जाते हैं, मगर संवेदनहीनता और लोलुपता की मूल्यहीन अमानवीयता को बड़े सधे ढंग से बेनक़ाब कर जाते हैं।

महीप सिंह बूढ़ों के प्रति बढ़ती हुई उपेक्षा और संवेदनशून्यता को एक-दूसरे स्तर पर उठाते हैं। विभाजन के समय अपना परिवार खो कर एक वृद्ध पूरे समाज से अपना रिश्ता क़ायम करना चाहता है। इसी क्रम में वह एक परिवार से, ख़ास कर उस घर की बहू के साथ, ज़्यादा घनिष्ठता महसूस करने लगता है। सभी उसे चाचा कहते हैं। चाचा के समानांतर उस परिवार में पले एक बूढ़े कुत्ते की स्थिति को रख कर कथाकार ने बड़ी बारीकी से 'चाचा' की निष्ठा, स्नेह, वफ़ादारी के बदले में (बूढ़े कुत्ते के प्रतीक द्वारा) उस की असमर्थता के प्रति उस परिवार की संवेदनहीनता को रेखांकित किया है।

श्रवणकुमार किसी स्थिति के आंतरिक तथा गहरे चित्रण के लिए प्रायः मुख्य पात्र के मुँह से उस का वर्णन कराते हैं अथवा चेतनाप्रवाह (स्ट्रीम ऑफ़ कांशसनेस) पद्धति का सहारा लेते हैं, जो आम तौर पर कारगर होती है; पर इस शैली का प्रयोग वह ज़रूरत से ज़्यादा करते हैं, इसलिए उन की रचनाओं में एक प्रकार की एकरसता पैदा होती है। महीप सिंह भी इस शैली का इस्तेमाल करते हैं (जैसे 'कितना अजीब' और 'शहर') मगर चूँकि वे चेतना प्रवाह का सहारा न ले कर दृश्य परिवर्तन या किसी घटना के माध्यम से 'मैं' के साथ दूसरे पात्रों का संघात दिखा कर स्थितियों को एक इच्छित, किन्तु स्वाभाविक अंत में परिणत करते हैं, इसलिए उन का उत्तम पुरुष पात्र (मैं) कथाप्रवाह में अनावश्यक विस्तार न पा कर कथा के संतुलन को बिगाड़ता नहीं है।

भयावह और असहनीय स्थितियों से निबटने या निजात पाने की जब कोई राह नहीं रह जाती तो आदमी आत्मक्षय का रास्ता अपनाता है, या फिर उन असह्य स्थितियों से पलायन करता है, या फिर टूट-बिखर जाता है। भयंकर दरिद्रता से पीड़ित परिवार का मुखिया जब नशे की लत अपनाता है, ख़यालों और सपनों में जीने लगता है, अतीतजीवी बन जाता है, पागल हो जाता है या फिर आत्महत्या कर लेता है, तो वह मात्रा की तीव्रता या कमी के तहत एक ही तरह की प्रतिक्रिया होती है। हबीब कैफ़ी की रचनाओं में इस दबाव को, असह्य परिस्थितियों की भयावह परिणतियों को कई रूपों में उजागर किया गया है, 'मुग़लकाल की याद' में एक ताँगेवाले की पत्नी अपने भूखे बच्चों को मुग़लकालीन शानो-शौक़त की कहानी में भुलाए रखना चाहती है और जब वह मुग़ल दस्तरख़ान का वर्णन करने लगती है तो बच्चों को अपनी भूख याद आ जाती है और वे मुग़लकालीन भुलावे में रहने से इनकार कर देते हैं।

भयावह वर्तमान की विसंगतियों और क्रूरताओं को श्रवण कुमार मानव-नियति से भी जोड़ कर देखते हैं, वैसे ही स्थिति की इस भयावहता को वह 'पैसे के प्रदूषण' से जोड़ कर भी देखते हैं। उन की कहानी 'याद करो, याद करो' के नायक का अपने चारों ओर की क्रूरताओं के दबाव में दम घुटने लगता है और वह मन ही मन पुकारने लगता है—'बचा लो, बचा लो मुझे। बचा लो, बचा लो हमें।' इस वाक्य में पहले 'मुझे' और फिर 'हमें' का प्रयोग दृष्टव्य है। लेखक का संकेत है कि यह नियति केवल एक व्यक्ति की नहीं, बल्कि पूरी मानव जाति की है।

महीप सिंह की कहानियों में भयावह राजनीतिक अवसरवाद से उत्पन्न विषम परिस्थितियों, विशेषकर आपात्काल के बाद की सांप्रदायिक और राजनीतिक हिंसा के शिकार आम लोगों की बौखलाहट, हताशा और निरुपायता का बेहद सूक्ष्मता, गहराई और संतुलन के साथ चित्रण किया गया है। प्रस्तुत संग्रह की कहानियों की

आधी से अधिक इसी विषयवस्तु की अलग-अलग कोणों से पड़ताल करती हैं। ध्यान देने की बात है कि इन सभी कहानियों में रचनाकार ने अद्भुत संतुलन और कौशल का परिचय दिया है।

महीप और श्रवण ने स्त्री-पुरुष संबंधों पर कुछ खूबसूरत कहानियाँ लिखी हैं। हबीब के प्रस्तुत संग्रह में इस तरह की एक भी कहानी नहीं है। हबीब स्त्रियों को पुरुष के मुक़ाबले अलग से व्यक्ति के रूप में नहीं खड़ा करते। उन के यहाँ स्त्रियाँ एक सामाजिक संदर्भ में पैवस्त हो कर प्रतीकात्मक रूप से आती हैं। वे व्यक्तित्ववान और अपना निजीपन लिए नहीं आतीं। दरअसल हबीब की कहानियों में स्थितियाँ और मुद्दे प्रधान होते हैं, चरित्र या पात्र नहीं, जबकि श्रवण के यहाँ विचार और वातावरण प्रमुख होते हैं। महीप स्थितियों और विचारों को विशिष्ट चरित्रों की शक्ल देते हैं। इसीलिए आम पाठक को महीप ज़्यादा प्रभावित करते हैं। उन की रचनाओं में एक चमकीलापन, एक तराश है, जो भाषा और चरित्रों की एक विशिष्ट तराश के कारण, उन के प्रति अतिरिक्त सजगता और मेहनत के कारण पैदा होती है। श्रवण में एक शातिर (टंग इन चीक) व्यंग्य है, जो न महीप में है और न हबीब में। यों हबीब की कहानियाँ अपनी संवेदना में आम आदमी के ज़्यादा नज़दीक हैं, पर उन में न तो व्यंग्य है और न विशिष्टता के प्रति सायास आग्रह। शमशेर की तरह हबीब शायद सोचते हैं 'बात बोलेगी, हम, नहीं', मगर ऐसा भी नहीं है कि हबीब एकदम 'सपाट' हो जाते हों। स्थानीय बोली और स्थानीय चरित्रों की एक पूरी दुनिया उन के पास है और आम आदमी की पक्षधरता के कारण उन की भाषा और उन के विन्यास में एक आक्रामकता और चुस्ती है जो व्यंग्य और शैली के वैशिष्ट्य की कमी की भरपाई कर देती है। 'जली रोटी' और 'शॉक' जैसी कहानियाँ उदाहरण के रूप में पेश की जा सकती हैं।

श्रवण एक दार्शनिक अंदाज़ में स्त्री-पुरुष संबंधों की पड़ताल करते हैं और उन की जटिलताओं और सूक्ष्मताओं से होते-होते कुछ-कुछ रहस्यवादी और रोमानी स्वर में स्त्री-पुरुष के रिश्ते की सनातनता पर जा पहुँचते हैं। दरअसल स्त्री-पुरुष संबंधों में ही नहीं, मानव-नियति संबंधी उन के विचारों में भी एक नियतिवाद और रहस्यवाद दिखाई देता है, जो भारत के परंपरागत मन को बहुत रुच सकता है।

महीप की स्त्री-पुरुष संबंधों वाली कहानियाँ इतनी जटिल, दुरूह और रहस्यात्मक नहीं हैं। उन की स्त्रियाँ और पुरुष भी प्रमुखतः निम्नमध्यवर्गीय और बौद्धिक हैं, जिन के बीच पारंपरिक संबंधों के स्थान पर नए संबंध बन रहे हैं। श्रवण की कहानियों में जो संबंध दार्शनिक इसीलिए अमूर्त से दीख पड़ते हैं (इसीलिए अधिक अनिर्वचनीय और गहरे भी), वहीं महीप के यहाँ पूरी तरह ठोस और सुपरिभाषित नज़र आते हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों की एक 'लय' है, जिसे महीप पकड़ने की कोशिश करते हैं। पत्नी अपने पति की महिला मित्र (या प्रेयसी) के साथ एक मानवीय रिश्ता बनाने की कोशिश में सफल हो कर कैसे उन्मुक्त और प्रसन्न हो सकती है ('लय')। इसी तरह कुछ अन्य कहानियों में पुराने सामाजिक संबंधों और स्त्री-पुरुष संबंधी अवधारणाओं को नए, बदले हुए परिवेश में नए ढंग से परिभाषित करने और ठोस भौतिक तथा भावात्मक आधार देने की एक 'मेच्योर' कोशिश है।

शैली को ले कर पहले कहा जा चुका है कि तीनों कथाकारों की अपनी अलग शैली है, जिन्हें पारिभाषिक शब्दावली कहें तो हबीब की शैली साधारणीकरण की शैली है, जिस में पात्र सामान्य या औसत हैं और मुद्दे भी, भाषा भी औसत है पर विषयवस्तु और उन के निष्पादन (ट्रीटमेंट) में विविधता लाने की कोशिश है। एक अपना स्थानीय रंग भी है उन में, जो एक नया आकर्षण है। श्रवण की शैली में एक ख़ास तरह की दार्शनिक वाचालता, एक बहुआयामी, वृत्ताकार रचाव और विस्तार है, जो कभी-कभी अनपेक्षित तथा सायास भी लगता है और रचना की एकतानता तथा सुरीलेपन में विक्षेप पैदा करता है। पर यह शैली रचनाकार की मानसिकता के एकदम निकट बैठती है और किन्हीं अर्थों में आधुनिक भावधारा के अनुकूल लगती है। श्रवण की शैली की खूबी है उस की भाषा

का लचीलापन और शातिर व्यंग्यपरकता। इस के विपरीत महीप सिंह की शैली नई कहानी की तमाम विशेषताओं से युक्त (मगर उस की अतिरिक्त भावुकता से रहित, जो आश्चर्यजनक रूप से यहाँ-वहाँ हबीब और श्रवण में दिखाई देती है) एक पारदर्शी, चमकदार और भाषा के मुहावरेदार सघन रचाव वाली है, जो अपने समूचे आयाम में बेहद सुगढ़ और सुदृढ़ दिखाई देती है। महीप में कहीं भी भाषाई विचलन, बिखराव या वैचारिक 'हाय-तौबा' नहीं दिखाई पड़ती (जो कुछ कथाकारों में वैचारिक कच्चेपन के कारण अक्सर दीख जाती है)। संभवतः यह इसलिए भी है कि वे विचारों और दार्शनिक चिन्तन की उस दलदली ज़मीन पर कम ही पाँव रखते हैं, जिस के बारे में उन की कोई सुनिश्चित धारणा या पुख़्ता अनुभव नहीं होते (जबकि श्रवण अक्सर ऐसा करते हैं और कई बार दलदल में धँसते भी हैं)। महीप की भाषा एकदम टकसाली है, खनखनाती हुई, कई जगह वे बिंबों के नायाब सलमे-सितारे भी उस में टाँक देते हैं। उन की कहानियों के संवाद बड़े चुटीले और नाटकीय होते हैं, जबकि श्रवण कुमार और हबीब सहज औरर यथार्थवादी संवादों का सहारा लेते हैं। भाषा की विशेषताओं के उदाहरण न दे पाना एक निबंध में तीन कथाकारों को समेटने की कोशिश की सीमा के कारण है।

चर्चित किताबें :

स्पंदन : श्रवण कुमार; जगतराम एण्ड सन्ज़, दिल्ली; प्रथम संस्करण 1991; पृष्ठ 148; मूल्य 50 रुपए

धूप की उँगलियों के निशान : महीप सिंह; अभिव्यंजना, दिल्ली; प्रथम संस्करण 1994; पृष्ठ 148; मूल्य 125 रुपए

पराजित विजेता : हबीब कैफ़ी; राजस्थानी ग्रंथागार, जोधपुर; प्रथम संस्करण 1993; पृष्ठ 102; मूल्य 60 रुपए

किताबें—6

गोविन्द सिंह

विस्मृत विधाएँ : कुछ उल्लेख्य किताबें

हिन्दी में कविता और कथा-साहित्य के अलावा बाक़ी विधाएँ लगभग उपेक्षित हैं। नाटक, एकांकी और ललित निबंध का कभी-कभार दौर-सा आता है लेकिन इन्हें भी हिन्दी की मुख्यधारा की विधाओं में शुमार करने में संकोच ही होता है। दूसरी तरफ़ अन्य भारतीय भाषाओं की स्थिति ऐसी नहीं है। मराठी साहित्य में जीवनी और आत्मकथा साहित्य का महत्त्व किसी भी दृष्टि से उपन्यास-कहानी से कम नहीं। इसी प्रकार बाङ्ला में भ्रमण साहित्य की अपनी जगह है। यही वजह है कि इन भाषाओं में उन विधाओं ने शिल्प के नए क्षितिजों का स्पर्श किया है। बाङ्ला में तो लोकप्रिय साहित्यिक पत्रिकाओं की तरफ़ से साहित्यकारों के देश-विदेश के भ्रमण प्रायोजित किए जाते हैं। हिन्दी में जीवनी के नाम पर अभिनंदन ग्रंथ या 'व्यक्तित्व और कृतित्व' शैली के पिष्टपेषित शोध-ग्रंथों से अधिक कुछ कम ही दिखाई देते हैं।

पिछले दो-तीन वर्षों में हिन्दी में जो जीवनियाँ, आत्मकथाएँ और जीवन और कर्म का विश्लेषण करते ग्रंथ प्रकाश में आए हैं, उन में गोपाल प्रसाद व्यास की आत्मकथा *कहो व्यास, कैसी कटी?*, *देवेन्द्र सत्यार्थी : तीन पीढ़ियों का सफ़र'* (संपादक : प्रकाश मनु), हंसराज रहबर की आत्मकथा का चौथा खंड, *मेरे सात जन्म*, बाङ्ला उपन्यासकार विमल मित्र की आत्मकथात्मक कृति *अपने आईने में*, *भारत भूषण अग्रवाल : कुछ यादें,-कुछ चर्चाएँ* (संपादन : बिन्दु अग्रवाल) और असमिया कथाकार इंदिरा गोस्वामी की आत्मकथा *ज़िन्दगी कोई सौदा नहीं* प्रमुख हैं। इन के अतिरिक्त हिमांशु जोशी की *यात्राएँ*, शंकर दयाल सिंह की *सुरभित स्मृतियाँ* और आलोक तोमर की रिपोर्ताज-कृति, *लिखि कागद कोरे* को भी इस आलेख की परिधि में समेटा गया है।

हिन्दी के प्रमुख व्यंग्यशिल्पी गोपाल प्रसाद व्यास की आत्मकथा *कहो व्यास, कैसी कटी?* अपनी शैली के लिए याद रहेगी। 676 पृष्ठों की यह मोटी कथा उन के संघर्षों को बख़ूबी प्रस्तुत करती है। गोपाल प्रसाद व्यास ने खूब व्यंग्य लिखे हैं, मंचीय कविताएँ लिखी हैं और हिन्दी के लिए अनवरत संघर्ष किया है और इस से भी बड़ी बात यह कि व्यास जी ने घोर अभावों से अपने जीवन की शुरुआत कर न सिर्फ़ हिन्दी साहित्य और पत्रकारिता में अपनी एक जगह बनाई, बल्कि आर्थिक मोर्चे पर भी लगातार संघर्ष के जरिए विजय पाई। वे लिखते हैं, 'जब दिल्ली चला तो टिकट के पैसे चुकाने के बाद उसके पास एक चवन्नी ही बची थी, यह उस व्यक्ति की कहानी है, जिसने चवन्नी से रोज़गार शुरू किया था' और अपने संघर्ष को सार्वजनिक बनाते हुए वे कहते हैं, 'उस व्यक्ति जैसे न जाने

कितने लोग होंगे जो एक रुपये पर प्रतिदिन चार आने का ब्याज देते थे।. . . मैं तो एक जोड़ा धोती-कुर्ते से काम चला लेता था, परन्तु अठहत्थी धोती में पत्नी के लिए अपने अंगों को छिपाना मुश्किल हो जाता था। पीहर से प्राप्त बिच्छुओं की डंडियाँ टूट-टूट जातीं और उन्हें वे डोरों से बाँध-बाँध कर पहना करती थी। पहली नौकरी आठ रुपए की मिली।' इन अभावों के बावजूद उन की जिजीविषा, ख़ास कर साहित्य में कुछ कर गुज़रने की तमन्ना बनी रही और अपनी अभावों भरी ज़िन्दगी को एकदम अलग करके उन्होंने साहित्य रचना में मन लगाया।

गोपाल प्रसाद व्यास अपने पर भी हँस सकते हैं। आत्मकथा छह 'उल्लासों' में विभक्त है। प्रथम उल्लास 'चंद्र सरोवर से चाँदनी चौक तक' उन के जीवन संघर्ष की कथा है, जिस में उन का ब्रज वृंदावन में बीता बचपन, स्वाधीनता पूर्व और तत्काल बाद का समाज और राजनीति साकार हुए हैं। प्रथम उल्लास का अंतिम सोपान उन के पद्मश्री पाने और लौटाने से संबंधित है। 1965 में उन्हें पद्मश्री मिली। व्यास जी मानते हैं कि 'यह सम्मान दरअसल हिन्दी का सम्मान था और 1967 में जब राजभाषा अधिनियम में संशोधन कर सरकार ने हमेशा के लिए अंग्रेज़ी के लिए भारत के द्वार खोल दिए तो व्यास जी ने पद्मश्री लौटा दी। वे कहते हैं—'श्रीमती पद्मश्री जी मेरे पास कुल जमा इकतीस महीने सात दिन रहीं। . . .जब तक रही बड़ा सुख दिया। बड़ी दावतें खिलवाईं। बड़े शाल-दुशाले उढ़ाए। काग़ज़ के ही नहीं, ताँबे और चाँदी के अभिनन्दन-पत्र भी जाते-जाते दे गई। आई तो बाजे बजे और गई तो भी बाजे बजे। जितने समारोह आने पर नहीं हुए, उतने जाने पर हो गए।'

इस ग्रंथ के दूसरे उल्लास में उन की 'कविता-यात्रा' है। हास्य सम्राट या हास्य रसावतार जैसे अलंकारों से विभूषित होने के बावजूद वे अपने बारे में कोई मुग़ालता नहीं पाले हुए हैं। 'सिर्फ़ यही सही है कि मैंने हास्य रस लिखा है और जिया है।. . .हास्य रस की पतवार लेकर मैं जीवन नैया में सवार हुआ और हँसते-गाते उसे खूब खेया। पत्नीवाद चला या नहीं चला, चला तो कहाँ से कहाँ पहुँचा। लेकिन उसके बहाने मैंने देश को लूटने वालों, सताने वालों और इस पर कब्जा बनाये रखने वालों की खूब खबर ली।' उन की हास्य कविताएँ सिर्फ़ मंचीय कविताएँ ही नहीं हैं, उन में व्यंग्य और वक्रोक्ति का चुटीलापन भी है। साथ ही अपने ज़माने की राष्ट्रीय चेतना भी अभिव्यक्त हुई है।

आत्मकथा के तीसरे उल्लास 'कंपोजीटर से संपादक तक' में उन के पत्रकार जीवन के उतार-चढ़ाव हैं। पूरी आत्मकथा उन के जीवन के समान ही व्यापकता लिए हुए है, फिर भी एक सूत्र है जो सब जगह विद्यमान है। वह है, उन का अपने पर हँस सकने का जीवट।

देवेन्द्र सत्यार्थी के बहुआयामी साहित्य व्यक्तित्व पर प्रकाश मनु के संपादन में जीवनी, आत्मकथा, साहित्यिक मूल्यांकन और शोध ग्रंथ का यौगिक है यह ग्रंथ। उन के जीवन को जहाँ उन की पत्नी, बेटियों और निकट-दूर के साहित्यिक मित्रों ने कुरेदा है, वहीं दूसरे खंड में उन्होंने स्वयं अपने बचपन, भटकाव और लोकयात्राओं की बानगी पेश की है। तीसरे खंड में उन की शख़्सियत का बखान करने वाले नए-पुराने लेखकों के संस्मरण, साक्षात्कार हैं और चौथे खंड में उन के समकालीन साहित्यकारों—भाषा चिन्तकों के लेख हैं। पाँचवें खंड में उन के साथ महापुरुषों के पत्र-व्यवहार को रखा गया है और छठे खंड में उन के साहित्य का मूल्यांकन। कुल मिला कर *देवेन्द्र सत्यार्थी : तीन पीढ़ियों का सफ़र* एक अभिनंदन ग्रंथ के रूप में ही हमारे सामने आता है, जो सत्यार्थी जी के जीवन और कर्म को संपूर्णता में समझने में हमारी सहायता करता है।

सत्यार्थी का जीवन अद्भुत और रोमांचकारी अनुभवों से भरा पड़ा है। हिन्दी में उन जैसे भ्रमणकारी राहुल सांकृत्यायन के अलावा और कोई नहीं। लेकिन बावजूद उन के इस विरल व्यक्तित्व के, उन को वह स्थान नहीं

मिल पाया जो राहुल जी को मिला। प्रकाश मनु लिखते हैं, 'देवेन्द्र सत्यार्थी तो एक से एक बीहड़ अनुभवों वाले महाकाय व्यक्तित्व हैं, जिन्होंने अपने जीवन का एक बड़ा हिस्सा खानाबदोशी और फ़क़ीरी में बिता दिया—इतनी असुरक्षा और ख़तरों में जीते हुए कि उस की कल्पना तक आज हमें थरथरा देती है। लोकगीतों के लिए भिखारी होने में उन्हें शर्म नहीं आई। हालत यह है कि जेब में चार पैसे नहीं और बीबी तथा बेटी को संग लिए हिन्दुस्तान के गाँव-गाँव, शहर-शहर में भटक रहे हैं। लंका और बर्मा तक की ख़ाक छान आए. . .लोकगीतों को इकट्ठा करने की अजीब-सी धुन।'

जहाँ उन की पत्नी शांति सत्यार्थी और बेटियों के संस्मरणों में एक सहजता और साफ़गोई है, वहीं अन्य लोगों के सामने उन का खोजी साहित्यकार ही रहा है—सत्यार्थी जी ने जितने भ्रमण किए हैं और जिस तरह बिना किसी नियमित आय के परिवार को रखा है, उस में इन्होंने परिवार को कितने दुख दिए होंगे, यह उन के बच्चे और पत्नी ही महसूस कर सकते हैं। इसलिए उन के उद्‌गारों के बिना यह किताब अधूरी ही रहती।

अपनी यात्राओं के बारे में लिखते हुए सत्यार्थी आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का एक संस्मरण दोहराते हैं—'एक बार लिथुआनिया का एक प्रोफ़ेसर शांतिनिकेतन देखने आया था। अपने भाषण में उस ने बताया कि पिछले 500 वर्षों से उस का देश ईसाई धर्म के पंजे तले रहा है और बराबर स्वाधीनता के लिए लड़ता आया है। ईसाई विजेताओं ने पुराने साहित्य को नष्ट कर दिया। अब जब देश को स्वतंत्रता मिल चुकी है, वह अपनी प्राचीन राष्ट्रीय संस्कृति को फिर से ज़िन्दा करना चाहता है। लोगों के पास सिर्फ़ वे लोकगीत ही बच गए हैं, जो शताब्दियों से उन के होंठ चूमते रहे हैं। इन गीतों के प्रकाश में लिथुआनिया अपनी खोई हुई दुनिया को ढूँढ लेना चाहता है।' शायद ऐसी ही प्रेरणा सत्यार्थी को सुदूर अंचलों और गहन प्रांतरों में भटकने को मज़बूर करती रही। महात्मा गाँधी, रवीन्द्रनाथ ठाकुर से ले कर रामानंद चटर्जी, हजारीप्रसाद द्विवेदी और अज्ञेय व श्यामाचरण दुबे तक के पत्र उन के काम को समझने में बड़े सहायक हैं। तत्कालीन साहित्यकारों के संस्मरण भी बहुत हद तक उन की यायावरी और फक्कड़ाना चरित्र को व्याख्यायित करते हैं। इस किताब की एक ही समस्या है— वह है पुनरावृत्ति दोष। इतने सारे लेख न भी होते तो कोई फ़र्क नहीं पड़ता। ख़ास कर ज़्यादातर नए लेखकों ने एक ही बात दुहराई है।

सुप्रसिद्ध बाङ्ला उपन्यासकार विमल मित्र की पुस्तक *अपने आईने में* विशुद्ध रूप से आत्मकथा तो नहीं है, लेकिन लेखक ने अपने बारे में स्फुट रूप में जो बातें कही हैं, उन से इसे साहित्यिक आत्मकथा की श्रेणी में रखा जा सकता है। इस रचना में विमल मित्र की एक भेंटवार्ता के साथ अपने साहित्य जीवन को केन्द्र में रख कर लिखी गई एक उपन्यासिका 'वह लड़का', *देश* पत्रिका के लिए लिखी गई अपने साहित्यिक जीवन के उतार-चढ़ावों पर आधारित जीवनी और दो छोटे-छोटे आत्मकथा अंशों के अलावा उन के उपन्यासों पर कुछ प्रसिद्ध समीक्षकों की टिप्पणियाँ भी शामिल हैं। यह कोई क्रमिक आत्मकथा नहीं है। एक जगह इसे कहानी का रूप दिया गया है तो दूसरी जगह सामान्य परिचयात्मक शैली में बात कही गई है। दोनों रचनाएँ पूरी हैं। इसलिए शैली-भेद को छोड़ कर तथ्यों में कोई ख़ास फ़र्क नहीं है और पुनरावृत्ति दोष भी सामने आता है।

इस पुस्तक की ख़ासियत यह है कि इस में विमल मित्र का साहित्य-चिन्तन पारदर्शी हुआ है। उन का साहित्यिक अध्ययन, साहित्य के प्रति बचपन से अब तक की दृढ़ आस्था और उन के साहित्य की मूल चिन्ताएँ इस पुस्तक को पढ़ कर समझ में आती हैं। साथ ही स्वाधीनता से पूर्व और तत्काल बाद का परिवेश भी सामने आता है। बचपन से ही उन का एक ही लक्ष्य था—लेखक बनने का। धीरे-धीरे उन्हें यह अहसास हुआ कि 'लेखक के जीवन की यंत्रणा, कैंसर की यंत्रणा से कहीं ज़्यादा भयंकर होती है। कैंसर का दर्द तो रोगी को नींद की

दवा देकर, उसे बेहोश करके भुलाया जा सकता है, लेकिन लेखक की यंत्रणा? उसके दर्द को भुलाने की दवा कब निकलेगी?' लेकिन वह कभी अपने पथ से डिगे नहीं। एक के बाद एक संकटों के बावजूद उन्होंने अपना रास्ता नहीं बदला।

विमल मित्र के लेखन का केन्द्रीय विषय है—रुपया। रुपए के ही लिए मनुष्य तमाम तरह की गड़बड़ियाँ करता है। यदि उस के जीवन का केन्द्रीय स्रोत रुपया होता है तो उसे उस के मार्ग से भ्रमित करने वाला भी रुपया ही है। विमल मित्र मनुष्य के इसी भटकाव को खोजते रहते हैं। इस का अहसास उन्हें बचपन में ही हो गया था। उपन्यासिका में वे लिखते हैं : 'इतनी कम उम्र में ही उसकी समझ में आ गया था कि जिस समाज में रुपयों की ख़ातिर लोग इतनी भागदौड़ करते हैं, जहाँ सामाजिक सम्मान-असम्मान का बैरोमीटर रुपया बना हुआ है, उसे उस समाज को तोड़ना होगा। उस समाज पर चोट पहुँचानी होगी।

विमल मित्र रूसो से बेहद प्रभावित नज़र आते हैं। रूसो को अपने जीवन में कुछ नहीं मिला था। शायद उन्होंने अपने अंतिम दिनों की प्रताड़ना से क्षुब्ध हो कर आत्महत्या कर ली थी। उन की मृत्यु के 11 वर्ष बाद उन की किताब *सोशल कांट्रैक्ट* का प्रभाव 1789 में फ्रांसीसी क्रांति में भी देखा गया। इस क्रांति का इतिहास लिख कर टॉमस कार्लाइल अमर हो गए और रूसो के जन्म के 100 साल बाद 1812 ई. में जन्मे चार्ल्स डिकेन्स ने इसी क्रांति की पृष्ठभूमि पर *ए टेल आॅफ़ टू सिटीज़* लिख कर उसे दुनिया के आम आदमी तक जनप्रिय बना कर पहुँचा दिया और लियो टॉलस्टॉय रूसो के 20 खंड पढ़ कर काउंट से ऋषि हो गए। रूस के उन टॉलस्टॉय की किताबें पढ़ कर ही इंडिया के बैरिस्टर एम.के. गाँधी महात्मा गाँधी बन गए। यह बताते हुए विमल मित्र मानते हैं कि 'प्रतिभा के इस व्यवसाय में पूर्व भुगतान का नियम नहीं है। मरने के बाद ही उसका हिसाब होता है।'

विमल मित्र ने बहुत लिखा। तमाम भारतीय भाषाओं में उन का बहुत अनुवाद हुआ। उन के लेखन को एकदम साधारण कह कर ख़ारिज नहीं किया जा सकता। बावजूद इस के, उन्हें कोई बड़ा पुरस्कार नहीं मिल पाया। इस का बड़ा कारण शायद यह है कि उन्हें बाङ्ला में उतना सम्मान नहीं मिल पाया, जितना मिलना चाहिए था। इस की कसक उन की इस जीवनी में बार-बार प्रतिध्वनित हुई है।

आत्मकथा की दृष्टि से वाक़ई मज़ेदार किताब हंसराज रहबर की *मेरे सात जन्म* है। इस का चौथा खंड दो साल पहले प्रकाशित हुआ था। रहबर जी की आत्मकथा का यह खंड पढ़ते हुए एक साहित्यकार, राजनीतिक कार्यकर्ता और एक ज़िन्दादिल इंसान की संघर्ष-भरी ज़िन्दगी पढ़ने का 'आनंद' आता है। रहबर जी कम्युनिस्ट थे; सोवियत संघ की बुराई करते थे और चीन का समर्थन करते थे। लेकिन वे मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी में भी फ़िट बैठ पाए हों, ऐसा नहीं लगता। कभी-कभी वे नक्सलवादी भी लगते हैं और कभी घोर हिन्दूवादी। एक तरफ़ वे विवेकानंद से प्रभावित हैं तो दूसरी तरफ़ माओ से। साहित्य में वे स्वयं को प्रेमचंद का एकमात्र उत्तराधिकारी मानते हैं। रहबर जी की अपनी दृष्टि में, 'यह आत्मकथा बीसवीं सदी के आरंभ से अब तक का सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक इतिहास है।'

रहबर जी की आत्मकथा लिखने की शैली बड़ी जीवंत है। वे पूरे घटनाक्रम को एकदम सहज, स्वाभाविक ढंग से बयान करते जाते हैं। कभी वह एक रिपोर्ताज का सा आनंद देती है तो कभी उपन्यास जैसा। एक तरफ़ उन की पारिवारिक कथा चलती जाती है, जिस में अभाव हैं, ग़रीबी है और कष्ट ही कष्ट हैं। दूसरी तरफ़ समसामयिक साहित्यिक माहौल है, प्रगतिशील आंदोलन है, उस के आपसी झगड़े हैं और इस कथा के तीसरे आयाम के रूप में तत्कालीन राजनीतिक माहौल है, ख़ास कर साम्यवादी आंदोलन की बारीकियाँ हैं, झगड़े हैं और

बहस-मुबाहिसे हैं। रहबर जी की ख़ासियत यह है कि वे कहीं फ़िट नहीं बैठ पाते। लेकिन रहबर जी के तर्क ऐसे हैं कि पाठक की सहज सहानुभूति उन्हें प्राप्त हो जाती है। इस दृष्टि से रहबर जी की जीवनी सचमुच पढ़ने लायक़ है।

बिन्दु अग्रवाल के संपादन में *भारत भूषण अग्रवाल : कुछ यादें, कुछ चर्चाएँ* स्व. भारत जी की मृत्यु के चौदह साल बाद प्रकाशित हुई। यह किताब श्री भारत भूषण अग्रवाल के निधन के बाद लिखे गए समवयसी रचनाकारों के संस्मरणों, और उन के कवि-कर्म का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। भारत भूषण अग्रवाल के व्यक्तित्व और कृतित्व को सही परिप्रेक्ष्य में सामने लाने वाली यह पुस्तक रचनात्मक समीक्षा का एक बेहतरीन उदाहरण है। यह न तो अकादमिक है और न ही शोध-ग्रंथ, फिर भी कवि और उस की रचना-प्रक्रिया को बहुत अच्छे तरीक़े से सामने रखती है। तीन खंडों में विभाजित इस पुस्तक में जहाँ भारत भूषण अग्रवाल के काव्य-व्यक्तित्व का विवेचन, संस्मरण एवं साक्षात्कार हैं, वहीं उन के कृतित्व का मूल्यांकन भी है। भारत जी के बचपन के शिक्षक डॉ. सत्येन्द्र, पत्नी बिन्दु अग्रवाल, दो बेटियों—अनिता और अर्पिता—और सखा नेमिचंद्र जैन के संस्मरण दिल को छूने वाले हैं और भारत जी के जीवन के अनेक कोमल तंतुओं को छेड़ते हैं। उन के ईमानदार और कर्मठ जीवन की अनेक झलकियाँ मिलती हैं। उन का बचपन, पत्नी की शिक्षा के प्रति उन का दायित्वबोध और बेटियों की बढ़िया शिक्षा के लिए उन का आदर्श पिता रूप एक मध्यवर्गीय हिन्दी-भाषी के संघर्ष और जद्दोजहद भरे जीवन को बख़ूबी सामने लाता है।

भारत भूषण अग्रवाल जहाँ *तारसप्तक* के यशस्वी कवि थे, वहीं तुक्तक के जन्मदाता और बड़े आयोजनों में छा जाने वाले मंचीय कवि भी थे। हास्य व्यंग्य की एक अनूठी शैली उन्होंने विकसित की थी। कविताओं के अतिरिक्त उपन्यास, कहानियाँ, निबंध और नाटक भी उन्होंने लिखे थे। अपने पर हँसने और व्यंग्य कर सकने का अद्‌भुत माद्दा था उन में। रणवीर रांग्रा के साथ भेंटवार्ता में वे कहते हैं—'मेरी कविता का प्राण व्यंग्य नहीं, आत्म व्यंग्य है। यह बात बिल्कुल सही है कि शुरू-शुरू में मैंने बहुत व्यंग्य लिखा, और वे कविताएँ आपको क़भी उपलब्ध नहीं होंगी। क्योंकि वे इस समय हैं भी नहीं।' उन का व्यंग्य, बाङ्‌ला भाषा के एक शब्द का प्रयोग करूँ तो 'निखूत' व्यंग्य था, विशुद्ध व्यंग्य था।

उन के कविता संग्रह 'ओ अप्रस्तुत मन' के बारे में एक तरफ अज्ञेय कहते हैं, 'इसमें एक ऐसे ईमानदार मन की झलक है, जिसमें यह पहचानने का साहस है कि जिन मूल्यों को वह निर्विवाद मानता था, वे अब यथार्थ नहीं लगते। दूसरी तरफ़ उसी दौर के बड़े कवि मुक्तिबोध मानते हैं, 'भारत भूषण की कविता संतोष नहीं, असंतोष उत्पन्न करती है और मन किसी ज्ञात-अज्ञात अधूरेपन की भावना से भर उठता है।. . .असल में ये मामूली आदमी की कविताएँ हैं। हमारे देश का एक सचेत मामूली आदमी अपनी ज़िन्दगी के रास्ते चलते हुए जो तजुर्बे हासिल करता है, और नतीजे निकालता है, वही काव्य रूप में यहाँ सामने आया है।'

इस तरह भारत भूषण अग्रवाल के लेखन के विविध पक्षों पर नए-पुराने रचनाकारों ने क़लम चलाई है और लगता नहीं कि वे किसी तरह के आग्रह या दबाव में हैं। इसलिए यह किताब एक ईमानदार रचनात्मक आलोचना की क़िताब है।

ज़िन्दगी कोई सौदा नहीं असमिया कथाकार इंदिरा गोस्वामी की संघर्ष-भरी आत्मकथा है। 1943 में जन्मी इंदिरा गोस्वामी का बचपन काफ़ी आराम में बीता। 1968 में उन के पति का एक दुर्घटना में निधन हो गया। महज़ 25 वर्ष की उम्र में विधवा हो जाने पर पति के व्यवसाय को सँभाला और अनेक बाधाओं से जूझते हुए आगे

बढ़ीं। मार्के की बात यह है कि इंदिरा गोस्वामी ने अपने कष्ट को करने के लिए अपनी व्यथा-कथा के लेखन से ही अपने साहित्यिक जीवन की शुरुआत की। दो ही वर्ष में उन्होंने असमिया साहित्य जगत में अपनी अलग छवि बना ली। यह आत्मकथात्मक उपन्यास उसी व्यथा-कथा का विस्तार है। रेखांकित करने लायक़ बात यह भी है कि सत्साहित्य की एक कसौटी यह भी मानी गई है कि लेखक अपने रचनाकर्म और अपने निजत्व को एकदम अलग रखे। स्व जितना ही दूर होगा, रचना उतनी ही विशिष्ट होगी। इंदिरा गोस्वामी ने अपने स्व को इस तरह से व्यक्त किया कि उस में वे पूरी तरह से डूबी रह कर भी निर्लिप्त हैं। अपनी दुःसह वेदना को कला में तब्दील करना भी कम निर्लिप्तता की माँग नहीं करता। यह तथ्य निश्चय ही कम चौंकाने वाला नहीं कि असमिया में आत्मकथा का इतना साहित्यिक महत्त्व है कि कोई अनजान लेखिका भी जब इस से अपने रचनाकर्म की शुरुआत करे तो उसे न सिर्फ़ पढ़ा जाता है, बल्कि सिर आँखों पर भी बैठाया जाता है।

हिन्दी में लोकप्रिय साहित्यिक पत्रिकाओं का युग ढलान पर है। इस के साथ ही साहित्य की अनेक विधाओं का भी लोप हो रहा है। फ़ास्ट फ़ूड, फ़ास्ट जर्नलिज़्म के इस दौर में सृजनात्मकता का लोप हो रहा है—इसलिए ललित निबंध, यात्रा वृत्तांत, साहित्यिक भेंटवार्ताएँ, झलकियाँ और ईमानदारी से लिखे गए रिपोर्ताज दिन-प्रतिदिन ग़ायब होते जा रहे हैं। ऐसे में हिमांशु जोशी के यात्रा-वृत्तांतों की किताब *यात्राएँ*, शंकर दयाल सिंह की *सुरभित स्मृतियाँ* और आलोक तोमर की *लिखि कागद कोरे* से एक आस बँधती है कि अभी ये विधाएँ ख़त्म नहीं होंगी, बल्कि नए-नए रूप धारण कर पत्र-पत्रिकाओं में अवतरित होंगी।

हिमांशु जोशी की *यात्राएँ* नॉर्वे से शुरू होती हैं और ध्रुव प्रदेश की ओर जाते हुए ख़त्म। इस बीच वे केरल की हरी-भरी धरती, झेलम के कूल-कगारों को पार करते कभी कुशीनारा पहुँचते हैं तो कभी हिन्द महासागर के द्वीप मारिशस। हिमांशु जी चूँकि कथाकार के साथ-साथ पत्रकार भी हैं, इसलिए वे दोनों दृष्टियों से चीज़ों को देखते हैं। उन के वृत्तांतों में जहाँ विवरणों का बड़ी बारीक़ी से दर्शन होता है, वहीं उन में वैचारिक ग़हराई भी कम नहीं है—इन में इतिहास, भूगोल के साथ साहित्य-संस्कृति की बारीक पकड़ भी है। अपने गृह-प्रदेश कुमाऊँ की यात्रा 'सपनों के शिखर तक' में वे एक जगह लिखते हैं : 'ईसा से सैकड़ों वर्ष पूर्व कैसाइट्स असीरियनों का साम्राज्य कुमाऊँ, नेपाल तथा पश्चिमी तिब्बत तक फैला था। उनकी संस्कृति के अवशेष आज भी यहाँ किसी रूप में विद्यमान हैं। चन्द राजाओं के राज्य से कई शताब्दियों पहले, उनकी भी राजधानी कुमूँ ही थी, जिसे अब चम्पावत कहते हैं। अपने प्रिय शहरों और क्षेत्रों के जो नाम कैस्पियन तट पर उनके अपने देश में थे, उन्हीं को कैसाइट्स ने यहाँ भी प्रचलित किया था। पिथौरागढ़ को आज भी लोग सोर कहते हैं। सीरा और एलम के नाम से आज भी यहाँ के दो इलाके संबोधित किये जाते हैं।' यह जानकारी मेरे जैसे कुमाँउनी के लिए काफ़ी चौंकाने वाली है। इस उदाहरण में जहाँ उन के इतिहास-बोध की दाद देनी होगी, वहीं एक और दृष्टांत देखिए—इब्सन के घर सीयन की यात्रा में जब वे भारत में नॉर्वे के राजदूत ट्रेन्केड इब्सन के बारे में मामूली-सी जानकारी दे रहे हैं। 'वे विख्यात नाटककार इब्सन के पोते तथा नोबेल पुरस्कार से सम्मानित साहित्यकार ब्योंसन के नाती हैं : यानी दादा इब्सन! नाना ब्योंसन!'

यहाँ शंकर दयाल सिंह के संस्मरणों की पुस्तक *सुरभित स्मृतियाँ* का ज़िक्र करना भी अनुचित नहीं होगा, क्योंकि यह विधा भी धीरे-धीरे हिन्दी के साहित्य-पटल से लुप्त होती जा रही है। साहित्य और साहित्य से इतर सक्रिय महान विभूतियों के संस्मरणों की अपने यहाँ समृद्ध परंपरा रही है। शंकर दयाल सिंह ने इस संकलन में 76 विभूतियों के अलावा अपना भी संस्मरण लिख दिया है। शंकर दयाल सिंह कहते भी हैं, 'संस्मरण मात्र कोई विधा

नहीं है। मेरी समझ में वह विधा से बढ़कर अनुभूति और अनुभूति से परे एक आत्मिक संवाद हैं।' निश्चय ही जब हम औरों के बारे में लिख रहे होते हैं तो भी संवाद तो खुद से ही कर रहे होते हैं। दूसरों के बहाने आत्माभिव्यक्ति ही है, संस्मरण भी। संस्मरण को ले कर शंकर दयाल जी बेहद संवेदनशील हैं— 'जीवन कहा कम, अनकहा अधिक रह जाता है। हम सपनों को सत्य बनाते-बनाते सत्य को ही सपना बना देते हैं। जीवन की भागदौड़ में कितने आते हैं, कितने चले जाते हैं। न तो हम उन्हें आँक पाते हैं और न उन्हें टाँक पाते हैं। यदि हममें यह शक्ति होती कि हर मिलने वाले का एक चित्र कूची और रंगों के सहारे हम बनाकर रख लेते तो वह हमारे लिए अक्षय कोष होता।'

डॉ. शंकर दयाल सिंह के संस्मरणों में जहाँ साहित्यकार हैं, राजनीतिज्ञ हैं, वहीं कलाकार, उद्यमी और समाज-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सक्रिय लोग हैं। चूँकि शंकर दयाल जी का अपना व्यक्तित्व भी बड़ा फक्कड़ाना और मिलनसार रहा है, साहित्य और राजनीति में एक साथ वे सक्रिय रहे हैं, इसलिए लोकमानस की गहरी पकड़ है उन के पास। वे किसी व्यक्ति या महापुरुष के भीतर तक पैठ लगाते हैं। केवल बाहर से चमकदार व्यक्तित्व का उन के लिए कोई ख़ास महत्त्व नहीं। अज्ञेय के बारे में वे लिखते हैं—'किसी को देखना अच्छा लगता है, किसी को पढ़ना अच्छा लगता है और किसी को सुनना अच्छा लगता है लेकिन अज्ञेय जी, इन तीनों पहलुओं पर एक समान परखे जा सकते हैं।'

'शालीनता में पगी शेरनी' शीर्षक से इंदिरा गाँधी को ले कर लिखा गया लंबा संस्मरण 1971 से 1977 तक के छह वर्षों के संपर्क के आधार पर लिखा गया है, जिस में इंदिरा गाँधी के राजनीतिक कौशल को बारीकी से चित्रित किया गया है। जुलाई 1977 का एक संस्मरण बयान करते हुए वे लिखते हैं, 'मेरी आँखों के सामने पूर्व प्रधानमंत्री की स्तब्धता, भयानक प्रतिहिंसा, अंदर ही अंदर क्रोध से ज्वालामुखी के समान उबलती श्रीमती इंदिरा गाँधी खड़ी थीं, जिनकी आँखों में अनाड़ी क़िस्म से झाँककर भी मैं यह देख गया कि उनके अंदर सुलगती यह ज्वाला अब आग का रूप ग्रहण कर लेगी। पता नहीं, इसमें ये खुद जलेंगी या दूसरों को जलाकर भस्म करेंगी।'

इस संकलन में कर्पूरी ठाकुर से अनुग्रह नारायण सिंह, श्रीकृष्ण सिंह तक बिहार के नए पुराने अनेक नेताओं के शब्द चित्र हैं, अमृतलाल नागर से ले कर ऋता शुक्ल तक साहित्यकारों के संस्मरण हैं और प्रसाद, निराला, महादेवी और रामधारी सिंह दिनकर तक बड़े साहित्यकारों के संस्मरणात्मक मूल्यांकन हैं। यदि इन संस्मरणों को किसी भी क्रम में रखा जाता तो बेहतर होता। अंत में अपने संतुष्ट जीवन की झलक पेश करते हुए वे लिखते हैं, 'ज्ञान की आँधी में मैं अपने आपको एक टिमटिमाता दीपक मानता हूँ। मेरे परिवार की यह नियति रही कि उसमें बड़ा लड़का अल्पजीवी हुआ, 50 वर्षों से आगे उसकी आयुरेखा न बढ़ सकी। मैं बहुत दिनों के बाद अपवाद हूँ। पाँच साल आगे बढ़ गया। नहीं जानता कि नियति किस ठौर तक मुझे साथ लेकर चलती है।'

और अंत में आलोक तोमर के रिपोर्ताज संकलन *लिखि कागद कोरे* के बारे में। आलोक तोमर ने आज की हिन्दी पत्रकारिता में रचनात्मक ढंग से फ़ीचर लेखन की अपनी नई शैली बनाई है। ख़ास कर 1984 के दंगों के बाद उन के जो मार्मिक रिपोर्ताज छपे, उन का महत्त्व दैनिक अख़बार की क्षणजीविता से ऊपर उठ कर स्थायी हो गया। इस किताब की भूमिका में राजेन्द्र माथुर लिखते हैं, 'रिपोर्टिंग भारत के लिए नई विधा है। अख़बारों के आने से पहले पश्चिम के लोग अपनी और समय की सच्चाई को लिपिबद्ध करने के लिए डायरियाँ लिखते थे, यात्रा-वर्णन लिखते थे, संस्मरण लिखते थे, इतिहास लिखते थे, लेकिन भारत का व्यक्ति यथातथ्य लेखन को शायद सार्थक गतिविधि मानता ही नहीं था। . . . यदि हम भारत की शैली में अपने समय को झेलें, तो हमें अख़बार नहीं निकालने चाहिये, बल्कि अख़बार-विलोम या एंटी न्यूजपेपर निकालने चाहिए।' राजेन्द्र

माथुर लिखते हैं कि 'सिकंदर के समय के हिन्दुस्तान का हालचाल हम यूनानी रिपोर्टरों की क़लम से मिल सकता है। लेकिन किसी भी समय के हिन्दुस्तान का हालचाल हमें अपने रिपोर्टरों की क़लम से लिखा नहीं मिलता। यह हमारे लिए शान की बात नहीं हो सकती।'

आलोक तोमर ने ग्वालियर के दैनिक *स्वदेश* से अपना पत्रकारीय जीवन शुरू किया। इस संग्रह में उन की पहली रपट भी छपी है—यह रिपोर्ट मध्य प्रदेश के राजस्थान सीमा से लगे आदिवासी गाँव में दतिया थाने से हुई 23 बच्चों की मौत के सिलसिले में दिए गए मुख्यमंत्री के बयान के विरुद्ध है। इसी रिपोर्ट से उन की धारदार क़लम का पता चल जाता है। इस के बाद भोपाल गैस कांड, इंदिरा गाँधी की मौत और उस के बाद दिल्ली में घटित सिख विरोधी दंगे, डाकुओं द्वारा आत्म समर्पण आदि प्रसंग हैं। साहित्य, संगीत और कई मानवीय सरोकारों से जुड़े रिपोर्ताज भी इस संकलन में गुँथे हुए हैं। रिपोर्ट के साथ-साथ वे एक कहांनी और ललित निबंध भी बुनते चलते हैं, जिस से वे संग्रहणीय रिपोर्ताज बन जाते हैं। *लिखि कागद कोरे* का एक संकलन के रूप में प्रकाशन हवा के एक ताज़े झोंके की तरह है।

चर्चित किताबें :

कहो व्यास कैसी कटी : गोपाल प्रसाद व्यास; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 24, दरियागंज, नई दिल्ली 110002; पृष्ठ 676; मूल्य 400 रुपए

देवेन्द्र सत्यार्थी—तीन पीढ़ियों का सफ़र : सं. डॉ. प्रकाश मनु; मानक पब्लिकेशन (प्रा.) लि., मधुबन रोड, शकरपुर; दिल्ली 92; पृष्ठ 431; मूल्य 300 रुपए

अपने आईने में : विमल मित्र; अनुवाद-अमर गोस्वामी; सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली 7; पृष्ठ 213; मूल्य 100 रुपए

मेरे सात जन्म (खंड 4) : हंसराज रहबर; वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली 2; पृष्ठ 235; मूल्य 60 रुपए

ज़िन्दगी कोई सौदा नहीं : इंदिरा गोस्वामी; अनु. नीता बनर्जी; सरस्वती विहार, जी.टी. रोड, शाहदरा, दिल्ली 32; पृष्ठ 183; मूल्य 175 रुपए

भारत भूषण अग्रवाल—कुछ यादें, कुछ चर्चाएँ : सं. बिन्दु अग्रवाल; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, 24, दरियागंज, नई दिल्ली 2; पृष्ठ 200; मूल्य 65 रुपए

यात्राएँ : हिमांशु जोशी; किताबघर, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 2; पृष्ठ 196; मूल्य 60 रुपए

सुरभित स्मृतियाँ : शंकर दयाल सिंह; प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली 6; पृष्ठ 452; मूल्य 275 रुपए

लिखि कागद कोरे : आलोक तोमर; प्रवीण प्रकाशन, महरौली, नई दिल्ली 30; पृष्ठ 149; मूल्य 125 रुपए

किताबें—7

विष्णुचंद्र शर्मा

निधन-सूचना या विरासत की खोज

राहुल जंन्मशती के अवसर पर गणितज्ञ गुणाकर मुले की यह तीसरी पुस्तक : *राहुल चिन्तन* छपी है। पुस्तक में लेखों के परिचय का क्रम है : 'यात्री राहुल', 'पुराविद राहुल', 'राहुल का समाज चिन्तन', 'राहुल का धर्म चिन्तन', 'राहुल और बौद्ध संस्कृति', 'साम्यवादी राहुल', 'राहुल और मेघनाद साहा' और 'राहुल साहित्य : एक परिचय'। राहुल जी शुरू से विवाद के केन्द्र में थे। आज भी हैं। एक बुद्धिविलासी वर्ग है, जो उन्हें समाज निरपेक्ष कोरा पंडित मानता है, दूसरा पक्षधर बुद्धिवादी वर्ग है जो राहुल की जीवन-यात्रा के विकास की समीक्षा उन के समाज-चिन्तन से करता है। ऐसे बुद्धिवादियों में गुणाकर मुले आते हैं। वह 'साम्यवादी' राहुल की खोज भी करते हैं और वैज्ञानिक धरातल पर उन पर बहस भी करते हैं। 'राहुल और मेघनाद साहा' लेख इस का ठोस आधार है। दोनों की निकटता को लेखक ने गहराई से परखा है। डॉ. साहा की पत्रिका *साइंस और कल्चर* (विज्ञान और संस्कृति) का परिचय देने के साथ गुणाकर ने राहुल को उद्धृत किया है : 'साइंस ही हमारे समाज के दैविक और भौतिक तापों को मिटा सकती है। उसी के पास रत्नगर्भा वसुंधरा के उदर में छिपी निधि के खुलने की कुंजी है। साइंस सिर्फ़ विशेषज्ञों तक ही सीमित रहने वाला ज्ञान नहीं है, उसे जन साधारण तक जनभाषा में पहुँचाना है।'

दोनों बुद्धिवादी वैज्ञानिक विशेषज्ञों की यही भूमिका देश में रही है। एक ने **वैज्ञानिक समझ** से विश्व के दैविक और भौतिक तापों को मिटाना चाहा था। उन का दूसरा ध्येय था : विज्ञान को जनसाधारण तक जनभाषा में पहुँचाना। आज़ादी के बाद यही काम बहुत कम हुआ है। डॉ. साहा ने वैज्ञानिक समझ का मसला उठाया था और आइंस्टाइन ने 'समाजवाद ही क्यों' का सवाल दूसरे महायुद्ध में सामने रखा था। जिस पर डॉ. लालबहादुर वर्मा ने *इतिहास-बोध* पत्रिका में इधर बार-बार बहस की है। यह राहुल के आज़ाद भारत में विज्ञान की समझ का मुद्दा है, जिस पर बुद्धिविलासी वर्ग पर्दा डालता रहा है।

गुणाकर मुले ने दूसरा महत्त्वपूर्ण काम किया है पुस्तक की पाद टिप्पणियों के ज़रिए। पृष्ठ 141 पर 59 संख्या की पादटिप्पणी है : 'मेरी जीवन-यात्रा का यह खंड (भाग 4 व 5) उनके जीवन-काल में क्यों प्रकाशित नहीं हुआ, इसका ठीक-ठीक कारण राहुल की डायरियों से ही जाना जा सकता है. . .मगर आगे की अपनी जीवनी क्यों नहीं लिखी, यह बात भी डायरियों से ही स्पष्ट हो सकती है। राहुल को मिथक चरित्र बनाने वाले **उनकी डायरियों, उनके ख़तों,** उनकी *नेपाल का इतिहास* जैसी मूल्यवान पुस्तक को न प्रकाशित कर भ्रम ही फैला रहे हैं।'

एक विद्वान ने महज़ अटकल के बल पर *शादी* को राहुल का मौलिक उपन्यास बताया है। इस भ्रम को तोड़ा है गुणाकर की टिप्पणी ने : 'इस **ताजिक** उपन्यास के मूल लेखक हैं **जलाल इकरामी**। (पृ. 141)' एक विद्वान ने यह दावा किया था कि राहुल उन के चेले हैं और *मानव समाज* पुस्तक का उन्होंने संपादन किया है। गुणाकर ने उक्त विद्वान की 'दिमाग़ी गुलामी' पर नोट जड़ा है। लिखा है : 'जब राहुल देवली कैम्प जेल में *मानव-समाज* लिख रहे थे, तब लेनिनग्राद पर ज़बरदस्त हवाई हमले हो रहे थे, लोला-ईगोर (राहुल पुत्र का जन्म : 5 दिसंबर 1938 में हुआ था) का जीवन भारी संकट में था। इसलिए भी राहुल ने अपनी *मानव-समाज* पुस्तक लोला को समर्पित की थी—'मदेकपुत्रा वरटा तपस्विनी' (पृ. 127)' संशोधित संस्करण से यह समर्पण क्यों ग़ायब है यह सवाल लेखक ने महादेव साहा से पूछा है। उन के 'ज्ञान' पर लेखक ने खोजपूर्ण और तीखी टिप्पणी जड़ी है।

चिन्तन भरी यह पुस्तक केवल विद्वानों के अखाड़े का मनोरंजन ही नहीं करती है, वह एक ओर पं. विधुशेखर भट्टाचार्य, डॉ. मेघनाद साहा, प्रो. धर्मानंद कोशांबी, डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल, भदंत आनंद कौसल्यायन, अकादमिक डॉ. श्चेरवात्सकी, प्रो. तोल्स्तोफ़, डॉ. वेर्नस्ताय और फ्रांस के सिल्वालेवी से राहुल के तिब्बत से मध्य एशिया तक के अनुसंधान की कहानी सुनाती है, वहीं दूसरी ओर पुराण पंथियों, दिमाग़ी गुलामों और आप मियाँ मिट्ठू बनने वाले राहुल के ज्ञाताओं को कटघरे में खड़ा करती है। राहुल के ऐसे ज्ञाता, अपने 'क्षय' का डर आज तक पाले हुए हैं। राहुल ने उन आचरण भीरू पुराण पंथियों के पोंगेपन की ख़बर ली है और उन के 'धर्म की क्षय' उन के 'भगवान की क्षय', उन के (पूँजीवादी सेठों) 'जोंको की क्षय' की घोषणा की थी। लेखक ने बताया है : राहुल बिहार की कम्युनिस्ट पार्टी के संस्थापक-सदस्य थे, वे धर्म और संस्कृति को एक चीज़ नहीं मानते थे। उन का ज्ञान अनुभव की प्रयोगशाला से सिद्ध हुआ था। लिखा है : 'राहुल उन कुरसी तोड़ समाज-चिन्तकों में से नहीं थे, जो केवल किताबों और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़कर समाज परिवर्तन के ख़याली सिद्धांत प्रस्तुत कर देते हैं। राहुल ने स्वदेश ही नहीं, अन्य अनेक देशों की विस्तृत यात्राएँ करके विभिन्न मानव-समाजों और जन-जमातों को निकट से देखा, परखा और भोगा भी। राहुल ने अतीत के अनेक समाजों के बारे में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का भी गहन अध्ययन किया। इसलिए राहुल का समाज-चिन्तन अधिक ठोस है, अनुभवाश्रित है, प्रमाणों से पुष्ट है।' (पृ. 40)

लेखक आज के भारत के लिए राहुल के चिन्तन से नए भारत के निर्माण की पृष्ठभूमि भी तैयार करता है। वह अपने अनथक श्रम से यह सिद्ध करता है, राहुल कभी आत्म संघर्ष से भागे नहीं, और देश को बदलने से वह कभी ख़तरा देख कर पीछे नहीं हटे। किसान आंदोलन में राहुल जेल गए। ज़मीन्दार ने लाठी मार कर उन का सिर तोड़ा। इस के बावजूद जब-जब पुराण पंथियों ने धर्म की आड़ में देश को पीछे ले जाना चाहा, राहुल ने उन का वैचारिक धरातल पर मुँहतोड़ जवाब दिया।

गुणाकर लिखते हैं : 'सन् 1958 में लिखी गई 100 पृष्ठों की यह पुस्तक करपात्री के सोलह सौ पृष्ठों के पोथे *मार्क्सवाद और रामराज्य* का करारा जवाब है। पुस्तक के अंतिम प्रकरण 'मार्क्सीय दर्शन' में राहुल लिखते हैं : 'मार्क्सवाद का खंडन करना करपात्री महाराज ~~के ग्रंथ~~ का उद्देश्य है और मुख्य उद्देश्य तो शोषण कर्ता सेठों के स्वार्थ का समर्थन करना है। यदि रास्ते के ये काँटे हटा दिए जाएँ, तो दुनिया के दुःखों को हटाने में देर नहीं हो सकती।' (पृ. 107)

भागो नहीं (दुनिया को) *बदलो* के मंत्रदाता थे राहुल। वह अपना घर भरने और अपना दुख भाँजने वाले दिमाग़ी विलासी नहीं थे। गुणाकर ने उन के आत्म संघर्ष को, उन के समाज संघर्ष से जोड़ते हुए लिखा है : 'राहुल ने तिब्बती अनुसंधान के लिए जून 1958 में साम्यवादी चीन की यात्रा पर जाने के क़रीब एक महीने पहले लिखी

थी। और, इन पंक्तियों को लिखने के ठीक आठ महीने पहले उन्होंने अपनी पत्नी को स्पष्ट लिखा था : "तुम्हें यह ख़याल होना चाहिए कि **तिब्बत का अनुसंधान** और **साम्यवाद की सेवा** मेरे जीवन के सब से बड़े आदर्श रहे हैं। मैंने इनके लिए **प्राणों की बाज़ी लगाने में आनाकानी नहीं की**, उनसे **विमुख होने की तो आशा ही नहीं हो सकती।**' (पृ. 107)

लेखक ने ख़तरा उठा कर, **राहुल की विरासत** की कहानी लिखी है। जैसे बिखरे हुए सोवियत संघ के नौकरशाहों ने राहुल को 'मध्य एशिया' की यात्रा करने की अनुमति नहीं दी थी, वैसे ही चीन के मार्क्सवादियों ने तिब्बत का अनुसंधान करने में उन के लिए बाधाएँ ही उपस्थित की थीं। गुलाम भारत में ख़तरा उठा कर वे तिब्बत गए थे। पर साम्यवादी चीन ने उन्हें 'तिब्बत' जा कर अनुसंधान को आगे बढ़ाने की अनुमति नहीं दी। यह घर और बाहर का मार्क्सवाद है, जिस से अकेले दम पर संघर्ष करते रहे वैज्ञानिक चिन्तक राहुल सांकृत्यायन। किसी वाम पार्टी के दस्तावेज़ों से अधिक ठोस है राहुल के जीवन-संघर्ष की यह महा गाथा, जिस पर लेखक ने सुस्पष्ट शैली में काम करके महापंडित राहुल सांकृत्यायन की विरासत को बहुसंख्यक जनता के सामने साहस के साथ रखा है। इस पुस्तक का यह ऐतिहासिक महत्त्व है।

दूसरी पुस्तक *शब्द-सितारे* है। कहानीकार देवेन्द्र इस्सर ने यहाँ दूर और पास से देखा है चंद देशी-विदेशी लेखकों को। यह दृष्टि निधन-सूचना (Obituary) जैसी है। लेखक ने जूलिया वुल्फ़ के बहाने से बताया है : 'शब्दों को चमकाओ. . . तुम एक सितारे हो और तुम्हें अपने शब्दों को सितारों की तरह चमकाना होगा।' लेखक जिन से कभी नहीं मिला, उन की मृत्यु के बाद उन से ही संवाद करते हुए उन की कीर्ति को यहाँ चमकाना चाहता है। अज्ञेय या विष्णु प्रभाकर का भी यह संस्मरण कम है, हाँ मृत्यु-संवाद इसे कहा जा सकता है : रवीन्द्रनाथ टैगोर, सआदत हसन मंटो, इस्मत चुगताई, कुर्रतुल ऐन हैदर, नादीन गार्डीयर, ज्याँ पाल सार्त्र, जार्ज आर्वेल, आर्थर कोएसलर, ऐलेन गिन्सबर्ग, बोरिस पास्तेरनाक, विलियम सरोयाँ, अमृता शेरगिल, पाब्लो पिकासो, जैन फोंडा, करतार सिंह सराभा, अल्बर्ट आइंस्टाइन और रोनल्ड डेविड लैंग से। यह मृत्यु के बाद एक बड़े फलक पर देखने या खुद से उन का नाता टटोलने का एक अख़बारी प्रयास है।

राजेन्द्र यादव ने कभी 'चेखव : एक इंटरव्यू' लिखा था। यह चेखव से अपने लेखक को जोड़ने का एक गंभीर 'प्रयोग' था। प्रयोग इस मानी में वह था कि राजेन्द्र यादव तब दिन-रात चेखव को पढ़ा करते थे और उन से कल्पना या नींद में 'बतकही' भी किया करते थे। इस से भिन्न एक प्रयोग था मनोहर श्याम जोशी का पं. हजारीप्रसाद द्विवेदी से साक्षात्कार का। मनोहर श्याम जोशी ने द्विवेदी से मिल कर अपने लेखन के 'आपे' को उस साक्षात्कार में टटोला था। इस तरह की कोई निजी छाप देवेन्द्र इस्सर की निधन-सूचनाओं से पाठक को नहीं मिलती। निधन-सूचनाओं के भी यहाँ दो छोर हैं। एक सूचना है साम्यवाद विरोधी लेखक संसार की और दूसरी सूचना पूँजीवादी दौर के 'व्यक्ति स्वातंत्र' के मोर्चे की। सरोयाँ को याद किया है इस्सर ने : 'जिस लेखक की अपने लेखन में दिलचस्पी नहीं है, वह लेखक नहीं बल्कि एक व्यापारी या कारख़ानेदार या किसी दूकान का मालिक या कुछ भी हो सकता है।' (पृ. 105) सूचना का यह एक स्तर है।

साम्यवादी विश्व के बिखराव के बाद लेखक का यह सवाल मौलिक है : 'क्या सोवियत सरकार ने स्टालिन या लेनिन पुरस्कार दिए हैं या देती है, वे राजनीतिक नहीं हैं। वे उन्हीं लोगों को दिए गए हैं, जो सोवियत रूस की नीति के अनुयायी हैं। क्या किसी सोवियत विरोधी को भी यह पुरस्कार दिए गए हैं।' (पृ. 99) देश या विदेश की पुरस्कार समितियाँ ही लेखक की इस मौलिक 'छटपटाहट' पर सैद्धांतिक उत्तर दे सकती हैं।

एलेन गिन्सबर्ग ने भारत की यात्रा करते समय ढेरों कवियों को प्रभावित किया था। पर लेखक की अंतर्दृष्टि से एलेन का 'भारत सपनों और भावना का' आध्यात्मिक देश है। लेखक ने दूर की कौढ़ी ला कर बताया है कि : 'लातिनी पुराणों की एक कथा है कि सूर्यदेव अपोलो से अप्सरा क्लाइमीन को एक पुत्र प्राप्त हुआ, जिसका नाम था फाइतन।' लेखक के लिए 'हिपोक्रेसी विरोधी' और पूँजीवादी अनिश्चय से 'बाहर' आने वाला एलेन गिन्सबर्ग दूसरा 'फाइतन' यानी 'गंगा तट पर सूर्य को नमस्कार करने वाला' आध्यात्मिक देवता है। लेखक ने इसी अविश्वास या मोह भंग की कहानी नोट की है कोयसलर की पीड़ा में। ऐसे ही जार्ज ऑर्वेल की 'गंभीर कृतियों' में लेखक ने 'लोकतांत्रिक समाजवाद' की विडंबना परखी है।

इस विडंबना भरे पूँजीवादी दर्शन से बाहर निकलने की एक कोशिश लेखक ने की है। विसंगति से विद्रोह करते जाँ पाल सार्त्र में। संवेदना का प्रति संसार देखा है दक्षिण अफ़्रीका की लेखिका नादीन गार्डीमर में। संवेदना के स्तर पर याद रह जाती हैं निधन सूचनाएँ—इस्मत चुगताई, दिलीप कुमार, सादत हसन मंटो, अमृता शेरगिल की। और प्रश्न चिह्न पैदा करती है : 'अज्ञेय की **आग** और विष्णु प्रभाकर की **मंज़िल**। लेखक की 'टूटी कड़ी' या 'अंतहीन' छटपटाहट बताती है, वह बहुत बड़े संसार से जुड़ना चाहता है। यह 'मृत्यु-संवाद' की अंतहीन कथा लेखक को न किसी आग के सामने झुलसाती है। न किसी मंज़िल तक पहुँचाती है।

राहुल जी ने भी यात्राएँ की थीं और लिखा था : 'यात्रा करते समय मेरा हमेशा ध्यान रहा कि वह केवल स्वान्तः सुखाय नहीं होनी चाहिए, बल्कि उसके आनंद में दूसरों को भी सहभागी बनना चाहिए।' राहुल की जीवन-यात्रा से हम उन की विरासत के सहभागी बनते हैं। देवेन्द्र इस्सर की निधन-सूचनाओं से हम उन के 'स्वान्तः सुखाय' का बंद पिटारा खोलते और बंद करते रह जाते हैं।

चर्चित किताबें :

राहुल-चिन्तन : गुणाकर मुले; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली 110002; मूल्य 80 रुपए

शब्द-सितारे : देवेन्द्र इस्सर; इंद्रप्रस्थ प्रकाशन, के-71, कृष्णनगर, दिल्ली 110051; मूल्य 95 रुपए

किताबें—8

गिरिराज किशोर

स्त्री-मन की सार्थक पहचान

मैत्रेयी पुष्पा नवें दशक की संभावनाशील उपन्यासकार के रूप में सामने आई हैं। *इदन्नमम्* उन का संभवतः तीसरा उपन्यास है। मैं यह मानता हूँ कि उपन्यास ही एक ऐसी विधा है जो लेखक की पहचान बनाती है। *इदन्नमम्* उपन्यास से मैत्रेयी की पहचान बनने का दौर शुरू होता है। राजेन्द्र यादव ने 'अप्प दीपोभव' में लिखा है, 'बिना किसी बड़बोले वक्तव्य के मैत्रेयी ने गहमागहमी से भरपूर इस कहानी को जिस आयासहीन ढंग से कहा है उस में नारी सुलभ चित्रात्मकता भी है और मुहावरेदार आत्मीयता भी।' 'मुहावरेदार आत्मीयता' शब्द बहुत स्पष्ट नहीं है। शायद इस का अर्थ भाषा के मुहावरों की सहजता या आत्मीयता से हो। जो भी हो, इस में कोई शक नहीं, बकौल राजेन्द्र यादव, मैत्रेयी ने 398 पृष्ठ के इस उपन्यास में कहानी को आयासहीन ढंग से कहा है। यही इस उपन्यास की पहली उपलब्धि है। दूसरी उपलब्धि, इस उपन्यास की रोचकता और जीवन के ऊहापोह की एक सजीव कथा होना है। हालाँकि इस उपन्यास को पढ़ते समय मुझे एक बात ज़रूर ध्यान आई कि जो ग्रामीण जीवन पर लिख रहे हैं; उन में से अधिकतर लोग बीस-तीस वर्ष और उस से भी अधिक समय से नगरों में रह रहे हैं। गाँव उन की स्मृति में भले ही हो पर जीवन से उसी प्रकार छूट चुका है जैसे दिया, लालटैन, बैलगाड़ी या गाय-भैंस आदि। कभी-कभी संस्पर्श मिलता है, जब वे गाँवों को एक दिन, दो या दस के लिए लौटते हैं। वह पूरा वातावरण, उस की सजीवता, उस का साकारत्व, 'नॉस्टेल्जिया' (गृह-मोह) के रूप में विद्यमान है। उपन्यासकार के रूप में मेरा अपना अनुभव भी कुछ इसी प्रकार का रहा है। अलबत्ता लेखक की अपनी दृष्टि ही उस 'नॉस्टेल्जिया' को मुख्य धारा से जोड़ती है।

इस पृष्ठभूमि में यदि *इदन्नमम्* को परखा जाय तो मुझे यह लेखिका का *नास्टेल्जिया* भी लगा, ज़िन्दगी की पकड़ भी। शायद ज़िन्दगी की इतनी मज़बूत पकड़ इसीलिए है कि उन्होंने उस पूरे अनुभव को अपनी स्मृति-मंजूषा में काफ़ी समय तक सँभाले रखा और उसे उसी तरह पकने दिया, जैसे आम को पाल में तब तक पकने दिया जाता है, जब तक मिठास पूरी तरह से रस-बस न जाए। यह कहानी मुख्यतः एक पुरुष-चरित्र और तीन महिला चरित्रों के संघर्ष की है। शेष सब चरित्र मुख्य चरित्रों के 'सपोर्टिंग' (सहायक) पात्र हैं, चीफ़ साहब हों, या मोदी या सोनपुर का प्रधान, अभिलाष, सगुना आदि। सांप्रदायिक सद्भावना, छुआछूत का उन्मूलन आदि सामाजिक बिन्दुओं की भी लेखिका ने सार्थक अभिव्यक्ति की है। परंतु यह उपन्यास मुख्यतः बऊ, मंदा, कुसमा भाभी और

पुरुषों में दादा यानी पंचमसिंह के संघर्ष की कथा है। एक और ख़ूबी है कि यह उपन्यास जाति-विशेष (यादव परिवार) की जीवन-पद्धति, रीति-रिवाजों को भी अंतर्धारा के रूप में रेखांकित करता चलता है। जाति विशेष पर आधारित कम रचनाएँ लिखी गई हैं। वैसे तो मैं इस उपन्यास की कथा बयान करके भी अपनी बात कह सकता हूँ, परंतु समीक्षा करने वाले को रचना के उन बिन्दुओं को ही पकड़ना चाहिए, जो रचना को शक्ति प्रदान करते हैं या कमज़ोर बनाते हैं। बऊ का संघर्ष जिस प्रकार का है, उस प्रकार का मंदा का संघर्ष नहीं है। जिस प्रकार का मंदा का संघर्ष है, उस प्रकार का कुसुमा का संघर्ष नहीं है। यह बात उल्लेखनीय है कि हर स्त्री अपने संघर्ष का अलग वृत्त रखती है और उसे उसी में रहने के लिए बाध्य होना पड़ता है।

इस उपन्यास की भाषा बुंदेलखंडी-मिश्रित हिन्दी, मैत्रेयी की मुहावरेदारी, मंदा और मकरंद के प्रेम, मंदा की माँ के मातृत्व के संघर्ष आदि को ले कर (जो बाद में प्रकट होता है) काफ़ी कुछ लिखा जा सकता है। परंतु मुख्य मुद्दा है महिलाओं की अपने संघर्ष के साथ सह-अस्तित्व स्थापित करने की परंपरागत सामर्थ्य और अपने आप को संघर्ष के उपयुक्त बनाने का जज़्बा। दरअसल यह उपन्यास मुख्यतः महिला-संघर्ष-प्रधान उपन्यास है। पुरुष उस में सहभागी है। सब से बड़ी बात है कि महिला-संघर्ष के सकारात्मक रूप बख़ूबी उभर कर आए हैं। बऊ अपनी पोती की सुरक्षा के लिए संघर्ष करती है और ज़मीन-जायदाद को एक तरफ़ कर देती है। वह मानती है कि उस की बहू प्रेमा पतित है। कुसुमा अपने स्त्रीत्व की रक्षा के लिए लड़ती है। पत्नी के रूप में ठुकराई जा कर प्रेमिका के रूप में अपनी पहचान बनाती है और संतान को जन्म दे कर अपने ऊपर लगे लांछन को धो देती है। प्रेमा यद्यपि अपने प्रेमी या जीजा के साथ बेटी को छोड़ कर चले जाने और माँ के रूप में लांछित हो कर भी अपने मातृत्व की रक्षा करने वाला पात्र है। अंत में वह बेटी को पाने के लिए दायर मुक़दमा वापस ले लेती है। यद्यपि वे लोग उसे रस्सों से बाँध कर मारते हैं कि वह केस वापस न ले। मंदा बऊ को समझाती है और माँ को भी। वह दोनों संबंधों को एक-दूसरे से अलग रख कर किसी को भी उस के अधिकार से वंचित नहीं करती।

स्त्रियों में संबंधों के संतुलन की अद्भुत क्षमता होती है, इस का उदाहरण मंदा है। वह सहती भी है, सोचती भी है और बिगड़े को सँभालती भी है। मंदा इस उपन्यास की संकल्प शक्ति का प्रतीक है, ठीक उसी प्रकार जैसे पंचमसिंह हैं या बऊ है। उन का संकल्प भले ही अलग-अलग हो, परंतु गरिमा में कोई अंतर नहीं है। मंदा अपने जीवन की विषमताओं और कटु अनुभव को सकारात्मक ऊर्जा में बदल कर सोनपुर के उस 'माफ़िया' से संघर्ष करती है, जो गाँव के हर व्यक्ति की आज़ादी को बंधक बनाए है। उस का संघर्ष ख़ूनी संघर्ष नहीं, न किसी राजनीति से प्रेरित है, बल्कि नितांत सोचा-समझा और अहिंसात्मक संघर्ष है। उसी से आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन की भूमिका बनती है। अपने साथ हुए बलात्कार को भी वह अपनी शक्ति बनाती है, हालाँकि आश्चर्य अवश्य होता है कि कुसुमा को उस घटना का ज्ञान होते हुए भी बलात्कार वाली बात बऊ या पंचमसिंह को पता नहीं चलती, न वह उस का कोई क़ानूनी प्रतिवाद करती है। लेकिन इस बात को यह सोच कर नज़रअंदाज किया जा सकता है कि गाँव में इस तरह की घटनाएँ छिपा ली जाती हैं। यह छुपाना मंदा के चरित्र के साथ नहीं जाता। मंदा गाँव की राजनीति और शोषण के ख़िलाफ़ एक ऐसा स्तंभ है, जिस को स्थानीय खलनायक अभिलाख हिला नहीं पाता। अलबत्ता सगुना अपने साथ रोज़-रोज़ होने वाले बलात्कार का बदला अभिलाख को चाकुओं से गोद कर लेती है। ये दोनों प्रतिक्रियाएँ एक-दूसरे के विपरीत हैं। यहाँ तक कि जब पप्पू सगुना द्वारा अभिलाख को मारने का क़िस्सा बताता है, मंदा को अपना बलात्कार याद तक नहीं आता।

भाषा, स्थितियों, उप-पात्रों के सार्थक चित्रण के बावजूद यह बात खटकती है कि मकरंद, जिसे लेखिका उपन्यास के अंत में उपस्थित करती है, आता है और चोर की तरह नर्स से अगले दिन सवेरे आने की बात कह

कर चला जाता है। बीच में वह कहीं नज़र नहीं आता। अगर आता है तो अपने संदर्भ में, न उस का संघर्ष पता चलता है, उस ने मंदा के साथ अपने संबंधों को कैसे झेला? वह अपने बाबा की तरह एक संभावनाशील और समर्थ चरित्र बन कर उभर सकता था। वह डॉक्टर न भी होता तो भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, क्योंकि उस की डॉक्टरी का मुख्य कथा में कहीं कोई उपयोग नहीं। डॉक्टर की परिकल्पना तो शायद इसलिए की गई थी कि सोनपुर में मंदा के पिता द्वारा बनाया गया अस्पताल का भवन रिक्त पड़ा था। उसे डॉक्टर चाहिए था। शायद यह सूत्र लेखिका के हाथ से फ़िसल गया और वह मंदा के चरित्र में रम गई। बाद में उसे ख़याल आया, अरे मकरंद कहाँ है? तब वह अनायास आ उपस्थित हुआ।

इन सब बातों के बावजूद *इदन्नमम्* एक प्रभावशील उपन्यास है। लेखिका की क्षमता का परिचायक है। इस बीच उपन्यासों में जो नारी चरित्र सामने आए हैं, उन के मुक़ाबले इस उपन्यास के चरित्र ज़्यादा संघर्षशील और ज़मीन से जुड़े हुए हैं। दादा पंचमसिंह तो हैं ही। पर इन महिला पात्रों के संघर्ष ने उन्हें दोयम नम्बर पर कर दिया है।

चर्चित किताब :

इदन्नमम् : मैत्रेयी पुष्पा; किताबघर, नई दिल्ली 110002; मूल्य 150 रुपए।

प्रियदर्शन

वह आदमी की भाषा में कहीं ज़िंदा रहे, बस!

कविता-समाज-लेखक-पाठक-उपभोक्ता-उत्पादक-उत्पाद-रचना-संरचना-विचार-संवेदना-करुणा-जनपक्षधरता-एकांतिकता-आस्था-निराशा—यही सारे शब्द हैं, जो बीसवीं सदी के आख़िरी दशकों की भारतीय कविता को पढ़ते हुए और उस पर विचार करते हमारे भीतर एक बेहद गतिशील-सा 'कोलाज' बनाते हैं। यह कोलाज कई प्रवृत्तियों और प्रभावों का है, स्मृतियों और संभावनाओं का है, इस में यूटोपिया भी है और यूटोपिया का अंत भी, स्वप्न भी है और स्वप्नभंग भी, जनपक्षीय सामूहिकता भी है और आत्मलीन एकांतिकता भी, शब्दों को बचाए रखने का मोह भी है और उन से मोहभंग भी—और यह सारा कुछ इस तरह है कि किसी एक प्रवृत्ति को, किसी एक प्रभाव को विशिष्ट बता कर अलगाया नहीं जा सकता। हालाँकि ऐसी कोशिशें बारंबार हो रही हैं और तरह-तरह के वादियों-विवादियों के ख़ेमे आज की कविता को अपने-अपने झंडों में लपेट लेने को आतुर हैं।

दरअसल यह एक बेहद जटिल दौर है। सिर्फ़ कविता ही नहीं, बल्कि तमाम रचनात्मक आग्रह, सांस्कृतिक और मानवीय मूल्य जीवन के नए निकषों द्वारा खोटे साबित किए जा रहे हैं। जातीय और राष्ट्रीय अस्मिताओं पर बहुराष्ट्रीय अर्थतंत्र का शिकंजा कसता जा रहा है और उस का खगोलीय संचार-संजाल भारत के मध्यवर्गीय मन को एक उपभोक्तावादी दिमाग़ में बदल दे रहा है। ज़ाहिर है कि सामाजिक सरोकारों के बारे में सोचने के संदर्भ भी बदल रहे हैं। आज का यथार्थ ज़्यादा विषमकोणीय और बहुभुज यथार्थ है। रचना संरचना में बदल रही है, बल्कि उस के आगे जा कर फिर से रचना में ढल रही है। इस अर्थ में यह उत्तर संरचनावादी दौर भी है। ऐसी जटिल स्थितियों में स्वाभाविक रूप से कविता भी किसी इकहरी प्रवृत्ति या सोच में बँध कर नहीं रह सकती। आज की कविता कहीं इस उपभोक्तावादी अपसंस्कृति के प्रतिरोध की कविता है, कहीं वह इस के विरुद्ध लड़ी जा सकने वाली जनपक्षीय लड़ाई की चाहत की कविता है, कहीं-कहीं उस में अंतरराष्ट्रीय हो उठने की बेचैनी भी है, इस कविता में अपने समय, समाज और सपनों का टूटना भी पढ़ा जा सकता है, खुद कविता की ही भूमिका की तलाश भी ढूँढ़ी जा सकती है और अपने मन, समय और समाज के छोटे-बड़े दुखों-सुखों को रचने वाली कविता तो वह है ही।

हाल के दिनों में ऐसे कई महत्त्वपूर्ण संकलन आए हैं, जिन की मार्फ़त कविता की यह बहुदिशी यात्रा पकड़ में आती है। नवें दशक के रचनात्मक अवदान को संग्रहीत करने के उद्देश्य से हिन्दी अकादमी, दिल्ली ने

कथा, आलोचना और कविता में इस दशक की संकल्पत्रयी प्रकाशित की है। ये सारे प्रकाशन महत्त्वपूर्ण हैं। *संकल्प कविता दशक* का संपादन हिन्दी के वरिष्ठ और यशस्वी कवि केदारनाथ सिंह ने किया है। यह संकलन इस दशक की हिन्दी कविता को सिर्फ़ उस की संपूर्णता में प्रस्तुत ही नहीं करता है, बल्कि इस के माध्यम से उन तंतुओं की पहचान भी संभव होती है, जो आज की कविता के मूल में है। *संकल्प कविता दशक* में संकलित नामों की सूची ही बताती है कि इसे तैयार करने में संपादक ने कितनी गहन सजगता के साथ काम लिया है। आम तौर पर दशकों या वर्षों की सीमाओं में तैयार किए संकलनों का सब से बड़ा ख़तरा यह होता है कि उस में चयनित नामों पर भरपूर विवाद हो जाया करते हैं। मगर ऐसे किसी विवाद की गुंजाइश को यह संकलन न्यूनतम करता है। हालाँकि कहने वाले कह सकते हैं कि नवें दशक की हिन्दी कविता में जिन जनवादी या जनपक्षीय रचनाकर्म की एक बड़ी धारा दिखती रही, वह इस संकलन में कुछ पतली हो गई है, मगर सही बात यही है कि मूलतः यह दशक कई प्रवृत्तियों की संवाहक कविता का रहा और इस में एक साथ रचनारत कई पीढ़ियाँ इस विशेष कालखंड के दबाव को अपने-अपने ढंग से नवसृजित करती रहीं। खुद केदारनाथ सिंह ने संकलन की भूमिका में 'आरंभिक' शीर्षक से लिखा है : 'यदि केवल पिछले एक दशक की कविता को ही लें तो दिखाई पड़ेगा कि बिना किसी शोर या हंगामे के वहाँ कम-से-कम तीन या चार पीढ़ियाँ एक साथ रचनारत हैं। ऐसा नहीं है कि ऐसी स्थिति साहित्य में पहली बार आई हो। पर इस में नई बात यह है कि ये विभिन्न पीढ़ियाँ एक ही कालखंड में रचनारत रहते हुए, एक दूसरे का विलोम या विरोधी नहीं, बल्कि एक विशेष दौर के सृजनात्मक अनुभव की सक्रिय साझीदार हैं। इस दशक का जो काव्य फलक बना वह इन सारी पीढ़ियों के रचनात्मक सह-अस्तित्व के भीतर से संभव हुआ था। इस अर्थ में यह एक ऐसा दौर था जिस के सर्जनात्मक प्रयास में एक अघोषित सामूहिकता चुपचाप सक्रिय थी।'

इस रचनात्मक सह-अस्तित्व और उस की अघोषित सामूहिकता को संकलन से गुज़रते हुए ज़्यादा शिद्दत से समझा और महसूसा जा सकता है। संकलन में जहाँ शमशेर बहादुर सिंह, अज्ञेय, नागार्जुन, त्रिलोचन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल, कुँवर नारायण, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना और श्रीकांत वर्मा जैसे वरिष्ठ कवियों की कविताएँ संग्रहीत हैं, वहीं मंगलेश डबराल, आलोकधन्वा, वीरेन डंगवाल, असद ज़ैदी, गोरख पांडे, प्रयाग शुक्ल, विष्णु खरे जैसे बीच के दौर के कवि भी मौजूद हैं और बिल्कुल युवतर कवियों कुमार अंबुज, देवीप्रसाद मिश्र, विमल कुमार, बद्रीनारायण आदि की कविताएँ भी इस में शामिल हैं। ऐसा नहीं है कि अलग-अलग पीढ़ियों के महत्त्वपूर्ण हस्ताक्षरों का सीधे-सीधे चयन कर कवि केदारनाथ सिंह ने अपने संपादन कार्य के दायित्व से मुक्ति पा ली है, वह इस चयन के पीछे की तार्किक अन्विति को अपने 'आरंभिक' में रखते हैं और इस संभावना, उत्तेजना और काव्य-चेतना को रेखांकित करते हैं, जिस से इस दौर के बहुपार्श्वीय फलक की कविता संभव हुई है। इस दशक की कविता पर मुक्तिबोध, रघुवीर सहाय, शमशेर और नागार्जुन के काव्य-व्यक्तित्व ने गहरा प्रभाव डाला। त्रिलोचन ने हिन्दी कविता के शिल्प को अपने अनूठे प्रयोग दिए और एक नए ढंग की कविता-रचना की। अज्ञेय और श्रीकांत वर्मा ने भी इसी दौर में नए काव्य-मुहावरे विकसित करने के यत्न किए। ख़ास कर श्रीकांत वर्मा का काव्य-संग्रह *मगध* हिन्दी कविता में एक अलहदा स्वाद की तरह आया जिसे बाद में कुछ कवियों ने दुहराने का यत्न भी किया। वैसे इस दशक की सब से महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में केदारनाथ सिंह ने 'कुछ पूर्वप्रतिष्ठित कवियों की एक नई काव्यात्मक पहचान के साथ पुनर्प्रतिष्ठा' को रेखांकित किया है। नागार्जुन, त्रिलोचन, केदारनाथ अग्रवाल, कुँवर नारायण की समकालीन हिन्दी कविता के परिदृश्य में नए सिरे से वापसी ने इस दशक की कविता को वाकई समृद्ध किया है।

बीच के दौर के कवियों में जो सब से महत्त्वपूर्ण बात दिखाई देती है, वह है एक आधुनिक नागर संवेदना।

मंगलेश डबराल, असद ज़ैदी, प्रयाग शुक्ल, विष्णु खरे, गिरधर राठी, इब्बार रब्बी, विष्णु नागर आदि कवियों की कविताएँ इसी नागर मन की उपज हैं। ये उस मध्यवर्गीय हिन्दी-पट्टी कीं कविताएँ हैं, जहाँ राजनीति के छल और सामाजिक पाखंड ने कई बबूल रोपे हैं। इसलिए इन कवियों में खुद को जीता हुआ एक नागर एकांत भी मिलता है, संकल्पों और सपनों का टूटना भी दिखता है और उन को नए सिरे से सहेजा-देखा जाना भी नज़र आता है। इसी तरह गोरख पांडे, वीरेन डंगवाल, आलोकधन्वा में अपने वक़्त की सामाजिक विसंगतियों को उधेड़ती एक प्रतिरोधी आवाज़ पकड़ में आती है। इन सारे कवियों ने हिन्दी कविता के शिल्प को आधुनिक नागर मुहावरे और बिम्ब दिए हैं। भाषिक कलात्मकता की यह संपदा युवतर कवियों के पास भी है और उन के यहाँ आज का यथार्थ ज़्यादा संश्लिष्ट रूप में व्यक्त हुआ है। इन नए कवियों तक आते-आते हिन्दी कविता ज़्यादा समर्थ और संगुफित अर्थों में अपने-आप को खोलने में सक्षम हुई है। कई ताज़ा और ध्यान खींचने वाले प्रयोग इन कवियों ने कथ्य और शिल्प—दोनों स्तरों पर किए हैं। देवीप्रसाद मिश्र, कुमार अंबुज, गगन गिल, विमल कुमार, एकांत श्रीवास्तव, बद्रीनारायण आदि की कविताएँ हिन्दी कविता में आई इन नई सृजन संभावनाओं का साक्ष्य हैं। *संकल्प कविता दशक* निश्चित रूप से नवें दशक की हिन्दी कविता के उस विराट फलक से परिचय कराता है, जिस में पिछले कई दशकों की कविता-यात्रा समाहित है और जो नई सदी की दहलीज़ पर एक मज़बूत और समृद्ध विरासत के रूप में विद्यमान है।

इसी तरह भारतीय ज्ञानपीठ 1983 से कविता और कथा दोनों विधाओं में हर वर्ष विभिन्न भारतीय भाषाओं की सम्मिलित चयनिकाएँ छापता रहा है। हाल ही में 1989-90-91 की भारतीय कविताओं का एक संकलन उस की ओर से आया है, जिस में चौदह भाषाओं की नौ-नौ कविताएँ संग्रहीत हैं। इस संकलन में हर वर्ष हर भाषा की तीन-तीन कविताएँ मौजूद हैं। आसानी से समझा जा सकता है कि विभिन्न भाषाओं की समृद्ध काव्य-परंपरा से वर्ष की मात्र तीन-तीन कविताएँ चुनना दुष्कर तो है ही उन की मार्फ़त उन सारी प्रवृत्तियों को समझना भी मुश्किल है जो उन भाषाओं में काव्य-रचना पर प्रभाव डाल रही हैं। फिर भी समकालीन भारतीय कविता का एक पूरा परिदृश्य सामने रखने में यह संकलन समर्थ है। इस के साथ-साथ इन कविताओं से गुज़रते हुए उन सामाजिक प्रश्नों को ज़्यादा बेहतर ढंग से समझा जा सकता है जिन से अलग-अलग भाषाओं और उन के माध्यम से खुद को अभिव्यक्त करने वाली सामाजिक और जातीय इकाइयों की रचनाशीलता दो-चार हो रही है। ऐसे संकलनों में पूरे देश की सांस्कृतिक एकता को आभामंडित करने वाले भी अपने लिए पर्याप्त उदाहरण पा सकते हैं। मगर मूल बात यह है कि लगभग एक ही सी समस्याओं से गुज़रते हुए या एक ही सी उदासियों को जीते हुए, एक ही से मिथक-संसार से प्रेरणा लेते हुए और एक ही सा भविष्य का कुहरा बाँटते और काटते हुए ये कविताएँ अपनी-अपनी भाषाओं की निज़ी विरासत हैं। एक बात यह भी समझ में आती है कि हिन्दी के साथ-साथ दूसरी भाषाओं का रचना-संसार भी इन वर्षों में न सिर्फ़ आधुनिक हुआ है, बल्कि वह उन सवालों को अभी भी ज़्यादा शिद्दत से उठा रहा है जो हिन्दी कविता में या तो अप्रासंगिक मान लिए गए हैं या जिन्हें सामाजिक मोहभंग के एक बड़े दबाव ने पीछे छोड़ दिया है। कई स्थलों पर ये कविताएँ बड़ी एक-सी दीखती भी हैं। मसलन महाभारत के मिथकों और ख़ास कर कृष्ण और अर्जुन के संवादों को ले कर असमिया के विपुल ज्योति शइकिया, ओड़िया के शत्रुघ्न पांडव और बाङ्ला के सुभाष मुखोपाध्याय की कविताओं में एक अनूठा साम्य दिखता है—न सिर्फ़ काव्य रचना की मनःस्थिति के स्तर पर, बल्कि उस के शिल्पगत विन्यास के संदर्भ में भी। इसी तरह पंजाबी, कश्मीरी या गुजराती कविताओं में और दूसरी भाषाओं की कविताओं में भी सामाजिक-राजनीतिक नागफनियों के उग आने

का दर्द या दरकते हुए मन का संताप एक जैसा ही पढ़ा जा सकता है।

मगर काव्य-भूमि की इस एकरूपता और काव्य-चेतना की इस संगति के बावजूद ये कविताएँ ख़ालिस अपने-अपने भाषा-संस्कारों की कविताएँ हैं। शायद इन के हिन्दी अनुवाद इस भाषा-संसार को पकड़ पाने में एक अवरोध साबित हों, मगर यह तो पता चलता ही है कि इन के मूल में अपना एक भाषिक और स्थानिक वैशिष्ट्य काम कर रहा है। इन कविताओं की एक बड़ी ख़ास बात यह है कि इन में सौन्दर्य और स्वाधीनता की एक दिपदिपाती चेतना बड़ी आसानी से महसूस की जा सकती है। काव्य-चेतना के मूल उपादानों में ये दो राग हमेशा से रहे हैं, मगर आज आधुनिक और उत्तर आधुनिक दबावों ने जिस तरह जीवन के दूसरे सरोकारों के साथ-साथ कविता को भी अपनी गिरफ़्त में ले लिया है, उसे देखते हुए इन रागों की इतनी खुली हुई उपस्थिति एक सुखद विस्मय जगाती है और यह भरोसा भी बनता है कि भारतीय सृजनशीलता में इस दबाव की एक प्रतिरोधी चेतना अभी तक विद्यमान है। डॉ. र.श. केलकर द्वारा संपादित *भारतीय कविताएँ : 1989-90-91* नामक यह संग्रह इस लिहाज़ से एक महत्त्वपूर्ण चयनिका के रूप में सामने आता है।

भारतीय भाषाओं की इस कविता-चर्चा के बीच ध्यान आता है नेपाली कविताओं के एक छोटे-से सद्यप्रकाशित संग्रह का। भविलाल लामिछाने की चुनी हुई कविताओं का यह संग्रह बताता है कि नेपाली कविता अभाव और शोषण के बीच पिसते सीधे-सादे नेपाली समाज की पीड़ाओं को तो अभिव्यक्ति देती ही है, उस मेहनतकश आस्था को भी स्वर देती है जो इस समाज की जिजीविषा का आधार है। 'नब्बे वर्षीय बुड्ढे का एक प्रश्न' कविता पढ़ते हुए प्रसिद्ध नेपाली कवि मोदनाथ प्रश्रित की कविताएँ सहसा याद आती हैं, जिन में अपने समाज के निरंतर छले जाने की तल्ख़ी के साथ-साथ उस की अस्मिता के प्रति चिन्ता भी व्यक्त होती है। भविलाल की कविताएँ एक काफ़ी बड़े परिप्रेक्ष्य और अपील को अपने भीतर समेटती हैं। 31 अक्तूबर 1984 को भारतीय प्रधानमंत्री श्रीमति इंदिरा गाँधी की हत्या और उस के बाद देश भर में हुए नरसंहार को विषय बनाती भविलाल लामिछाने की एक कविता है, जो शायद इस प्रसंग को ले कर लिखी गई सब से मार्मिक कविताओं में एक है।

इसी क्रम में प्रयाग शुक्ल द्वारा संपादित 1993 की भारतीय कविताओं का संग्रह अपने अपेक्षाकृत छोटे कलेवर के बाद भी एक सजग और सुलझे हुए चयन के रूप में ज़्यादा ध्यान खींचता है। इस में चौदह भारतीय भाषाओं के पच्चीस कवियों की कविताएँ हैं। इस संकलन की एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन में शामिल कविताओं का हिन्दी अनुवाद हिन्दी के जाने-माने कवियों द्वारा किया गया है और नतीज़े में ये कविताएँ ज़्यादा सुघड़ और सुगठित रूप में हमारे सामने आती हैं। ये कविताएँ भारतीय काव्य जगत की विविधवर्णी छटा से हमारा परिचय कराती चलती हैं। आधुनिक काल के जटिल होते जीवन और कठिनतर होते समय का संताप भी इन कविताओं में दिखता है और जीवन के मूल में व्याप्त रूप-रस-गंध को बचा लेने का आग्रह भी। इन कविताओं में रचे गए प्रतीक और बिम्ब कई बार नए अर्थों के साथ खुलते हैं और यथार्थ की अनुभवातीत या कम पकड़ में आने वाली परतों को सहसा रोशन कर देते हैं। कई बार दैनंदिन उपयोग की छोटी-छोटी चीज़ें जीवन के बड़े प्रतीकों में देखते-देखते बदल जाती हैं। मसलन मलयाळी कवयित्री सावित्री राजीवन की कविता 'चश्मा' में आँखों पर टिका चश्मा कई रूपों में ढल जाता है '—*चश्मा एक दरवाज़ा है/जिससे मैं बात करती हूँ किसी अजनबी से/किसी मेहमान और मित्र से/चश्मे से ही मैं बात करती हूँ/बच्चों, चिड़ियों और ईश्वर से।*'

इस संग्रह की बहुत सारी कविताएँ अपने वक़्त के चौतरफ़ा दबावों से हमारी पहचान भी कराती हैं। कहीं-कहीं

यह दबाव इतना अधिक हो जाता है कि वह रचनाकर्म को ही नष्ट करने लगता है। पंजाबी कवि सुरजीत सिंह पातर की कविता 'कवि साहिब' इस दबाव को बड़ी गहराई के साथ स्वर देती है। कवि कभी राजा के डर से और कभी बाग़ी गुरिल्लों के डर से अपनी पंक्तियाँ काटता चलता है और उसे अहसास होता है—*कि हमारे वक़्त में ख़ौफ़ के मारे/कवि भी बन गए/कविता के हत्यारे।* इसी तरह आम तौर पर हुस्नो-इश्क के नखरे उठाने की तोहमत झेलती उर्दू कविता का मिज़ाज इस संग्रह में बदला-बदला नज़र आता है और वह अपने वक़्त के ज़रूरी सवालों के रू-ब-रू नज़र आती है। ख़ास कर निदा फ़ाज़ली जो उर्दू शायरी की अलहदा सामाजिक रवायत के बड़े शायर हैं, की नज़्में इस सिलसिले में ध्यान खींचती हैं।

आम तौर पर भारत में लिखी जा रही अंग्रेज़ी कविता पर जड़ों से कटी हुई होने की तोहमत लगती रही है, मगर संग्रह में शामिल विजय नंबीसन की कविताएँ यह भ्रम तोड़ती हैं। ख़ास कर उन की कविता 'परछत्ती' संग्रह की कुछ सब से अच्छी कविताओं में एक है। *कविता 93* में तीन हिन्दी कवियों कुँवर नारायण, विनोद कुमार शुक्ल और देवीप्रसाद मिश्र की कविताएँ शामिल हैं। ये तीन अलग-अलग पीढ़ियों के प्रतिनिधि कवि भी हैं। देवीप्रसाद मिश्र की कविताएँ हिन्दी में अपने विशिष्ट शिल्पगत प्रयोगों की वज़ह से अलग से पहचान में आ जाती हैं।

नए शिल्प की तलाश या नए मुहावरों की रचना या अभिव्यक्ति के नए तरीक़ों की ईजाद आज की भारतीय भाषाओं की कई कविताओं का अभीष्ट प्रतीत होती है। विचारों और संवेगों की एक नई दुनिया समकालीन कविता में दाख़िल हो रही है और पुरानी व्यंजनाएँ इन नए अर्थों को समाहित करने में अपर्याप्त साबित हो रही हैं। इसीलिए मराठी, गुजराती, कन्नड, असमिया और दूसरी भारतीय भाषाओं में एक नए मिज़ाज और अंदाज़ की कविताओं का रचा जाना जारी है। प्रयाग शुक्ल द्वारा संपादित *कविता 93* न सिर्फ़ इन नई काव्य-प्रवृत्तियों की पड़ताल के लिए पर्याप्त सामग्री सुलभ कराता है, बल्कि समकालीन भारतीय कविता को उस के बदलते हुए परिदृश्य के साथ पूरी समग्रता में हमारे सामने रखता है।

समकालीन कविता के मिज़ाज को समझने की इस कोशिश में एक ताज़ा काव्य-संकलन *कोंपल* का ज़िक्र समीचीन होगा। गत वर्ष 14 से 18 जून के बीच भोपाल में पोइट्री सोसाइटी ऑफ़ इंडिया ने क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय के साथ मिल कर एक कविता-कर्मशाला का आयोजन किया। किसी कर्मशाला में कविता-लेखन का प्रशिक्षण दिया जा सकता है या नहीं, ये एक बहस का विषय हो सकता है, मगर इस कर्मशाला से जो निष्कर्ष निकलते हैं, वे बड़े सकारात्मक हैं। इस का प्रमाण है इस कर्मशाला में भाग लेने वाले 15 से 20 वर्ष के किशोर-कवियों का संग्रह *कोंपल* जिस का संपादन प्रसिद्ध हिन्दी लेखक और कवि तथा कर्मशाला के प्रभारी संयोजक भगवत रावत ने किया है। इस संग्रह में वैसे तो ढेर सारी कविताएँ किशोर मन की भावाभिव्यक्तियाँ ही हैं, मगर इस के साथ-साथ कुछ चौंका देने वाली संभावनाओं से भी यह संग्रह परिचित कराता है। एक नई सदी की दहलीज़ पर खड़े ये किशोर अपने बारे में, अपने संबंधों, संपर्कों की दुनिया के बारे में, और अपने समय और समाज के बारे में किस ढंग से सोचते हैं, यह एक देखने की बात है। आशीष त्रिपाठी, आर. हरिहरन, अंकुर, आदित्य चतुर्वेदी, नितिन नेमा 'सुबोध' आदि की कविताएँ काफ़ी परिपक्व कविताएँ हैं। ख़ास कर आशीष त्रिपाठी की कविताएँ 'माँ का जन्म', 'पड़ोसी' और 'संकट का समय' एक बड़े सामाजिक कैनवास पर बन रहे अलगाव, अकेलेपन और उस से उपजे संघर्ष के चित्रों को बहुत बारीकी के साथ पकड़ती है। —*ख़ाली वक़्त में/ताकती रहती है माँ आज भी/कोई आए शायद पूछने/क्या बनाया आज खाने में/पहुँच रही थी महक हमारे यहाँ तक/पर कोई नहीं आता। और बेचैन हो जाती है माँ/इस उमर में जाकर/माँ सीखना चाहती है पत्र लिखना/माँ लिखना*

चाहती है/किसी पुरानी आंटी को पत्र । आशीष को अहसास है कि ज़िन्दगी के दबावों में टूटते हुए— *पापा ने नहीं लिखी अरसे से/कोई कविता/नहीं सुनायी बैठा कर चाव से ।* सुषमा मिस्त्री 'चिंगारी' की कविताओं में अभिव्यक्ति की बारीकी भी प्रभावित करती है— *मैं नहीं गया/मैं आया ही क़ब था/जिस गीत के/अधूरे छूट जाने का/तू आरोप लगाती है मुझ पर/मैंने गाया ही कब था ।* यह सच है कि बिरवों का क़द नहीं नापना चाहिए, मगर *कोंपल* की कविताएँ बताती हैं कि तमाम विपरीत परिस्थितियों के बीच रचनात्मकता की कोंपलें बची हुई हैं जो आने वाले कल को नई संवेदनाओं के रूप में फूटेंगी ।

वस्तुतः आज की भारतीय कविता व्यक्ति, समाज, राजनीति और सभ्यता के आम फ़हम मुद्दों और उन के सरलीकृत निष्कर्षों की कविता नहीं है, वह हर क्षण, हर पल नए सिरे से देखी जा रही दुनिया और उस के बदलते हुए गतिशील यथार्थ को जी रही कविता है । इस में वह क्षण महत्त्वपूर्ण है जिस में कविता रची जा रही है । यह देशकाल के बहुपरतीय दबावों के बीच जीने के पल तलाशती कविता है । क़तई ज़रूरी नहीं, कि ये पल सिर्फ़ आशावादी हों या उम्मीदों से भरे हों, इन में कहीं-कहीं गहरी निराशाएँ गहरी नाउम्मीदियाँ भी हैं, मगर इन निराशाओं और नाउम्मीदियों की पहचान भी कहीं न कहीं जीने की शर्तों से जुड़ी चीज़ है । और इसीलिए बाज़ार व्यवस्था के सारे दबावों और उपभोक्ता संस्कृति के सारे तनावों के बावजूद और तेज़ी से भाग रही इस सभ्यता में किसी रचनात्मक प्रक्रिया के लिए फ़ुरसत न निकाल पाने की सामाजिक विवशता के बाद भी कविता बची हुई है, इस भरोसे के साथ कि वह कल को भी बची रहेगी । *कविता 93* में हिन्दी कवि कुँवर नारायण की एक कविता है 'कविता' जिस में कवि कहता है :

कोई चाहे भी तो रोक नहीं सकता
भाषा में उसका बयान
जिसका पूरा मतलब है सचाई
जिसकी पूरी कोशिश है बेहतर इंसान
वह आदमी की भाषा में
कहीं, किसी तरह ज़िंदा रहे बस ।

चर्चित किताबें :

संकल्प कविता दशक : संपादक केदारनाथ सिंह; हिन्दी अकादमी, समुदाय भवन, पद्म नगर, दिल्ली 110007; प्रथम संस्करण 1992; मूल्य 75 रुपए

भारतीय कविताएँ 1989-90-91 : संपादक र.श. केलकर; भारतीय ज्ञानपीठ, 18, इंस्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नई दिल्ली; प्रथम संस्करण 1993; मूल्य 150 रुपए

भविलाल लामिछाने की चुनी हुई कविताएँ : नेपाली से अनुवाद : खड़कराज गिरी; बोधकुमारी स्मृति प्रकाशन, नेपाल। विष्णु मंदिर, टोपला बस्ती, डिगबोई 786171; प्रथम संस्करण 1994; मूल्य 10 रुपए

कविता '93 : संपादक प्रयाग शुक्ल; वाणी प्रकाशन, 4697/5, 21-ए, दरियागंज, नई दिल्ली 110002; प्रथम संस्करण 1993; मूल्य 110 रुपए

कोंपल : संपादक भगवत रावत; क्षेत्रीय शिक्षा महाविद्यालय, भोपाल, म.प्र.

मिथिलेश श्रीवास्तव

नैतिकता का आग्रह करती कविताएँ

समकालीन कवियों में से कुछ का मानना है कि राजेश जोशी सामयिक मनुष्य-विरोधी घटनाओं की तत्काल प्रतिक्रिया कविता में करने में अत्यंत सक्षम कवि हैं। यह बात उन दिनों की है जब अयोध्या में बाबरी मस्जिद की दुर्घटना के बाद *जनसत्ता* में उन की कुछ कविताएँ छपी थीं। 'तत्काल प्रतिक्रिया' के कारण कवि का सरोकार उस की ईमानदारी और समाज के प्रति उस की ज़िम्मेवारी कम नहीं हो जाती है। ध्यान देने की बात है कि यहाँ कविता की तात्कालिकता की बात नहीं हो रही है। नैतिकता का आग्रही और कविता में वैचारिक आधार का होना ज़रूरी है। भारतीय समाज एक विचित्र स्थिति में फँसा है। धार्मिक असहिष्णुता को बढ़ावा देने वाले लोगों की सक्रियता, इतिहास और समाजशास्त्र की विकृत व्याख्या करने वाले लोगों की बीमार मानसिकता और नैतिक और चारित्रिक पतन को सफलता मानने वाले लोगों को समझना ज़रूरी है। सामाजिक बदलाव, और दलितोत्थान की अतिभावना के शिकार हुए पागल लोगों के द्वारा सौमनस्यता नष्ट की जा रही है। असहिष्णुता और वैमनस्य भारतीय समाज में ही नहीं, बल्कि किसी भी समाज में जीवन के आधार नहीं हो सकते। राजेश जोशी में दलितोत्थान की इच्छा दिखाई पड़ती है। उन की कविता में ऐसे लोग हैं जो प्रभुवर्ग में नहीं हैं। ऐसे लोगों का कविता में आना, उन की संवेदना का गारिमामय होना, उन के विचार, दर्शन और संघर्ष को कविता का आधार बनाना राजेश जोशी की इस इच्छा का समर्थन है।

'जन्म' के बंजारे, 'नट' के नट, 'घोंसलों' के मजूर, 'थोड़ी-सी जगह' के आदिवासी, 'प्रजापति' के विदूषक और फ़ोरमैन, 'मसख़रे' के मसख़रे आदि उन के लोग हैं। संचार-माध्यमों के जरिए भाषा और संस्कृति पर किया गया आक्रमण, बच्चों के अभावग्रस्त जीवन और उन पर लगातार हो रहा अत्याचार; अत्याचार को सहने और उस का विरोध न करने की इच्छा, दंगों से फैला भय और आतंक, संपन्न प्रभुवर्गों में फैली ऊब, बाज़ार की फैलती हुई संस्कृति का फैलता हुआ ज़हर, पुरखों से कटती जा रही मौजूदा और भावी संततियाँ—मोटे तौर पर राजेश जोशी के सरोकार हैं, जिन्हें वे समसामयिकता के साथ जोड़ कर देखने की कोशिश करते हैं। फ़्लैप पर कवि की एक छोटी-सी टिप्पणी है जो कवि-दृष्टि का खुलासा करती है। वे लिखते हैं : 'सात-आठ वर्षों में बहुत तेजी से अप्रत्याशित और विस्मित कर देने वाले परिवर्तन हुए हैं। परिवर्तन मानवीय तकलीफ़ों से भरे हैं। निराशा, उदासी और उन्माद के बीच विराट श्रमशील जनता उम्मीद की तरह है।' राजेश जोशी के लोग श्रमशील हैं, जो थोड़े में

अपना गुज़र-बसर करते हैं और ज़्यादा से ज़्यादा जगह मनुष्य के रहने लायक़ और सुंदर बनाने में जुटे हैं। सात-आठ वर्षों के इस सामाजिक परिवर्तन को देखने-समझने की कोशिश इन कविताओं में दिखाई पड़ती है।

पिछले पंद्रह-बीस वर्षों की कविताओं के बारे में कहा जाता है कि ये कविताएँ कवियों के विस्थापन की पीड़ा से भरी हुई हैं। वर्षों शहरों में रह कर और रहते-रहते मकान बनाने की इच्छा से जन्मे एकाकीपन की पीड़ा इन कविताओं में है। राजेश जोशी की कविताएँ (इस संग्रह में) इस पीड़ा से मुक्त हो चुकी हैं। ज़ाहिर है अपनी मर्ज़ी से और बेहतर जीवन-यापन की इच्छा से विस्थापित लोगों की पीड़ा से बड़ी पीड़ा है उन लोगों के विस्थापन में जिन्हें ज़बरन उन की ज़मीन से विकास के नाम पर बेदख़ल कर हटाया जा रहा है।

विकास के नाम पर विस्थापित होने के लिए मजबूर किया जा रहा है, जब कि वे अपनी ज़मीन पर रहना चाहते हैं। ऐसे विस्थापित लोगों का शहर में क्या स्थान है, उन के पास क्या है? वैसे विस्थापितों का दर्द राजेश जोशी की कविता में है : *एक छोटे से टाट की आड़ और लालटेन की मद्धिम रोशनी में/बंजारन बहू ने जन्म दिया है अभी-अभी एक बच्चे को।*—('जन्म')। *मैं इस जर्जर रस्सी पर नहीं बापू/भरोसे की डोर पर चलता हूँ दिन रात।*—('नट')

असहमत लोगों के जबरन विस्थापन की पीड़ा समकालीन कविता में बहुत कम दिखाई देती रही है। विकास के नाम पर देश के कोने-कोने से उजाड़े जा रहे लोग ऊँट की पीठ पर पूरी गृहस्थी ले कर चलने वाले बंजारों के मन में भी स्थिर जीवन की आकांक्षा होती ही है। सृजन और जन्म की इच्छा भी होती है : *बंजारन औरत नमक को ऐसे बाँधती है, जैसे उस ने बाँध लिया हो पूरा अरब सागर।* नट एक जाति है जो करतब दिखाती है लेकिन हर मनुष्य एक नट की तरह है, अंतरमन साधता, सफलता-असफलता और मृत्यु और जीवन के बीच के द्वंद्व को लगातार झेलता लेकिन यह पीड़ा उस आदमी की ही है जो वास्तव में नट है।

नेपथ्य में हँसी राजेश जोशी के ताज़ा संग्रह का नाम है जो इसी वर्ष छप कर आया है और जो शायद *समर गाथा, एक दिन बोलेंगे पेड़* और *मिट्टी का चेहरा* संग्रहों के बाद चौथा संग्रह है। उन की कविताओं पर उन के कहानीकार, नाटककार और अनुवादक रूपों का कोई प्रभाव नहीं दिखाई देता है। संग्रह के नाम से इस में एक कविता भी है, जिस में संचार माध्यमों के माध्यम से भाषा और बोली पर आक्रमण करने वालों के चरित्र को रेखांकित किया गया है। मज़ाक़ पर या मज़ाक़ में हँसने वाले लोग नेपथ्य में चले गए हैं और वहाँ से सब कुछ नियंत्रित कर रहे हैं। नेपथ्य में वे तरह-तरह की हँसी हँसते हैं, और हमें प्रलोभित करते हैं कि हम भी हँसें। वे हमें एहसास कराते हैं कि अगर हम उन की तरह हँसेंगे, तो कभी नहीं फँसेंगे क्योंकि हमारी हँसी से विरोध प्रकट ही नहीं होगा। नेपथ्य में हँसने वाले लोग ही हत्यारों के संबल हैं। इस कविता को 'मारे जाएँगे' और 'नफ़रत करो' कविताओं के साथ पढ़ने पर हमारे समय के आदमी की चारित्रिक विडंबना उभर कर सामने आ जाती है : *सबसे बड़ा अपराध है इस समय/निहत्थे और निरपराध होना/जो अपराधी नहीं होंगे मारे जाएँगे।* खुशामदी और अपराधी क़िस्म के लोगों के लिए यह समाज सुरक्षित है। उन्माद और राजनीतिक पतन के पागलपन में शरीक़ होना, बचे रहने की पहली शर्त हो गई है। क्या कवि कहना चाहता है कि अच्छाइयाँ हार गईं? समाज और भाषा की यही स्थिति है। यह व्यंग्योक्ति है या कवि की पीड़ा कि यह समाज भटके मनुष्य के लिए नहीं रहा! कवि निराश नहीं है इसलिए यह पीड़ा व्यंग्योक्ति में है, भले लोगों की आँखें खोलने का एक सहज प्रयास है। हर व्यक्ति को विचार करना है कि वह अपराधी बनेगा या सच बोलेगा और मारा जाएगा। *नफ़रत करो/इसमें बिल्कुल ख़तरा नहीं है।*

इसी तरह एक कविता है 'घृणा के बारे में कुछ शब्द'। भारतीय सभ्यता और धर्म परंपरा में घृणा के त्याग का उपदेश है : *लेकिन इतनी बुरी भी नहीं है कि जहाँ ज़रूरी हो वहाँ भी न की जा सके।* (घृणा)।

'नेपथ्य में हँसी', 'मारे जाएँगे' और 'नफ़रत करो' कविताओं को पढ़ते समय रघुवीर सहाय की याद आ जाती है। *हँसो, हँसो, जल्दी हँसो* संग्रह की उन की कई कविताएँ भी याद आ जाती हैं। राजेश जोशी की इन कविताओं में रघुवीर सहाय की छायाएँ दिखाई पड़ती हैं। 'घृणा के बारे में कुछ शब्द' की इन पंक्तियों को देखें : *विरोध करने वालों में से हत्यारे किसी एक को चुनते हैं/और मार डालते हैं सरेआम/सोचते हैं हत्यारे, इस तरह घृणा को बदला जा सकता है/भय में, हमेशा के लिए।*

रघुवीर सहाय की कविता 'रामदास' में भी हत्यारा यही करता है। शायद बदले की भावना से सरेआम रामदास की हत्या कर दी जाती है और लोग तमाशाइयों की तरह खड़े रह जाते हैं। राजेश जोशी की यह कविता बदले की भावना से की हुई हत्या की बात नहीं करती है, बल्कि हत्या के माध्यम से भय का आतंक फैलाने की बात करती है, ताकि विरोध करने का कोई साहस ही नहीं कर सके। बीस वर्षों के दरम्यान निजी दुश्मनी सामाजिक दुश्मनी में बदल गई है। पूरे समाज को आतंकित कर के रखना हत्यारों के लिए ज़रूरी हो गया है। 'रामदास' की हत्या का विरोध न करने का ही परिणाम है कि हत्यारों का हौसला बढ़ता गया और उन्होंने पूरे समाज को आतंकित किया है। 'रामदास' हत्यारों का एक प्रयोग था, जिसे सफल होते देख उन के हौसले बुलंद हो गए हैं। रघुवीर सहाय ने इस कविता के माध्यम से इशारा किया था कि हत्यारे भी प्रयोग कर रहे हैं कि कैसे लोगों को आतंकित करके भयग्रस्त किया जा सकेगा और विरोध का स्वर दबाया जा सकता है। राजेश जोशी की कविता में शायद इस बात की पुष्टि है कि उन के प्रयोग सफल हुए और शायद इसीलिए उन्होंने लोगों से घृणा करने का आह्वान भी किया है।

राजेश जोशी के सरोकारों पर कोई प्रश्न खड़ा करना न आसान है, न जायज़ है, न ज़रूरी है। फिर भी 'घोंसला' कविता में कुत्ते और कौव्वे और मजूरों के बच्चों के बीच की तार्किकता समझ में नहीं आती है। दृश्य प्राकृतिक हैं। कुत्ते और कौव्वे जीवों में अच्छे जीव नहीं माने जाते हैं। लेकिन उन में कुछ अच्छाइयाँ हैं। कुत्ता स्वामीभक्त होता है, दुष्ट और दुश्मनों को पहचान लेता है। कौव्वा कुरूप होता है, उस की बोली अप्रिय होती है लेकिन वह आने वाले की सूचना देता है, कोयल की ज़्यादतियाँ सहता है, परिस्थितियाँ जितनी भी प्रतिकूल हों, अपना घोंसला बना लेता है। झपट्टामार कुत्ते और कौव्वों की मानवीयता क्या अनुकरणीय हो सकती है? मजूर के बच्चों का कुत्ते और कौव्वों के साथ क्या कोई संबंध बनता है? निर्माण-स्थल पर जैसे मजूर पहुँचते हैं, वैसे कुत्ते पहुँचते हैं, कौव्वे पहुँचते हैं। *चीज़ें कई बार अज़ीब दुविधा में डाल देती हैं/कई बार उनकी क़ीमत के आगे/कम हो जाती है हमारी क़ीमत/और शर्म से देखने लगते हैं हम/अपने जूतों की तरफ़* —'वस्तुओं के बारे में एक कथन'

जूते ही क्यों, कई चीज़ें जो हमें शर्मसार कर रही हैं। कितना ज़रूरी लगता है यह कहना कि चीज़ों के आतंक से बचने के लिए आदमी को अपने अंदर एक विचार पैदा करना चाहिए, तभी वह भयमुक्त हो सकता है। जूतों के कारण शर्म महसूस करने की चेतना मध्यवर्गीय चेतना है जो वैभव संपन्न नहीं है और वैभव पाने की लालसा मन में रखता है। इस लालसा के कारण वह नेपथ्य से हँसने का काम भी कर सकता है।

कविताएँ आदमी को शर्म से बचा सकती हैं, अगर वे उन तक पहुँचें। पाठक तक कविताएँ पहुँचाने का काम कैसे हो, इस पर विचार करने की ज़हमत कोई नहीं उठा रहा है, हालाँकि सब लोग इस बात पर एक मत हैं कि कविता लोगों तक नहीं पहुँच रही है। कुबेरदत्त के संग्रह *काल-काल आपात* की भूमिका में भगवान सिंह ने तो यहाँ तक कह दिया है कि कविताएँ सिर्फ़ कवि ही पढ़ते हैं। उन के इस वक्तव्य से सहमति शायद संभव नहीं है, क्योंकि कविताएँ सिर्फ़ कवि ही नहीं पढ़ते हैं। उदासीन पाठक की बात कुछ हद तक समझ में आ सकती है। पुस्तकों की सरकारी ख़रीद की सुविधा ने प्रकाशकों को सुविधाभोगी बना दिया है। कविता के एक जनोन्मुखी रूप की प्रतीक्षा भी रहेगी। दूसरी बात यह है कि कवि की तरह ही कविता के पाठक भी अंतर्मुखी होते हैं। वे ज़्यादा

शोर नहीं मचाते कि उन्होंने कितनी कविताएँ पढ़ी हैं। पर पाठक की उदासीनता का टूटना ज़रूरी है।

कविता को लोगों तक पहुँचाने के कारगर तरीक़े के बारे में विचार करने की ज़रूरत है। 'कविता-आवृत्ति' को रघुवीर सहाय कविता के प्रचार का सार्थक माध्यम मानते थे। दरअसल कविता को दिनचर्या का हिस्सा बनाना ही एकमात्र उपाय है। दूरदर्शन पर बाज़ार संस्कृति और चारित्रिक पतन बार-बार दिखाया जाता है। वह लोगों के जीवन का तुरंत हिस्सा बन जाता है, जबकि कविता या नैतिक संवेदना, चरित्र आदि से जुड़ी चीज़ें दूरदर्शन पर रस्म की तरह दिखाई जाती हैं। दूरदर्शन पर जो दिखाया जाता है, वह क्या है, कुबेरदत्त अपनी कविता 'दृश्य दलदल' में बार-बार पूछते हैं : *यह कैसा/विचित्र स्वप्न-दृश्य-श्रव्य है?/या कल्पना महज़/या किसी सत्य का री-प्ले?/या कोई उत्तर व्याख्या?/या कुछ भी नहीं/या फिर क्या है यह?*

हम उस दौर में जी रहे हैं जो दृश्य-श्रव्य माध्यम के संजाल की व्याप्ति का दौर है। (कविता-संग्रह की भूमिका, 'अपनी बात से') *काल काल आपात* कुबेरदत्त का पहला कविता-संग्रह है जिस में लगभग 70 कविताएँ संकलित हैं जो छह उपशीर्षकों में विभाजित हैं—संपादकीय, धरा फिर ले रही आलाप, वीरान में उत्सव, अंगूर की बेल और टैंक, यह समय और प्रयोजित विपर्यास, और काल काल आपात। उन्होंने कई कविताएँ सीरीज़ में लिखी हैं—कैमरा (दो), अयोध्या (दो), समय के माथे पर लकीर (दो), केरल-प्रवास (सात), शब्द विचार (दो), संगीत (दो)। कुबेरदत्त के पास अपने समय की अपने ढंग से देखने की दृष्टि है। राजनीतिक स्तर पर वैचारिक पतन को दिखाती इन पंक्तियों में कितनी गहराई है: *गोधूलि में रास्ता टोहता/अकेला कोई बालक/या फिर/संसद से टी.वी. तक/टी.वी. से दिमाग़ तक तैरता शून्यकाल/कुछ नहीं इसके सिवा/दूर दूर तक।*—'समय के माथे पर लकीर : दो'।

इसी शून्यकाल में से निकलती है अव्यवस्था जो पूरे देश में फैलती है, लोगों की इच्छाओं में फैलती है: *कभी कभी ख़ालिस रेत बनती है/कभी कभी पत्थरों का रास्ता/कभी कभी धरती से उछलकर/आसमान पर जा पड़ती है/और बहती है/कभी कभी खो जाती है अंतरिक्ष में/कभी कभी किसी ग़रीब की भूख की ऐंठन में/सो जाती है/कभी कभी एक चटियल पहाड़ हो जाती है/कभी कभी अंधकार भरा, भांय भांय जंगल/*—'डूब से निकलती है नदी'।

परिवेश के स्वाँग को खोलती इन कविताओं में शब्द-रूप की साधना भी देखने लायक है :
हरी मिर्च वह/नस्ल चरचरी/खूब चरपरी/तीखी इतनी/—'हरी मिर्च का पहला बच्चा'। 'संगीत : दो' नामक कविता में भी यह शब्द-सौन्दर्य देखा जा सकता है।

संस्कृतनिष्ठ और छायावादकालीन अभिव्यंजना से उन की कविता में लयात्मकता पैदा होती है जिस के झूले में उन के सरोकार झूलते हुए नज़र आते हैं। भाषा कवि का औज़ार है, इसे रोज़ रोज़ आधुनिक बनाना और समय से जोड़कर रखना ज़रूरी है ताकि धार तेज़ हो। कई कविताओं में भाषा की इन शर्तों को वे पूरा करते हैं, लेकिन फिर भी अनेक कविताएँ सिर्फ़ इसलिए बोझिल-सी हो गई जान पड़ती हैं कि उन की भाषा न तो धारदार है और न अपने समय में। दूरदर्शनी प्रभाव से मुक्त हो कर और तत्सम शब्दों को छोड़ कर भाषा की समकालीनता के नज़दीक जा कर कुबेरदत्त ज़्यादा प्रभावकारी हो जाते हैं। जिस माध्यम में कवि काम कर रहा होता है, उस के प्रभाव से बचना एक काव्यात्मक कला हो सकती है, या वहाँ के अनुभवों को कविता में बदलने की क्षमता ही उदात्तता को दर्शाती है। बहुत संभव है कि शिक्षक के पेशे में यदि कवि है तो उस की कविता उपदेशात्मक या ऊबाऊ हो, या पत्रकार है तो रिपोर्ट की तर्ज़ पर कविता हो। समकालीन कवियों में अनेक कवि हैं जिन्होंने अपने पेशे के प्रभावों और पेशाजनित अनुभवों के रूपांतरण की विकृतियों से कविता को सफलतापूर्वक और सराहनीय रूप से बचाया

है। कुबेरदत्त अपने माध्यम के प्रभावों और अनुभवों में उलझ जाते हैं और ख़ामाख़ाह कविता में फ़ोटोग्राफ़िक दृश्य, छवियाँ और ध्वनियाँ उकेरने की कोशिश करने लगते हैं, और उस के बाद शायद एडिटिंग करना भूल जाते हैं। विडियोग्राफ़र की दृष्टि तो चाहिए, लेकिन संपादन पर उस की निर्भरता नहीं। कवि विडियोग्राफ़िक दृष्टि में अपनी संपादन-दृष्टि मिला कर कविता लिखता है। फिर भी कई कविताएँ समय के दोष को बख़ूबी पकड़ती हैं। दरअसल कुबेरदत्त की विशेषता है कि वे ढोंग को पकड़ने का अपना रास्ता अपनाते हैं, वह ढोंग जो चप्पे चप्पे पर चस्पाँ हो गया है :

सिर्फ़ दृश्य ही नहीं पकड़ता कैमरा
दृश्यों के रंग भी बदलता है
खुद नहीं होता
दर्शक के तमाम आँसुओं को
श्रीमंतों के पक्ष में घटा देता है।—'काल काल आपात'

चर्चित किताबें :

नेपथ्य में हँसी : राजेश जोशी; राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., 1-बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नई दिल्ली 110002; मूल्य 60 रुपए

काल काल आपात : कुबेरदत्त; किताबघर, 24, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली 110002; मूल्य 60 रुपए

संजीव आनंद

सात कवि हिन्दी के

कविता में न हो स्वाद, धड़कनें अवश्य हों—यह काव्य-पंक्ति चर्चित कवि ओम भारती की एक कविता की है। ऐसा लगता है कि जब हिन्दी कविता की धारा में आकस्मिक समय के भीतर सौन्दर्य चेतना की मात्रा बढ़ी, तब उस का प्रतिरोध करना अधिकांश लोगों ने स्वाभाविक समझा। उन की दृष्टि में, सौन्दर्य और कल्पना की बहुलता की नैतिक-परिधि में ध्येयवादी दृष्टि क्षीण हो जाती है और कवि तथा समाजोद्धार के सरोकारियों का प्रभाव नगण्य होने लगता है। इसी उद्देश्य से सामाजिक प्रतिबद्धता से संबंधित सृजन को बढ़ावा दिया गया। मगर, बावजूद इस के जब सामाजिक ध्येयवाद का चरम बढ़ने लगा और इस का प्रभाव चारों तरफ़ शहर से ले कर दूर क़स्बों तक एक सरसराहट के साथ फैलने लगा—तब इस ध्येय में एक अनावश्यक जटिलता का आभास, थोड़ा निरर्थक जोश का परिलक्षण तथा रूढ़ होते विषयों का बूढ़ापन भी लक्षित होने लगा। यह शायद अस्वाभाविक भी नहीं था। अभी के कविताई दौर में इसे तो महसूस भी किया जा रहा है। कुछ वरिष्ठ रचनाकार और उन की प्रेरणा से प्रेरित कुछ नए रचनाकारों की रचनाएँ इस का उदाहरण भी हो सकती हैं। इस सीखने के समय में पहले से एकछत्र छाया प्रतिवाद उस पर काफ़ी असर भी करता है। इसी के परिणामस्वरूप आज की कविताओं में कभी-कभी रूपहीन शब्द, प्राणहीन पंक्तियाँ तथा आधारहीन आदर्श की परिकल्पनाएँ भी देखने को मिलती हैं। निश्चय ही, इसी परिप्रेक्ष्य में ओम भारती की यह काव्य-पंक्ति कि 'कविता में न हो स्वाद, धड़कनें अवश्य हों' एक सार्थक उपदेश की तरह हमारे सामने आती है, जो कि एकदम आधारहीन सोच नहीं। ओम भारती अपनी इसी कविता में आगे भी कहते हैं, 'क्या कहने, दोनों हों यदि।' यानी कविता उन की दृष्टि में तब अपने शिखर पर हो सकती है, जब उस में स्वाद भी हो और धड़कनें भी हों।

ओम भारती का यह दूसरा संग्रह *इस तरह गाती है जुलाई* की सारी कविताएँ इस सिद्धांत पर खरी उतरती हैं या नहीं, यह एक अलग बात है। मगर इतना तो ज़रूर है कि यहाँ पर धड़कनें भी हैं और स्वाद भी है, भले ही दोनों एक स्थान पर न मिलें। परंतु पृथक-पृथक स्थलों पर इस का पर्याप्त परिमाण उपस्थित है। वह जुलाई को अपार संभावनाओं की शुरुआत का महीना मानते हैं, जो कि इस देश की जनता के भाग्य की मुख्य-रेखा है। ओम भारती की इन कविताओं का अध्ययन करते हुए बरबस नागार्जुन याद आ जाते हैं। नागार्जुन की कविताओं के प्रखरतम बिम्ब का आभास इन कविताओं में भी मिलता है।

नरेन्द्र मोहन के कविता-संग्रह *संकट दृश्य का नहीं* में परिस्थितियों का अंकन कुछ भिन्न क़िस्म का है। यह भिन्नता कुछ अलग कारणों से प्रकट है। नरेन्द्र मोहन एक वरिष्ठ कवि के रूप में स्थापित हैं। कविताओं में लाग-लपेट का परहेज करते हुए, केवल संवेदनशीलता के आधार पर मोटे-मोटे बिम्बों व उपमानों का प्रयोग करते हुए, कुछ-कुछ रूढ़िग्रस्त अभिव्यंजनाओं के साथ भी अपनी बातें कहना नरेन्द्र मोहन का रचना-कर्म प्रतीत होता है। इसी आधार पर प्रस्तुत संग्रह में, जो कि उन की लंबी कविताओं का संचय है, केवल ऐतिहासिक भूमिकाओं से प्रेरित कविताएँ हैं। ये कविताएँ घोषित रूप से लंबी हैं तथा संख्या में केवल तीन हैं : 'एक अग्निकांड जगहें बदलता', 'एक अदद सपने के लिए' और 'खरगोश-चित्र और नीला घोड़ा'। कवि ने भूमिका में स्पष्ट भी किया है कि उन्होंने लंबी कविताओं की अवधारणा को ध्यान में रखते हुए इसे संकलित किया है। ये कविताएँ आज़ादी के दौर के माहौल को अभिव्यक्त करने में सक्षम हैं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि ये कविताएँ स्वानुभूत न हो कर परानुभूत की तरह ही लगती है। ख़ासकर सआदत हसन मंटो, क़ुर्रतुल ऐन हैदर, अमृता प्रीतम आदि की कथा-रचनाओं की संवेदना-भूमि से ये कविताएँ प्रेरित हैं। यानी, मुक्तिबोध के शब्दों में 'ज्ञानात्मक संवेदना' के क़रीब हैं ये कविताएँ, बावजूद इस के कविता में धड़कनें मौजूद हैं और स्वाद भी है।

नरेन्द्र जैन की कविताओं का स्वर कुछ अलग क़िस्म का है। यह इन के कविता-संग्रह *उदाहरण के लिए* में देखा जा सकता है। इन के यहाँ अनुभूतियों का प्रयोग समकालीन नहीं है। ऐसा लगता है नई कविता का असर कुछ ज़्यादा है। बात या विचार की जगह शब्द-चित्र बना कर कविता लिखना इन्हें शायद ज़्यादा पसंद है। प्रस्तुत कविता-संग्रह की एक कविता है 'शायद' जिस की पंक्तियाँ हैं— *एकाएक हँसा मैं/किसी ने लगाया एक ठहाका/खिड़की से झाँका स्त्री ने/कूदी बिल्ली रोशनदान से*। एक दूसरी कविता है 'वे चीज़ें' जिन की पंक्तियाँ भी देखें— *वे चीज़ें/मुझे सबसे ज़्यादा पसंद हैं/जिन में अधूरापन बाक़ी रहता है/वे चीज़ें/बहुत मुकम्मिल लगती हैं/जो अधूरी छोड़ दी गई हों*। यानी, कहीं शब्द-चित्र है तो कहीं विचार-पंक्तियाँ भी। तो कविताओं में निजी शिल्प-विधान की तलाश जारी है। बावजूद इस के, मानवीय संवेदना के स्तर पर सामाजिक विषमताओं के प्रखर 'उदाहरण के लिए' ये कविताएँ दावेदार तो हैं ही।

विजय बहादुर सिंह के कविता-संग्रह *पतझर की बाँसुरी* में मुख्यतया समाजेतर अभिव्यक्ति देखने योग्य है। कवि का एकांत यहाँ उद्दीप्त है। परंतु कवि के उस एकांत की विशेषता है कि सिर्फ़ प्रेमिल अनुभूतियाँ कवि की धड़कनों की जड़ नहीं है। जैसे कोई संवेदनशील और विचारशील व्यक्ति अनुरक्ति के एकांत में भी देश, समाज और अस्मिता के बारे में विचार करता है, उसी तरह इन एकांत की कविताओं में इन का समावेश हो गया है। मानुषिक तकलीफ़ों का यहाँ स्नेहिल विवेचन है। इसलिए विजय बहादुर सिंह की ये कविताएँ सुस्वादु भी हैं। कवि जहाँ अपनी एक कविता में रोमानी बिम्ब प्रस्तुत करते हुए कहता है— *पतझर की रग-रग में/बज रही है बाँसुरी/हवा में तैरने लगी है/नर्म पंखुड़ियों की मुस्कान/कोई फूल पैदा होने की कोशिश में है कहीं*। वहीं एक दूसरी कविता में वे कहते हैं— *मोह के पठारों पर/धाया था मन/काम के दलदल में/धँस गया है अब/पशोपेश में हैं/हवा, पानी और आग। शर्म से गड़ गई है ज़मीन। विषाद से भर गया है आसमान*। इस के साथ-साथ आत्मकथन में तो वो अपना मौलिक उत्साह भी व्यक्त कर देते हैं— *मैं हूँ उनका, जिनके साथ हैं—खेत खलिहान/जहाँ गूँज रही है, धमन भट्टियों की लंबी तान/जिन्हें चिन्ता है, अब भी/जेठ में पानी के लिए*।

जसवीर चावला और इंदिरा परमार के काव्य-संग्रह क्रमशः *चेरनोबिल तथा अन्य कविताएँ* और *ज्वार क्यों नहीं आता?* की कविताएँ प्रतिबद्धता के प्रति भटकाव से विहीन नहीं हैं। बातों और अभिव्यक्ति के लिए अनुभवजनीनता का सुदृढ़ न होना शायद इस का कारण है। ऐसा लगता है कविता लिखने के लिए धड़कनों को धड़काया गया है और सुस्वादु बनाने का प्रयास भी किया गया है। सामाजिक असमानता, कुंठा, संत्रास जैसे मोटे-मोटे शब्दों को आधार में रख कर अभिव्यक्ति को केवल फैलाया गया है। परंतु दोनों में मौलिक अंतर है। जसवीर चावला की कविताएँ जहाँ सतह के ऊपर की हैं, वहीं इंदिरा परमार की कविता सतह के नीचे की हैं। जसवीर चावला अपनी कविताओं में बहुत-सी बातें अनावश्यक और निरर्थक-सी भी कह जाते हैं। मगर इंदिरा परमार यह स्वीकार नहीं करतीं कि वह प्रतिबद्ध कवयित्री हैं। बावजूद इस के उन की कविताओं में 'ध्येय' स्पष्ट है। वे अपनी कविता में कहती हैं— *ओ सूरज/ओ आदिम श्रमिक/तुम थके-थके से रोज/लौट जाते हो/पश्चिम की ओर/अपने घर। और। प्रतिदिन/लौट आते हो सुबह-सुबह/ताज़ादम होकर/पूरबी क्षितिज पर।*

इन चर्चित-अचर्चित कवियों के साथ ही युवा कवियों की कविताओं को भी देखना लाज़िमी है। विशेषकर यहाँ युवा कवि लालित्य ललित के कविता-संग्रह *गाँव का ख़त शहर के नाम* तथा सीमांत के *ओ चरम* को। दोनों यद्यपि सीखने के क्रम में हैं, तथापि यह क्रम बिलकुल ही बचकाना भी नहीं लगता है। स्वभावतया युवा कवि को जिन-जिन विषयों से हो कर गुज़रना पड़ता है या गुज़रना चाहिए, वे इन कविताओं में उपस्थित हैं। सीमांत जहाँ घरौंदे, तुम्हारा होना, नहीं-पहाड़ के साथ, प्रेम इत्यादि जैसे विषयों से बाहर निकलते प्रतीत नहीं होते, वहीं युवा कवि लालित्य ललित कैशोर्य अभिव्यक्ति में इन जैसे विषयों से बाहर निकल कर समाज और राष्ट्र की समसामयिक गतिविधियों के साथ भी अपना सांवेदनिक सामंजस्य स्थापित करते हैं। मसलन 'पक्षियों का कलरव/चहचहाना भौरों का' जैसी सौन्दर्यपरक पंक्तियाँ लिखने के पश्चात् 'छः दिसंबर 1992' शीर्षक कविता में वे लिखते हैं— *आज/आँधी में/टूट गया घोंसला और उसमें बढ़ रहा/नन्हा पक्षी अपना घर ढूँढने लगा/जंगल में।* मतलब यह कि जिस तरह— *लड़की/सब कुछ सीखना चाहती है/सपने बुनना, पंखों वाले राजकुमार से मिलना/शादी-ब्याह की ठिठोलियाँ,* उसी तरह नए कवियों की संवेदना भी पारंपरिक हलचलों से ही सब कुछ सीखती है, ख़ास कर, जो पहले से निर्धारित होती हैं। इस निर्धारण में कवि की धड़कनें ईमानदार होती हैं और जिस के कारण ही शायद इन की कविताओं का स्वाद बड़ा निश्छल होता है। यह निश्छलता बनी रहने के कारण ही वह आगे चल कर ओम भारती और विजय बहादुर सिंह की संवेदनशीलता की तरह सरोकार-संपन्न हो जाती है।

चर्चित किताबें :

इस तरह गाती है जुलाई : ओम भारती; पहल प्रकाशन, जबलपुर (म.प्र.); मूल्य 50 रुपए

संकट दृश्य का नहीं : नरेन्द्र मोहन; नालंदा प्रकाशन, नई दिल्ली 110030; मूल्य 50 रुपए

पतझर की बाँसुरी : विजय बहादुर सिंह; रामकृष्ण प्रकाशन, सावित्री सदन, तिलक चौक, विदिशा (म.प्र.); मूल्य 70 रुपए

उदाहरण के लिए : नरेन्द्र जैन; रामकृष्ण प्रकाशन, विदिशा (म.प्र.); मूल्य 70 रुपए

ज्वार क्यों नहीं आता? : इंदिरा परमार; अनुभूति प्रकाशन, 53 करनपुर प्रयाग स्टेशन, इलाहाबाद 21; मूल्य 50 रुपए

चेरनोबिल तथा अन्य कविताएँ : जसवीर चावला; पराग प्रकाशन, 3/114, कर्ण गली, विश्वास नगर, शाहदरा, दिल्ली 32; मूल्य 30 रुपए

गाँव का ख़त शहर के नाम : लालित्य ललित; पराग प्रकाशन; मूल्य 60 रुपए

ओ चरम : सीमान्त; दिनमान प्रकाशन, चर्खे वालान, दिल्ली; मूल्य 40 रुपए

इस अंक के रचनाकार

तकषी शिवशंकर पिल्लै : जन्म 17 अप्रैल 1913, आलप्पुषा जनपद के अंबलप्पुषा नगर के तकषी गाँव में। मलयाळम के प्रतिष्ठित रचनाकार। *तहसीलदार का पिता, बाढ़, दीर्घयात्रा, कयर, बैलूंस* के अतिरिक्त 50 से अधिक पुस्तकें प्रकाशित। सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार, साहित्य अकादेमी तथा भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार के साथ अन्य कई पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : पो.ऑ. तकषी, अंबलप्पुषा-आलप्पुषा, जिला केरल

पी.जी. वासुदेव : जन्म 20 अप्रैल 1911, चंगनाशेरी, केरल। *ब्रह्मचर्यम, कप्पल कोल्लकारन, व्हाइट हाउस, अशोकन एन्ना महान, कई चंगला* मलयाळम में प्रकाशित कृतियाँ। हिन्दी, हिन्दी से मलयाळम और मलयाळम से हिन्दी में अनूदित कृतियाँ प्रकाशित। संपर्क : संस्थापक अध्यक्ष, हिन्दी विद्यापीठ, अंबुजविलासम रोड, तिरुवनंतपुरम 695007, केरल

श्यामल गंगोपाध्याय : जन्म 1933। बाङ्ला के सुप्रसिद्ध कथाकार। अब तक दस कहानी-संग्रह और साठ उपन्यास प्रकाशित। *शाहजादा दाराशुको* उपन्यास के लिए साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित। इस के अतिरिक्त यथा, मतिलाल, ताराशंकर, विभूतिभूषण, शिरोमणि, कथा, भुवालका पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : ब्रह्मपुर, मेटे मस्ज़िद, बंसद्रोणि, कलकत्ता 700070

इंदिरा चटर्जी : जन्म 6 दिसंबर 1948। बाङ्ला से हिन्दी में अनुवाद विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : ई-970, चितरंजन पार्क, नई दिल्ली 110019

स्व. ताराशंकर बंद्योपाध्याय : (1898-1971)। बाङ्ला के वरिष्ठ रचनाकार। *अभियान, कवि, कालिन्दी, ना, संकेत, मंवंतर, पंचग्रामि, गणदेवता* (उपन्यास); *गल्प पंचशित्* (कहानी-संग्रह); *आमार साहित्य जीवन* (संस्मरण) चर्चित कृतियाँ। अब तक पचास उपन्यास और लगभग दो सौ कहानियाँ प्रकाशित। पद्म भूषण, भारतीय ज्ञानपीठ, साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र मेमोरियल प्राइज़ से सम्मानित। रचनाओं के लिए संपर्क : श्री सरित कुमार बंद्योपाध्याय, ताराशंकर भवन, 27 ताराशंकर सरनी, कलकत्ता 700037

रसिक बिहारी : काशी के विशिष्ट साहित्य सेवी। संपर्क : 10, अहल्याबाई नगर कॉलोनी (तीसरी मंज़िल), लंका, वाराणसी 221005

प्रेम प्रकाश : जन्म 7 अप्रैल 1932, खन्ना, ज़िला लुधियाना। *कच्चकड़े, नामाज़ी, मुक्ति, श्वेतांबर ने कह्या-सी, प्रेम कहानियाँ, कुझ अनकिहा वी* इत्यादि नौ कहानी-संग्रह; *दस्तावेज़* उपन्यास प्रकाशित। पंजाबी साहित्य अकादमी तथा साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : 593, मोता सिंह नगर, जालंधर

डॉ. कीर्ति केसर : जन्म जालंधर। *मुक्त कर दो* (कविता-संग्रह); *समकालीन हिन्दी कहानी के विविध संदर्भ, स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का समाज—सापेक्ष अध्ययन* (आलोचना) प्रकाशित। भारत सरकार द्वारा वर्ष 1987 और 1994 के पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : 1086/ई, गोबिन्दगढ़ (एस.डी. कॉलेज रोड), जालंधर 144001

चंद्रशेखर रथ : ओड़िया के वरिष्ठ रचनाकार। *यह जो पृथ्वी, अश्वारोही, सम्राट, भोगदखल* (कहानी-संग्रह); *नवजातक* (उपन्यास) चर्चित प्रकाशित कृतियाँ। गद्य, ललित-निबंध की भी कृतियाँ प्रकाशित। संपर्क : ए/32-एन-1, नया पल्ली, भुवनेश्वर, ओड़िशा

पूर्णचंद्र रथ : जन्म 25 दिसंबर 1945, जगदलपुर, म.प्र.। हिन्दी में *आकाश भी अपना, लड़का जादू जानता है* (कविता संकलन), ओड़िया से हिन्दी में *अपना अपना एकांत, मुरली साहू का दिन* अनूदित प्रकाशित कृतियाँ। *असंगत नाटक* (ओड़िया से), *वह जो अक्सर*

पिटता है, कांट पे वोंट पे (अंग्रेज़ी से) अनूदित नाटक प्रकाशित। संपर्क : 2/265-1100 क्वार्टर्स अरेरा कॉलोनी, भोपाल 16

आनंदराव लिंगायत : गुजराती के चर्चित कहानीकार। गुजराती की विशिष्ट पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ प्रकाशित। कुछ कहानियाँ कन्नड और मराठी में अनूदित। संपर्क : 23834, पालोभीनो ड्राइव, डायमंड बार, सी.ए. 91765

सुशीला जोशी : जन्म 6 नवंबर 1935। निबंध लेखन। लगभग 150 गुजराती कहानियों का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : 5, मेहता अपार्टमेंट्स, भट्ठा पालडी, अहमदाबाद 380007

अवतार कृष्ण राज़दान : जन्म 23 मई 1942, श्रीनगर। *सौगात, दिल उछला देखने, एल.बी.डब्ल्यू.* (कहानी-संग्रह); *कश्मीरी ललित कलाएँ : उद्भव और विकास* प्रकाशित। जम्मू-कश्मीर ललित कला साहित्य एवं संस्कृति अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : 40-डी, पॉकेट-बी, ग्रुप-3, दिलशाद गार्डन, दिल्ली 110095

आर.पी. लामा : जन्म 1931। निबंधकार, कहानीकार, जीवनीकार, नाटककार, लोककथाकार श्री लामा ने नेपाली संस्कृति, भाषा और साहित्य के संबंध में बहुविध लेखन किया है। *स्मृतिमा, इंद्रधनुषाम, प्रतिध्वनि* चर्चित कृतियाँ हैं। साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : सम्मेलन भवन, 15, सोनम वाँगडी रोड, दार्जिलिङ (पश्चिम बंगाल)

कर्ण थामी : नेपाली के कवि एवं कथाकार। नेपाली से हिन्दी में अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : सम्मेलन भवन, 15, सोनम वाँगडी रोड, पोस्ट दार्जिलिङ (पश्चिम बंगाल)

बंधु शर्मा : जन्म 1934, जम्मू। डोगरी के महत्त्वपूर्ण रचनाकार। डोगरी में दो कथा संकलन तथा अन्य रचनाएँ प्रकाशित। *परछामें* कहानी-संग्रह के लिए रियासत की अकादेमी द्वारा पुरस्कृत। *कींगरे* दूसरा कहानी-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : 148, पक्की ढक्की, जम्मू (तवी) 180001

डॉ. उषा व्यास : जन्म 1950, जम्मू। डोगरी और हिन्दी में कहानियाँ, कविता और पत्रकारिता। विविध अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : संपादक, शीराज़ा, कल्चरल अकादेमी, जम्मू 180001

धूमकेतु (भोलानाथ झा) : जन्म 25 जनवरी 1932। *अगुर बान आ अन्य कथा* कहानी-संग्रह प्रकाशित। मैथिली के कवि एवं कहानीकार। संपर्क : कोइलख, मधुबनी 847236

सुभाषचंद्र यादव : जन्म 5 मार्च 1948, दीवानगंज, सुपौल, बिहार। मैथिली में *घरदेखिया* कहानी-संग्रह प्रकाशित। मैथिली के अनुवादक। संपर्क : प्रोफ़ेसर्स कॉलोनी, सहरसा 852201

गुरदयाल सिंह : जन्म 10 जनवरी, 1933; जैतो। *मढ़ी दा दीवा, रेते दी इक मुट्ठी, अध चानी रत, क्वेला* (उपन्यास); *चान दा बूटा, ओपरा घर* (कहानी-संग्रह) तथा अन्य कई पुस्तकें प्रकाशित। पंजाबी के मूर्धन्य लेखक। साहित्य अकादेमी, पंजाब साहित्य अकादमी, नानक सिंह नॉवल पुरस्कार के अतिरिक्त अन्य कई पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : 6/128, जैतो, ज़िला फ़रीदकोट (पंजाब)

स्व. चासो : (1915-1994)। तेलुगु के विख्यात कहानीकार। *चासो कथलु* (कहानी-संग्रह) तथा लगभग अस्सी कहानियाँ प्रकाशित। संपर्क : चाँगटि शंकर, म्युनिसिपल कमिश्नर, तिरुपति

स्व. रा.वि. शास्त्री : (1922-1993)। तेलुगु के प्रसिद्ध कहानीकार एवं उपन्यासकार। *अल्पजीवी* चर्चित उपन्यास। इन्होंने नाटक, निबंध और कविताएँ भी लिखी हैं। संपर्क : लक्ष्मी नारायण प्रसाद, 15-14-13/ए, कृष्णा नगर, विशाखापतनम 2

जे.एल. रेड्डी : जन्म 1 जुलाई 1940। *ऋषिकेश का पत्थर* तेलुगु कहानियों तथा दो उपन्यासों के अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : बी-1/93, जनकपुरी, नई दिल्ली 110058

सुनील गंगोपाध्याय : जन्म 7 सितंबर 1934, फ़रीदपुर। बाङ्ला के विख्यात कथाकार एवं कवि। अब तक तेरह कविता-संग्रह और उन्नीस उपन्यास प्रकाशित। *सेई समय* महाकाव्यात्मक उपन्यास के लिए साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : डी-2/66, एंड्रूयूज़ गंज, नई दिल्ली 110049

स्वप्ना दत्त : जन्म 1942, पटना। बाङ्ला, हिन्दी और अंग्रेज़ी में लेखन और अनुवाद। लगभग 24 पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : डी-2/66, एंड्रूयूज़ गंज, नई दिल्ली 110049

के. अय्यप्प पणिक्कर : जन्म 12 सितंबर 1930, कावालम। *गोत्रयानम्, अय्यप्पणिकरुटे कवितकळ, अय्यप्पणिकरुटे लेखनांगल* कृतियाँ प्रकाशित। साहित्य अकादेमी और केरल साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : 'सरोवरम', 3, गाँधी नगर, जगती, त्रिवेन्द्रम 695014

रति सक्सेना : जन्म 1954, उदयपुर, राजस्थान। कविताएँ, लेख, नाटक प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में

प्रकाशित। आकाशवाणी से चर्चाएँ प्रसारित। संपर्क : के.पी. 9/624, वैजयंत चेटिकुन्नु, मैडिकल कॉलेज पो.ऑ., तिरुवनंतपुरम्।

के.जी. शंकर पिल्लै : जन्म 1947। नई पीढ़ी के चर्चित मलयाळम कवि। एक काव्य संकलन प्रकाशित। संपर्क : राधाकृष्णालयं, वारियं लाइन, तृश्शूर (केरल)

ए. अरविन्दाक्षन : जन्म 1949, पालक्काड। हिन्दी में *बाँस का टुकड़ा* (कविता-संग्रह) प्रकाशित। संपर्क : 279/7, सांद्रम, मावेलीपुरम् काक्कनाड पो.ऑ. कोचीन

नीलमणि फूकन : जन्म 10 सितंबर 1933, देरगाँव, असम। *निर्जनतार शब्द, आरु कि ने : शब्द, फूलि थका सूर्यमुखी फूल टूल फाले, काइंट आरु काइंट, गोलापि जामरू लग्न, नृत्यरता पृथ्वी* (काव्य-संग्रह) के अलावा दो अनुवादित, दो संपादित पुस्तकें प्रकाशित। साहित्य अकादेमी पुरस्कार, रघुनाथ चौधरी पुरस्कार तथा पद्मश्री के अतिरिक्त अन्य कई पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : बेजबरुवा नगर, मालीगाँव, गुवाहाटी 781 011 (असम)

रत्नेश कुमार : अनुवादक और पत्रकार। संपर्क : 'पूर्वांचल प्रहरी', हिन्दी दैनिक, जी.एस. रोड, गुवाहाटी 781007 (असम)

हरप्रसाद दास : जन्म 1945, ओड़िशा। अब तक *आलोकित बनबास, मंत्रपाठ* और *गर्भगृह* काव्य-संग्रह तथा *लुब्धकर तिनि प्रहर* कहानी-संग्रह ओड़िया में प्रकाशित। नई कविता में क्लासिकी नवीनता के मुहावरों व शैली के प्रयोग के लिए भारतीय भाषा परिषद, कलकत्ता तथा उत्कल सम्मान से सम्मानित। संपर्क : महालेखाकार, सचिवालय मार्ग, भुवनेश्वर 751001 (ओड़िशा)

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद मिश्र : जन्म 6 अप्रैल 1955, रायरंगपुर, मयूरभंज, ओड़िशा। 30 पुस्तकों का ओड़िया से हिन्दी में अनुवाद। *फणीश्वरनाथ रेणु* और *गोपीनाथ महांति* पर शोध कार्य। संपर्क : उप-प्रबंधक, एन.टी.पी.सी., नेहरू प्लेस, नई दिल्ली

मनोरमा महापात्र 'विश्वाल' : जन्म 1948, गिगाई गाँव, ज़िला बालेश्वर। अब तक 7 कविता-संग्रह, 3 बाल कविता-संग्रह ओड़िया में तथा हिन्दी, बाङ्ला, अंग्रेज़ी में कई कविता-संग्रह अनूदित एवं प्रकाशित। अनेक प्रांतीय संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत। संपर्क : प्रीतमपुरी, 125, आचार्य विहार, भुवनेश्वर 751001 (ओड़िशा)

अमरेश पटनायक : जन्म 1950 कटक, ओड़िशा। ओड़िया के सुपरिचित कवि। *मणिष आंगुले, मन रू मनकु, संधि-विसंधि* (कविता-संग्रह); आरत अविरत (उपन्यासिका) प्रकाशित। संपर्क : 'अनंत आलोक', वाटर वर्क्स रोड, शंकरपुर, कटक (ओड़िशा)

मिहिर पटनायक : जन्म 1954 धारशिला (बिहार)। हिन्दी एवं ओड़िया में रचनाएँ एवं अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : यूनियन बैंक ऑफ़ इंडिया, अंचलीय कार्यालय, 225-सी, आचार्य जगदीश चंद्र बोस रोड, कलकत्ता 700020

जयशंकर त्रिपाठी : जन्म 1929, बेदौली गाँव, इलाहाबाद जनपद। हिन्दी के जाने-माने कवि, नाटककार। *आंजनेय, मिट्टी के मानव, मातृभूमि के लिए* (काव्य-संग्रह); *माता भूमि, पर्वत से झाँकता वक्र नयन, आठवाँ अमृत, विस्मय के विकल्प* (निबंध-संग्रह); *गाता हुआ पहाड़, कुरुक्षेत्र का सबेरा, गणतंत्र के अवशेष, अकेले अमृत नहीं पीऊँगा* (नाटक) प्रकाशित। संपर्क : 261, बाघंबरी मार्ग, इलाहाबाद 211006

निरुपमा दत्त : पंजाबी की युवा कवयित्री। हिन्दी में भी लिखती हैं। इन की कविताओं में पंजाब के संताप पर प्रतिक्रिया झलकती है। संपर्क : 684, सेक्टर-8, चंडीगढ़

सुखचैन मिस्त्री : जन्म 1953, अहमदगढ़, ज़िला संगरूर। अब तक दो काव्य-संग्रह *मिट्टी दा मोर* और *हुनाली धुप्प* (डॉ. सतिन्दर बजाज की अंग्रेज़ी कविताओं का पंजाबी अनुवाद) प्रकाशित। हिन्दी की प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं के अलावा कविताएँ अंग्रेज़ी और तेलुगु में भी प्रकाशित। संपर्क : 75, आशापुरी (अग्गर नगर), लुधियाना 141001 (पंजाब)

अमरजीत चंदन : जन्म 17 नवंबर 1946। पंजाबी के कवि एवं पत्रकार। *कौन नहीं चाहेगा, मेरा नाम तेरा नाम विएतनाम, मिट्टी दा रंग* आदि कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : द्वारा, सुखचैन मिस्त्री, 75, आशापुरी (अग्गर नगर), लुधियाना 141001 (पंजाब)

नारायणजी : जन्म 1956, घोघरडिहा, मधुबनी (बिहार)। मैथिली कविता को नया स्वर देने वाले जागरूक कवि। संपर्क : घोघरडिहा, मधुबनी (बिहार)

नासिर अहमद सिकंदर : जन्म 15 जून 1961। *जो कुछ भी घट रहा है दुनिया में* पहला कविता-संग्रह प्रकाशित। संपर्क : एल.आई.जी. 124, आमदी नगर (हुडको), दुर्ग 490006 (म.प्र.)

अजय प्रकाश : जन्म 1962, इलाहाबाद। *बहस* काव्य-संकलन में कविताएँ प्रकाशित। सभी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ और कहानियाँ प्रकाशित। संपर्क : ब्लॉक नं. 14, फ़्लैट नं. 12, शिव नगर कॉलोनी,

अल्लापुर, इलाहाबाद 211006

विवेक निराला : जन्म 30 जून 1974, इलाहाबाद। रचनाएँ विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : निराला निवास, 265, छोटी वासुकि, दारागंज, इलाहाबाद

हरिओम राजोरिया : जन्म 1 अप्रैल 1964। *यह एक सच है* (कविता-पुस्तिका) एवं लघु पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित। संपर्क : विदिशा रोड, लंबरदार गली, अशोक नगर, ज़िला गुना 473331

अंशु मालवीय : जन्म 12 जुलाई 1971, इलाहाबाद। कविताएँ एवं कहानियाँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित। रंगमंच एवं चित्रकला में भी रुचि। संपर्क : 'रामेश्वरम्', ए-111, मेंहदौरी गृहस्थान, इलाहाबाद 211004

गोविन्द द्विवेदी : जन्म 16 अप्रैल 1944, छतरपुर (म.प्र.)। *नीली अथाह उक्ति, अंतराल में, नई कविता में बिंब का वस्तुगत परिप्रेक्ष्य* प्रकाशित कृतियाँ। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद के 'माखनलाल चतुर्वेदी पुरस्कार' से सम्मानित। संपर्क : रीडर, हिन्दी विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर (मध्य प्रदेश)

रमेश थानवी : जन्म 1945, फलोदी, जोधपुर। *घड़ियों की हड़ताल, सोने का क़िला* (उपन्यास); *सवाल करने का हक़, बदलाव का अधिकार, रहमान भाई, मेरा नाम हाथी है* (नवसाक्षर साहित्य) प्रकाशित। संपर्क : 40/97, मानसरोवर, स्वर्णपथ, जयपुर 302020

रवीन्द्र भारती : जन्म 1951। *जड़ों की आख़िरी पकड़ तक* (कविता-संग्रह) प्रकाशित। संपर्क : न्यू एरिया, कदम कुआँ, पटना 3 (बिहार)

विजय कुमार : जन्म 11 नवंबर 1948, मुंबई। एक कविता-संग्रह *अदृश्य हो जाएँगी सूखी पत्तियाँ* और एक आलोचना पुस्तक *साठोत्तरी कविता : परिवर्तित दिशाएँ* प्रकाशित। संपर्क : 8-नटराज, आर.बी. मेहता रोड, घाटकोपर (पूर्व), मुंबई 400077

हेमंत शेष : जन्म 28 दिसंबर 1952, जयपुर। कवि, कला-समीक्षक और चित्रकार। रचनाओं के प्रांतीय और विदेशी भाषाओं में अनुवाद। राज्य पुरस्कार से सम्मानित। *जारी इतिहास के विरुद्ध, बेस्वाद हवाएँ, घर-बाहर, कृपाल सिंह शेखावत, वृक्षों का स्वप्न, नींद में मोहनजोदड़ों* प्रकाशित। संपर्क : सी-8, पृथ्वीराज मार्ग, सी-स्कीम, जयपुर (राज.)

लाल्टू : जन्म 10 दिसंबर 1957। *एक झील थी बर्फ़ की* (कविता-संग्रह) प्रकाशित। कहानियाँ और कविताएँ हिन्दी की प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में प्रकाशित। संपर्क : रसायन शास्त्र विभाग, पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ 160014

श्रीगोपाल जैन : जन्म लक्ष्मणगढ़ (सीकर) राजस्थान। *काल चेतना, अस्तित्व रो कमल पुष्प, काल चेतनारी चतुर्भुज* (राजस्थानी कविता-संग्रह); *मैं का विमोचन, ऊम इदम ममास्ति* (हिन्दी कविता-संग्रह); *संकल्प* (कहानी-संग्रह); *खादी का महल* (उपन्यास); *दिव्य आकृति* (नाटक) प्रकाशित। डॉ. भीमराव अंबेडकर अस्मितादर्शी अकादमी से डॉ. राहुल सांकृत्यायन साहित्य महोपाध्याय उपाधि से अलंकृत। संपर्क : लक्ष्मणगढ़, सीकर, राजस्थान

मरुधर मृदुल : जन्म 7 मई 1930, जोधपुर। *शब्दों का घूँघट* प्रकाशित कृति। सोवियत भूमि नेहरू पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : 71, नेहरू पार्क कॉलोनी, जोधपुर (राज.)

अजीत चौधरी : संपर्क : एफ़-93/54, तुलसी नगर, भोपाल (म.प्र.)

कृष्णा सोबती : हिन्दी की विख्यात लेखिका। *मित्रो मरजानी, डार से बिछुड़ी, सूरजमुखी अँधेरे के, यारों के यार तीन पहाड़, हम हशमत* और *ए लड़की* सुप्रसिद्ध प्रकाशित कृतियाँ हैं। महत्त्वपूर्ण उपन्यास *ज़िन्दगीनामा* पर साहित्य अकादेमी पुरस्कार से सम्मानित। संपर्क : बी-503, 'पूर्वाशा', आनंदलोक हाउसिंग सोसायटी, मयूर विहार फ़ेज़-1, दिल्ली 110091

रणवीर रांग्रा : जन्म 18 अप्रैल 1924, ग्राम हरियाना, ज़िला होशियारपुर, पंजाब। *अछूते संदर्भ, हिन्दी उपन्यास में चरित्र-चित्रण का विकास, साहित्य : साधना और संघर्ष, समकालीन हिन्दी उपन्यास की भूमिका* (आलोचना); भारतीय साहित्यकारों से साक्षात्कार (अंग्रेज़ी में भी), साहित्यिक साक्षात्कार, हिन्दी साहित्यकारों से साक्षात्कार प्रकाशित। संपर्क : सी-7/180, नवीन निकेतन, सफ़दरजंग डेवलपमेंट एरिया, नई दिल्ली 110016

ललित कार्तिकेय : जन्म 3 अप्रैल 1958। *तलछट का कोरस* (कहानी-संकलन) शीघ्र प्रकाश्य। हिन्दी कहानी में योगदान के लिए 'हंस' व बीर राजा स्मृति सम्मान। संपर्क : 158, सारन, एन.आई.टी., फ़रीदाबाद (हरियाणा)

जयदेव तनेजा : जन्म 15 मार्च 1943। *समसामयिक हिन्दी नाटकों में चरित्र सृष्टि, लहरों के राजहंस : विविध आयाम, हिन्दी नाटक और रंगमंच, आज के हिन्दी नाटक : परिवेश और परिदृश्य* तथा *अंधायुग और भारती के अन्य नाट्य प्रयोग* आदि समीक्षा-पुस्तकें प्रकाशित। संपर्क : 165, नेहरू अपार्टमेंट्स, आउटर रिंग रोड, नई दिल्ली 110019

मोहन थपलियाल : हिन्दी के कहानीकार और पत्रकार। *सोलोमन मुंडे और अन्य कहानियाँ* प्रकाशित। जर्मन से ब्रटोल्ट ब्रेष्ट की कविताओं और लघु कथाओं के हिन्दी अनुवाद। संपर्क : एच-2/641, जानकीपुरम्, कुर्सी रोड,
पो. निराला नगर, लखनऊ 226001

धर्मपाल अकेला : जन्म 1937। कहानी, कविता, यात्रा-संस्मरण तथा नाटक प्रकाशित। *देखो यह पुरुष* (नाटक) उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान से पुरस्कृत। संपर्क : प्रेमपुरा, हापुड़ 245101

डॉ. माहेश्वर : जन्म 15 जून, 1930, इटार, गोरखपुर, उ.प्र.। *डॉ. माहेश्वर की कहानियाँ, स्पर्श, मास्टर सेवाराम का सपना* (कहानी-संग्रह); *तलघर* (उपन्यास); *हिन्दी बंगला नाटक* तथा बाङ्ला से हिन्दी में 18 पुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित। संपर्क : बी-206, सादतपुर, दिल्ली 110094

गोविन्द सिंह : जन्म 28 जून 1959, पिथौरागढ़ के एक गाँव में (उ.प्र.)। नाट्य समीक्षा, सांस्कृतिक विषयों पर लेख प्रकाशित। संपर्क : जे. एंड के., 128-डी, दिलशाद गार्डन, दिल्ली 110095

विष्णुचंद्र शर्मा : जन्म 1 अप्रैल 1933, वाराणसी, उ.प्र.। मुक्तिबोध और काज़ी नज़रुल इस्लाम की जीवनियों के अतिरिक्त कविता-संग्रह *मौन सिंदूर शांत जल, आकाश विभाजित है, अंतरंग;* उपन्यास *ताल-मेल* और *मुद्राराक्षस* आदि प्रकाशित। संपर्क : ई-11, सादतपुर, दिल्ली 110094

गिरिराज किशोर : जन्म 8 जुलाई 1937, मुज़फ़्फ़रनगर, उ.प्र.। हिन्दी के सुपरिचित कथाकार, नाटककार एवं आलोचक। *गाना बड़े गुलाम अली ख़ाँ का, वल्द रोज़ी, यह देह किसकी है* (कहानी-संग्रह); *लोग, चिड़ियाघर, यात्राएँ, जुगलबंदी, देवदार, परिशिष्ट, असला* (उपन्यास); *नरमेध, प्रजा ही रहने दो, जुर्म आयद* (नाटक) चर्चित प्रकाशित कृतियाँ। मध्य प्रदेश साहित्य परिषद, भारतेन्दु सम्मान तथा साहित्य अकादेमी पुरस्कारों से सम्मानित। संपर्क : 507, आई.आई.टी. कैम्पस, कानपुर 208016

प्रियदर्शन : जन्म 24 जून 1968, राँची। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कहानियाँ, कविताएँ और समीक्षाएँ प्रकाशित। संपर्क : ई-145-ए, पाँचवीं गली, पांडव नगर, पटपड़गंज, दिल्ली 110091

मिथिलेश श्रीवास्तव : जन्म 25 जनवरी 1958, गोपालगंज (बिहार)। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कविताएँ प्रकाशित। कला और साहित्य पर निरंतर लेखन। संपर्क : 80/5, सेक्टर-1, पुष्प विहार, साकेत, नई दिल्ली 110017

संजीव आनंद : जन्म 1968, सीतामढ़ी (बिहार)। हिन्दी के कवि, समीक्षक एवं पत्रकार। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख, कविताएँ तथा समीक्षाएँ प्रकाशित। संपर्क : बी-80, सेक्टर-19, नोएडा 201301

गोपी गजवानी : सुप्रसिद्ध चित्रकार। संपर्क : अमेरिकन सेंटर, कस्तूरबा गाँधी मार्ग, नई दिल्ली 110001

प्रो. इंद्रनाथ चौधुरी, सचिव, द्वारा साहित्य अकादेमी के लिए प्रकाशित तथा नवचेतन प्रिंटर्स, 1-ई/2 झण्डेवालान एक्सटेंशन नई दिल्ली-110055 में मुद्रित/संपादक : **गिरधर राठी**

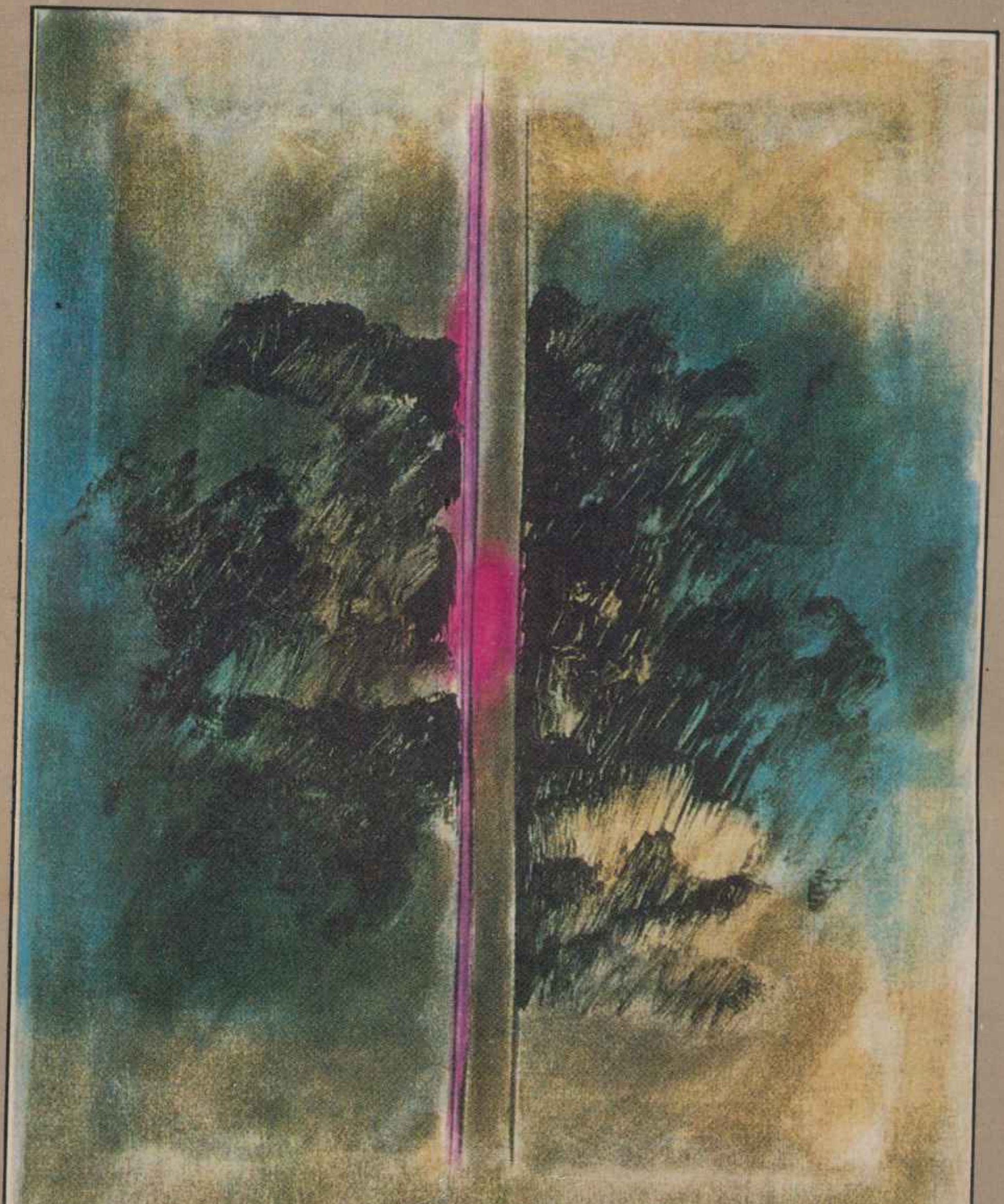

SAMAKĀLĪN BHĀRATĪYA SĀHITYA ISSN 0970-8367/Regd No F2/S/523/80